रत्नत्रय धवलांश धवल

परम पूज्या गणिनी आर्यिका 105 श्री विशुद्धमती माताजी

निर्देशन : पू. आर्यिका 105 श्री विनीतमतीजी माताजी

प्रकाशन सहयोगी : श्रीमती कान्तिदेवी, धर्मपत्नी स्व. श्री रमेशचंद्रजी जैन (घी वाले), शिकोहाबाद (उ.प्र.)

ग्रन्थ लेखन में सहयोगी : पू. आर्यिका 105 श्री विजयमती माताजी
पू. आर्यिका 105 श्री विशिष्टमती माताजी
बा.ब्र. बहन आभाजी
बा.ब्र. बहन अल्पनाजी
बा.ब्र. बहन प्रतिभाजी
बा. ब्र. बहन रजनीजी

प्रधान संपादक : बाल ब्र. आभा बहन संद्यस्थ

प्रबंध संपादक : पं. सुरेन्द्र कुमार जैन
प्रतिष्ठाचार्य, सेठों की गली, सलूम्बर, जिला उदयपुर (राज.)-313027
फोन : 02906-230261 (निवास)
02906-231114, 230949, 230500 (कार्यालय)

जैनाचार्य 108 श्री निर्मलसागर जी महाराज का आशीर्वाद

आज की वर्तमान युवा पीढ़ी, जो धर्म से निरन्तर विमुखता की ओर है, उसका यदि कोई सही कारण पूछा जाये या देखा जाये तो ये है कि आज सम्यक् पथ दिग्दर्शक के प्रति आदर-सम्मान की भारी कमी है।

प्राचीन आचार्यों का कथन है कि विनय, आदर, सम्मान के बिना कभी योग्यता का, विद्या का और विद्या, ज्ञान के बिना मोक्ष का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता है।

लेकिन लोकोपकार की दृष्टि से अध्ययनशीला ग.आ. श्री विशुद्धमती माताजी ने अपनी कलम से जो विराट् महासमुद्र से मंथन कर चुनिंदा अंशों को एक धवल ग्रन्थ का लघु ग्रन्थ 'रत्नत्रय धवलांश धवल' प्रस्तुत किया, वास्तव में प्रशंसनीय एवं महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

ये संगृहीत शब्द संचयन भव्य संक्षिप्त अवधारणावालों के लिए परमोपयोगी सिद्ध होगा।

हृदयंगत उत्कण्ठा से निर्गत ये आशीष पू.ग.आ. 105 श्री विशुद्धमती माताजी को अनन्त असीम लक्ष्य की प्राप्ति करायें।

समाधिरस्तु शुभाशीर्वाद!

आ. निर्मलसागर
गिरिनार, जूनागढ़ तलहटी, सौराष्ट्र

आद्याक्षर

गणिनी आ. 105 श्री विशुद्धमती माताजी की सशक्त तूलिका से निर्गत आगम शब्दायन वास्तव में अज्ञजनों के लिए प्रशस्त पाथेय रूप है। आगम के सूक्ष्मतम गहन अध्ययन की अभिरुचि संसार के प्रत्येक भव्यात्मा को प्रखर बनाने हेतु 'षटखण्डागम' महान् ग्रन्थों के उत्तरायण स्वरूप 'धवल' ग्रन्थ के सरल एवं सूक्ष्म अंशों को संचयन कर एक निज लेखनी को छोटे ग्रन्थ रूप लिपिबद्ध किया है।

वह महान् ग्रन्थ, जो समूचे विशाल जिन धर्म का सार है, ठीक उसी प्रकार है जैसे कि विशाल कल्लोलित क्षीर समुद्र में से भरे हुए एक हजार आठ कलश भी क्षीर जल रूप ही हुआ करते हैं उसी प्रकार यथानाम तथागुण से व्याप्त है धवल ग्रन्थ।

जिसका अध्ययन, मनन, चिंतन सब कुछ धवल रूप ही है यानी स्वच्छ है, श्वेत है, शांत है, विश्रांत है, तो उसी ग्रन्थराज को जो उदधि की महान् अवगाहना से कहीं अधिक सामर्थ्यवान् है उसी का एक लघु रूप प्रस्तुत किया है—गणिनी आ. 105 श्री विशुद्धमती माताजी ने।

इस नवजात ग्रन्थ का नामकरण हुआ 'रत्नत्रय धवलांश धवल'।

ये 'रत्नत्रय धवलांश धवल' ग्रन्थ जिज्ञासु पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा और उनके लिए परम उपयोगी जो स्वाध्याय की रुचि तो रखते हैं लेकिन समयाभाव के कारण विशाल ग्रन्थों का पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं कर पाते हैं, अत: उन पाठकों के लिए धवल ग्रन्थ के अंश रूप परिभाषाओं को संचयन कर एक लघु ग्रन्थ प्रस्तुत किया है 'रत्नत्रय धवलांश धवल'।

आशा है, ये संगृहीत ग्रन्थ आप सभी के लिए पठनीय, मननीय एवं अनुकरणीय सिद्ध होगा।

इत्यलम्।

आ. विनीतमती जी

कृतज्ञताञ्जलि

ठीक कहा है—'Simple living and high thinking is the principle of our life.'

श्रेष्ठ व्यक्तित्व के आयाम हेतु उक्त वाक्यांश का होना मनुष्य जीवन में अत्यंत आवश्यक है।

आगम के पृष्ठों पर जिनेन्द्र प्रभु की दिव्यदेशना में मनुष्य जीवन की दो पराकाष्ठा का उल्लेख किया गया है, जिसमें एक है गृहस्थ धर्म एवं दूसरा है यति धर्म (साधु धर्म)। इसमें श्रावक धर्म परम्परा से मोक्ष का कारण है। जब-जब कि ये श्रावक अपने आवश्यक कर्तव्यों का निर्वाह पूर्ण रूपेण सावधान होकर करता है। दूसरा यति धर्म साक्षात् मुक्ति का कारण है। संत की साधना, आराधना विश्व के अन्दर सर्वश्रेष्ठ है। वह स्वयं तपकर हम श्रावकों को परमात्मा महावीर के उच्चतम पथ पर स्वयं आचरित हो दिग्दर्शन कराते हैं। वास्तव में दिगम्बर जैन आचार्यों, उपाध्यायों, मुनियों एवं आर्यिका माताओं का आज वर्तमान परिप्रेक्ष्य में युवा पीढ़ी को नया आयाम हेतु जो उपदेश है, जो कथनीय शैली है उसी के कारण भारत की गौरवमयी संस्कृति जीवन्त है। उसी विशाल समुदाय, विशाल व्यक्तित्वों में एक ऐसा व्यक्तित्व साधिका के रूप में उभरता है, जिसकी विश्व में अपनी अलग पहचान है और वे हैं गणिनी आर्यिका 105 श्री विशुद्धमती माताजी, जिनकी अक्षुण्ण स्वाध्याय शैली कितनी जीवन्त एवं चरमोत्कर्ष है, ये उनकी स्वाध्याय अनुरंजित प्रवृत्ति से ज्ञात होता है।

ज्ञान तारतम्यता की परिधि में जैन संस्कृति में स्तम्भ रूप जो षटखण्डागम के अन्तर्गत 'धवल ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन ने भावुक, भ्रमित पीढ़ी के लिए अपनी कलम से नि:सृत शब्दावलि को 'रत्नत्रय धवलांश धवल' के रूप प्रतिष्ठापित कर दिया, जो महोपकारी अद्भुत कार्य है।

ये संकलित 'रत्नत्रय धवलांश धवल' संक्षेप से अध्ययन की रुचि रखनेवाले पाठकों के लिए सर्वोत्तम पाथेय है।

अत: चरणों की रज को ग्रहण कर पूज्या माताजी के चरणों में सविनय त्रिकाल वंदामि करती हुई उनकी दीर्घायु एवं आरोग्यता की मंगल कामना करती हूँ।

इत्यलयम्।

पुनश्च :

साथ ही जिन्होंने अपनी चंचला लक्ष्मी का उपयोग माँ जिनवाणी के प्रसार हेतु किया, अत: उनका भी आभार व्यक्त कर उनकी आरोग्यता की कामना करती हूँ।

प्रधान सम्पादक महोदय, जिन्होंने गुरुत्व आज्ञा को स्वीकार किया एवं पूर्ण निष्ठा से निर्वहण किया।

अत: समस्त सहयोगी महानुभावों का मैं सादर आभार ज्ञापित करती हूँ।

धन्यवाद

बा.ब्र. आभा जैन

सम्पादकीय

आज के अर्थप्रधान युग में व्यक्ति धर्म को पृथक् पद्धति से अंगीकार करना चाहता है। प्रत्येक तथ्य को अन्वेषण के उपरान्त ही स्वीकारोक्ति मिल सकती है। इसी क्रम में जैनागम के मूलभूत सर्वांगीण सिद्धांतों को अपने में समेटे हुए ग्रन्थराज धवल है। आचार्यों ने इस ग्रन्थ में धार्मिक सिद्धांतों को श्रेष्ठतम पद्धति से उजागर किया है। ग्रन्थराज धवल साधुओं व श्रावकों दोनों के लिए ही समदृष्टि से उपयोगी है।

निरन्तर स्वाध्याय में रत रहनेवाली परम पूज्या गणिनी आर्यिका 105 श्री विशुद्धमती माताजी ने अपनी लेखनी, वाणी एवं चर्या के माध्यम से स्वकल्याण के साथ-साथ उत्सुक धर्म-पिपासुओं का कल्याण भी किया है। उसी श्रृंखला में प्रस्तुत 'रत्नत्रय धवलांश धवल' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पाठकों की सेवा में है।

पूर्वाचार्य जिन्होंने हमें धर्म ग्रन्थ एवं धर्माचरण के माध्यम से निधि प्रदान की है, उनके प्रति विनयावनत होते हुए लेखन एवं अध्ययन की व्यसनी परम पूज्या गणिनी आर्यिका 105 श्री विशुद्धमती माताजी के चरणों में कोटिश: नमन करते हुए भावना है कि माताजी—

तुम जियो हजारों साल, साल के दिन हों दस हजार।

ग्रन्थराज धवल की पुस्तक प्रथम से सोलह तक के महत्त्वपूर्ण अंशों का संकलन प्रस्तुत ग्रन्थ 'रत्नत्रय धवलांश धवल' में परम पूज्या गणिनी विदुषी आर्यिका रत्न 105 विशुद्धमती माताजी ने किया है। प्रथमत: पूज्या माताजी के दीक्षा गुरु आचार्य 108 श्री निर्मलसागरजी महाराज के चरणों में नमन है, जिन्होंने दीक्षा संस्कार द्वारा ऐसी विभूति समाज को प्रदान की है।

संकलन में संद्यस्था सभी आर्यिका माताजी का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है। विशेष रूप से आर्यिका 105 श्री विनीतमती माताजी, जिन्होंने अथक प्रयासों से ग्रन्थ को साकार रूप दिलाया है, के चरणों में विनयावनत हूँ।

संद्यस्था सभी ब्र. बहनों, विशेष रूप से बहुमुखी प्रतिभा की धनी, परिश्रमी, कुशल आयोजक, सम्पादक ब्र. बहन आभाजी, जिन्होंने अपने निरन्तर परिश्रम एवं नियोजन द्वारा ग्रन्थ की आभा को निखारा है। सभी के प्रति वन्दना एवं उज्ज्वल भविष्य की कामना।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन का दायित्व मेरे कन्धों पर सौंपा गया, जिसे मैंने पूरा करने का प्रयास किया है। इसमें मेरी धर्मपत्नी श्रीमती मंजुला देवी की प्रेरणा एवं सहयोग भी प्राप्त हुआ है। उनके प्रति भी साधुवाद है।

अंत में ग्रन्थ के सम्पादन में रही त्रुटियों के बारे में विज्ञजनों से मार्गदर्शन अपेक्षित है।

—पं. सुरेन्द्र कुमार जैन

अनुक्रमणिका

1.	धवल पुस्तक एक	1-11
2.	धवल पुस्तक दो	12-20
3.	धवल पुस्तक तीन	21-23
4.	धवल पुस्तक चार	24-34
5.	धवल पुस्तक पाँच	35-40
6.	धवल पुस्तक छह	41-59
7.	धवल पुस्तक सात	60-73
8.	धवल पुस्तक आठ	74-79
9.	धवल पुस्तक नौ	80-98
10.	धवल पुस्तक दस	99-113
11.	धवल पुस्तक ग्यारह	114-122
12.	धवल पुस्तक बारह	123-152
13.	धवल पुस्तक तेरह	153-171
14.	धवल पुस्तक चौदह	172-243
15.	धवल पुस्तक पंद्रह	244-256
16.	धवल पुस्तक सोलह	257-268

परम पूज्य विश्व वंदनीय गिरनार गौरव तपोनिधि वात्सल्य मूर्ति

'श्री 108 आचार्य श्री निर्मलसागरजी महाराज'

के

करकमलों में

सादर समर्पित

समर्पणम्

तपो साधनाभिः परम पावनानि जीवनानि

येषां रत्नत्रय निधीनां प्रभुः भव वारिधि

नौकेव तरणीव दिव्यात्मा पतितान्

पूतकारी गरिमा श्रीधारी प्रति

जनार्चितं गुणगणैः अलङ्कृतं

ज्ञान रश्मिभिः युतैः

दीनानां दुःखहर्ता करुणा सिन्धो!

आचार्य प्रवर मम गुरुदेव

कर कमलेषु

भक्ति विनयेनार्पितं धवलांश धवल

* पावन प्रसूनानि *

धवल पुस्तक 1.

मंगलाचरण

सर्वज्ञ सर्व वागीशं, पार्श्व मार मदापहम् ।
प्रणमामि महामोहं, शान्तये मुक्ताप्तये ॥

सारं यत्सर्व सारेषु, वन्द्य यद्वन्दितेष्वपि ।
अनेकान्त मयं वन्दे, तदर्हद्वचनं सदा ॥

सदा वदात महिमा, सदा ध्यान परायणः ।
धरसेन सूरिर्जीया-द्भट्टारक पदेश्वरः ॥

पुष्पदन्त भूतबलि स्वामी, अहर्निशं मानसेऽनघः ।
तिष्ठताज्जिन राजोद्य, शासनाम्बुधि चन्द्रमा ॥

श्री शान्ति सूर्यगुरुवर्य, नमोऽस्तु तुभ्यं ।
संसार तारक गणीश, नमोऽस्तु तुभ्यं ॥

ध्यान प्रदीप विमल सूरि, नमोस्तु तुभ्यं ।
सूरि सु निर्मल मुनीन्द्र, नमोऽस्तु तुभ्यं ॥

आदि मंगल क्यों ? सरलतापूर्वक प्रारम्भ किये गये ग्रन्थ अध्ययनादि में पारंगत होने हेतु आदि मंगल करना चाहिये ।

मध्य मंगल क्यों ? प्रारम्भ किये गये कार्य की **व्युच्छिति** न हो इसलिये मध्य मंगल किया जाता है।

अन्त मंगल क्यों ? विद्या तथा विद्या के फल की प्राप्ति हेतु अन्त में मंगल करना चाहिये ।

निबद्ध मंगल-ग्रन्थकार जो मंगल पाठ स्वयं रचकर ग्रन्थ में निबद्ध करता है वह निबद्ध मंगल है ।

अनिबद्ध मंगल - जो अन्य रचित मंगल पाठ लिखा या बोला जाता है वह अनिबद्ध मंगल है।

शंका - सूत्र स्वयं मंगल रूप है तब अलग से मंगल क्यों करना चाहिये ?

समाधान - सूत्र और मंगल दोनों के फल की भिन्नता होने से मंगल आदेश दिया है ।

(1) मंगल (निबद्ध मंगल और अनिबद्ध मंगल) ग्रन्थ लेखन-अध्ययनादि में आने वाले विघ्नों को दूर करता है।

(2) सूत्रफल - प्रति समय असंख्यात गुण श्रेणी रूप से पापों का नाश करके उसके सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का कारण होता है ।

1. **पूर्वानुपूर्वी** - जो वस्तु का विवेचन मूल से परिपाटी द्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं । जैसे आदिनाथ से महावीर तक ।

2. **पश्चादानपूर्वी** - जो वस्तु का विवेचन अन्त से आदि तक (प्रतिलोम पद्धति से) किया जाता है वह पश्चादानुपूर्वी कहलाता है । जैसे महावीर से ऋषभ तक ।

3. **यथा तथानुपूर्वी** - जो वस्तु का कथन अनुलोम व प्रतिलोम क्रम के बिना जहाँ कहीं से भी किया जाता है उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं । जैसे - नेमिनाथ-शांतिनाथ आदि ।

आक्षेपणी - तत्वों का निरूपण करने वाली कथा ।

विक्षेपणी - तत्त्व से दिशान्तर को प्राप्त हुई दृष्टियों का शोधन करने वाली अर्थात् परमत की एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना करने वाली कथा ।

संवेगिनी - विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली कथा ।

निर्वेदनी - वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा ।

दृष्टिवाद अंग का प्रथमानुयोग

जिनेन्द्र देव ने जगत में 12 प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है - (1) जिन वंश-तीर्थंकरों का, (2) राजवंश-शेष वंशों का अर्थात् चक्रवर्तियों का, (3) विद्याधरों का, (4) नारायण प्रतिनारायणों का (5) चारणों का, (6) प्रज्ञाश्रमणों का, (7) कुरुवंश, (8) हरिवंश, (9) इक्ष्वाकु वंश, (10) काश्यप वंश, (11) वादियों का वंश, (12) नाथ वंश । ये समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं ।

भाषा के 12 भेद *(ध. पु. 1, पृ. 117)*

1. **अभ्याख्यान भाषा** - यह इसका कर्ता है, इस तरह अनिष्ट कथन करने को अभ्याख्यान भाषा कहते हैं ।

2. **कलह वचन** - परस्पर विरोध बढ़ाने वाले वचन को कलह वचन कहते हैं ।

3. **पैशून्य वचन** - पीछे से दोष प्रगट करने को पैशून्य वचन कहते हैं ।

4. **अबद्ध प्रलाप वचन** - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध से रहित वचनों को अबद्ध प्रलाप वचन कहते हैं ।

5. **रति वचन**-इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में राग उत्पन्न करने वाले वचनों को रति वचन कहते हैं ।

6. **अरति वचन** - इन्द्रियों के शब्दादिविषयों में अरति को उत्पन्न करने वाले वचनों को अरति वचन कहते हैं ।

7. **उपधि वचन** - जिस वचन को सुनकर परिग्रह के अर्जन व रक्षण में आसक्ति होती है उसे उपधि वचन कहते हैं ।

8. **निकृति वचन** - जिस वचन को अवधारण जीव वाणिज्य में ठगने रूप प्रवृत्ति करने में समर्थ होता है उसे निकृति वचन कहते हैं ।

9. **अप्रणति वचन** - जिस वचन को सुनकर तप और ज्ञान से अधिक गुण वाले पुरुषों में भी जीव नम्रीभूत नहीं होता है उसे अप्रणति वचन कहते हैं ।

10. **मोष वचन** - जिस वचन को सुनकर चौर्य कर्म में प्रवृत्ति होती है उसे मोष वचन कहते हैं।

11. **सम्यग्दर्शन वचन** - समीचीन मार्ग का उपदेश देने वाले वचन को सम्यग्दर्शन वचन कहते हैं।

12. **मिथ्यादर्शन वचन** - मिथ्या मार्ग का उपदेश देने वाले वचन को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं।

वक्ता-जिनमें वक्तृ पर्याय प्रगट हो गई है ऐसे द्विइन्द्रिय से आदि लेकर सभी जीव वक्ता है।

चैतन्य - त्रिकाल विषयक अनन्त पर्याय रूप जीव के स्वरूप का अपने क्षयोपशम के अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते हैं । *(ध.पु. 1, पृ 146)*

दर्शन - अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन कहते हैं ।

ज्ञान - बहिर्मुख प्रकाश को ज्ञान कहते हैं ।

आलोकन वृत्ति - जो आलोकन करता है वह आत्मा और वर्तन (व्यापार) को वृत्ति कहते हैं अर्थात् आत्मा की वृत्ति को आलोकन वृत्ति कहते हैं इसी का नाम स्वसंवेदन हैं ।

सम्यक्त्व - तत्त्व रूचि को सम्यक्त्व कहते हैं ।

प्र. 1. सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र क्यों कहा ? *(ध.पु. 1, पृ. 166)*

उत्तर - सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र कहने से अनन्तानुबंधी प्रकृतियों की द्विस्वभावत: सिद्ध हो जाती है । यह द्विस्वभावत: दो प्रकार से कही गई है -

(1) अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों की प्रतिबन्धक हैं ।

(2) अनन्तानुबंधी जिस प्रकार सम्यक्त्व के विघात में मिथ्यात्व प्रकृति का कार्य करती है, उस प्रकार वह मिथ्यात्व के उत्पाद में मिथ्यात्व प्रकृति का काम नहीं करती है । इस प्रकार द्विस्वभावत: सिद्ध करने का सासादन गुणस्थान स्वतंत्र है ।

प्र. 2. दूसरे गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादन सम्यदृष्टि क्यों कहा ?

उत्तर - दर्शन मोहनीय के उदय-उपशम-क्षय और क्षयोपशम से जीवों के सासादन रूप परिणाम तो उत्पन्न नहीं होता है जिससे कि सासादन गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्या दृष्टि कहा जाता, तथा जिस अनन्तानुबंधी के उदय से दूसरे गुणस्थान में विपरीताभिनिवेश होता है वह अनन्तानुबंधी दर्शन मोहनीय का भेद न होकर चारित्र का आवरण करने वाला होने से चारित्र मोहनीय का भेद है । इसलिये दूसरे गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादन सम्यग्दृष्टि कहा है ।

प्र. 3. सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्राय से दूषित है इसलिये उसके सम्यक्दृष्टिपना नहीं बन सकती ?

उत्तर - भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा उसे सम्यग्दृष्टि कहा गया है क्योंकि वह पहले सम्यग्दृष्टि था, इसलिये सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है ।

प्र. 4. एक जीव में एक साथ सम्यक् और मिथ्या रूप दृष्टि सम्भव नहीं, क्योंकि दोनों दृष्टियों का एक साथ रहने में विरोध आता है। और यदि ये दृष्टि क्रम से पाई जाती है तो स्वतन्त्र रूप से दोनों गुणस्थान पाये जाते हैं। इसलिये यहाँ तीसरा गुणस्थान सम्यग्मिथ्या दृष्टि का नहीं बनता ?

उत्तर - युगपत समीचीन और असमीचीन श्रद्धा वाला जीव सम्यग मिथ्यादृष्टि ऐसा मानते हैं इससे कोई विरोध नहीं है क्योंकि वस्तु (आत्मा) अनेक धर्मात्मक है ।

विशेष - सम्पूर्ण धर्म एक आत्मा में रहते हैं ऐसा अर्थ अनेकान्त का नहीं समझना चाहिये । किन्तु - अनेकान्त का यह अर्थ है कि जिन धर्मों का जिस आत्मा में अत्यन्त अभाव नहीं है । वे धर्म उस आत्मा किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत भी पाये जा सकते हैं । जैसे- पूर्व स्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ अरिहन्त भी देव है ऐसा अभिप्राय वाला पुरुष पाया जाता है । *(ध.पु. 1 पृ. 168)*

प्र. 5. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सम्यग्मिथ्यात्व गुण स्थान को प्राप्त होने वाले जीव के क्षयोपशमिक भाव कैसे ?

उत्तर - वर्तमान समय में मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से, सत्ता में रहने वाले उसी मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है इसलिये वह क्षायोपशमिक है ।

प्र. 6. तीसरे गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने से वहाँ औदायिक भाव क्यों नहीं कहा ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है उस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं पाया जाता इसलिये तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव न कहकर क्षयोपशम भाव कहा है ।

प्र. 7. सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय विनाश तो करता नहीं है फिर उसे सर्वघाति क्यों कहा ?

उत्तर - वह सम्यग्दर्शन की पूर्णता का प्रतिबन्ध करता है । इस अपेक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाती कहा है ।

उपशम सम्यग्दृष्टि

विशेष - उपशम सम्यग्दृष्टि जीव परिणामों के निमित्त से उपशम सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को कहा जाता है, सासादन को भी प्राप्त करता है सम्यग्मिथ्यात्व को भी प्राप्त होता है और वेदक सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर लेता है ।

वेदक सम्यग्दृष्टि

विशेष - वेदक सम्यग्दृष्टि शिथिल श्रद्धानी होता है जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ की लकड़ी सकंप रहती है उसी प्रकार वह भी तत्वार्थ के विषय में शिथिल श्रद्धानी होता है । अतः कुहेतु और कुदृष्टान्त से उसे सम्यक्त्व की विराधना करने में देर नहीं लगती । *(पृ. 172)*

प्रमत्त सम्यग्दृष्टि

वह संयम वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि संयम में प्रमाद से केवल मल की ही उत्पत्ति होती है ।

अपूर्व करण

प्र. 8. आठवें गुणस्थान में न तो कर्मों का क्षय ही होता है और न उपशम ही फिर इस गुणस्थान वर्ती जीवों को क्षपक व उपशमक कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि भावी अर्थ में भूतकालीन अर्थ के समान उपचार कर लेने से आठवें गुणस्थान में क्षपक और उपशमक व्यवहार की सिद्धि हो जाती है ।

प्र. 9. उक्त गुणस्थान में 5 भावों में से कौनसा भाव पाया जाता है ?

उत्तर - क्षपक के क्षायक एवं उपशमक के औपशमिक भाव आठवें गुणस्थान में पाया जाता है । *(पृ. 185)*

प्र. 10. इस गुणस्थान में न तो कर्मों का क्षय ही होता है और न उपशम ही, फिर क्षामक और उपशम भावों का सद्भाव कैसे ?

उत्तर - इस गुणस्थान में क्षामक व उपशम भावों का सद्भाव उपचार से माना गया है ।

प्र.11. क्षपक के व उपशम के स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग गुणस्थान क्यों नहीं कहे हैं ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि इस गुणस्थान के कारणभूत अनिवृत्ति रूप परिणामों की समानता दिखाने के लिये उन दोनों में एकता कही है । अर्थात् क्षपक और उपशमक इन दोनों में अनिवृत्ति रूप परिणामों की अपेक्षा समानता है । *(पृ. 187)*

अरिहंत भगवान के 60 प्रकृतियों का अभाव एवं 3 आयु की सत्ता ही न होने से 63 प्रकृतियों का क्षय कहा गया है । *(ध.पु. 1 पृ. 192)* आयु के नाश का प्रयत्न नहीं करना पड़ता ।

अनुवाद - आचार्य परम्परा से आये हुए प्रसिद्ध अर्थ का तदनुसार कथन करना अनुवाद है ।

नरक विशेष

1. नरकायु के बन्ध बिना मिथ्यादर्शन-अविरति और कषाय की नरक में उत्पन्न कराने की सामर्थ्य नहीं है और पहले बंधी हुई आयु का पीछे से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन से निरन्वय नाश भी नहीं होता, क्योंकि ऐसा मान लेने पर आर्ष से विरोध आता है ।

2. तथा जिन्होंने नरकायु का बन्ध कर लिया है ऐसे जीव जिस प्रकार संयम को प्राप्त नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व को भी प्राप्त नहीं होते यह बात भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर भी सूत्र से विरोध आता है । *(ध.पु. 1 पृ. 206)*

3. जिस प्रकार नरक गति में अपर्याप्त अवस्था के साथ सासादन गुण स्थान का विरोध है उस प्रकार पर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान का नरक गति के साथ विरोध नहीं है । अर्थात् नारकियों के पर्याप्त अवस्था में दूसरा गुणस्थान उत्पन्न हो सकता है । यदि कहो कि नरक गति में अपर्याप्त अवस्था के साथ दूसरे गुणस्थान का विरोध क्यों है ? तो इसका उत्तर यह है कि यह नारकियों का स्वभाव है और स्वभाव दूसरे के प्रश्न के योग्य नहीं होते हैं ।

4. जिस तरह नारकियों के अपर्याप्त काल के साथ सासादन गुणस्थान का विरोध, है उस प्रकार शेष गतियों के अपर्याप्त काल के साथ सासादन गुणस्थान का विरोध नहीं है ।

5. सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान का तो सदा ही सभी गतियों के अपर्याप्त काल के साथ विरोध ।

प्र. 12. तो फिर सासादन और मिश्र इन दोनों गुणस्थानों का नरक गति में सत्त्व कैसे सम्भव है?

उत्तर - नहीं क्योंकि परिणामों के निमित्त से नरक गति की पर्याप्त अवस्था में उनकी उत्पत्ति बन जाती है । सातों पृथ्वियों की पर्याप्त अवस्था में सम्यग्दृष्टियों का सद्भाव माना गया है ।

शंका - जिस प्रकार सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टियों की मरकर नरक में उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान - नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं इसका आगम में निषेध नहीं है।

शंका - जिस प्रकार प्रथम पृथ्वी में सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार द्वितीयादि पृथ्वियों में सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान - नहीं, क्योंकि द्वितीयादि पृथ्वियों के अपर्याप्त काल के साथ सम्यग्दर्शन का विरोध है इसलिये सम्यग्दृष्टि मरकर द्वितीयादि पृथ्वियों में उत्पन्न नहीं होते हैं ।

विशेष - चार गुणस्थानों के अतिरिक्त (1 से 4 तक) ऊपर के गुणस्थानों का नरक में सद्भाव नहीं है । क्योंकि संयमासंयम और संयम पर्याय के साथ नरक गति में रहने का विरोध है । *(ध.पु. 1 पृ. 208)*

तिर्यंच गति विशेष

जिस प्रकार बद्धायुष्क असंयत सम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थान वालों का तिर्यंच गति के अपर्याप्त काल में सद्भाव सम्भव है उस प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतों का तिर्यंच गति के अपर्याप्त काल में सद्भाव सम्भव नहीं है क्योंकि तिर्यंच गति में अपर्याप्त काल के साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत का विरोध है ।

शंका - सामान्यादि पाँच प्रकार के तिर्यंचों में से 5 गुणस्थान किन-किन तिर्यंचों में पाये जाते हैं?

समाधान - लब्ध्यपर्याप्तों में मात्र प्रथम गुणस्थान होता है और शेष चार भेदों वालें पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में पाँचों गुणस्थान पाये जाते हैं ।

5 प्रकार के तिर्यंच - 1. सामान्य तिर्यंच, 2. पंचेन्द्रिय तिर्यंच, 3. पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंच, 4. पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंचनी और 5. पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक तिर्यंच *(ध.पु. 1 पृ. 209)*

विशेष - तिर्यंचनियों के अपर्याप्तकाल में मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थान वाले ही होते हैं शेष तीन गुणस्थान वाले नहीं होते हैं क्योंकि तिर्यंचनियों के अपर्याप्त काल में शेष तीन गुणस्थानों का निरूपण करने वाले आगम का अभाव है ।

शंका - तिर्यंचनियों के अपर्याप्त काल में असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों का अभाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, तिर्यंचनियों में असंयत सम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये उनके अपर्याप्त काल में चतुर्थ गुणस्थान नहीं पाया जाता है यह आर्ष वचन है । *(ध.पु. 1 पृ. 210)*

उपशमन विधि

अनन्तानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों का असंयत सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्त संयत गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानों में रहने वाला कोई भी जीव उपशम करने वाला होता है अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृति रूप से रहना अनन्तानुबंधी का उपशम है । दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का उदय में नहीं आना ही उपशम है क्योंकि उपशान्त हुई उन तीन प्रकृतियों का उत्कर्षण, अपकर्षण और पर प्रकृति रूप से संक्रमण पाया जाता है ।

अपूर्वकरण गुणस्थान

अपूर्ण करण गुणस्थान में एक भी कर्म का उपशम नहीं होता है किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान वाला जीव प्रत्येक समय में अनन्त गुणी विशुद्धि से बढ़ता हुआ 1-1 अन्तर्मुहूर्त में एक-एक स्थिति खण्ड का घात करता हुआ संख्यात हजार स्थिति खण्डों का घात करता है और उतने ही स्थिति बंधापसरणों को करता है तथा 1-1 स्थिति खण्ड के काल में संख्यात हजार अनुभाग खण्डों का घात करता है और प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से प्रदेशों की निर्जरा करता है तथा जिन अप्रशस्त प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है उनके प्रदेशों को उस समय बंधने वाली अन्य प्रकृतियों में असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से संक्रमण करता है पुनः अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश कर एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधि से करता है ।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा बारह कषाय और नौ-नौ कषाय इनका अन्तरकरण करता है, अन्तरकरण विधि हो जाने पर प्रथम समय से लेकर ऊपर अन्तरमुहूर्त जाकर असंख्यात गुणी श्रेणी के द्वारा नपुंसक वेद का उससे एक अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुंसक वेद की उपशम विधि से ही स्त्री वेद का उपशम करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर उसी विधि से पुरुष वेद एक समय कम दो आवलि मात्र समय प्रबद्धों को छोड़कर (बाकी के सम्पूर्ण) प्राचीन सत्ता में स्थित कर्म के साथ छह नौ कषाय का उपशम करता है आगे पुनः एक समय कम दो आवली काल बिताकर पुरुष वेद के नवक समय प्रबद्ध का उपशम करता है ।

तद्नन्तर प्रत्येक समय में असंख्यात गुणी श्रेणी के द्वारा संज्वलन क्रोध के एक समय कम दो आवली मात्र नवक समय प्रबद्ध को छोड़कर पहले के सत्ता में स्थित कर्मों के साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोधों का एक अन्तरमुहूर्त में एक साथ ही उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समय कम दो आवली में क्रोध संज्वलन के नवक समय प्रबद्ध का उपशम करता है ।

उपर्युक्त विधि के अनुसार ही प्रत्याख्यान प्रत्याख्यान मान व माया का उपशम करके तत्पश्चात् प्रत्येक समय में असंख्यात् गुण श्रेणी रूप से कर्मप्रदेशों का उपशम करता हुआ लोभ वेदक के दूसरे त्रिभाग में सूक्ष्म कृष्टि को करता हुआ संज्वलन लोभ के नवक समय प्रबद्ध को छोड़कर प्राचीन सत्ता में स्थित कर्मों के साथ प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यान इन दोनों लोभों का एक अन्तर्मुहूर्त में उपशम करता है। इस तरह सूक्ष्म कृष्टि गत लोभ को छोड़कर और एक समय कम दो आवली मात्र नवक समय प्रबद्ध तथा उच्छिष्टावली मात्र निषेकों को छोड़कर शेष स्पर्द्धक गत सम्पूर्ण बादर लोभ अनिवृत्ति करण के चरम समय में उपशान्त हो जाता है ।

इसके अनन्तर समय में जो सूक्ष्म कृष्टिगत लोभ का अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्ति संज्ञा को नष्ट कर दिया है ऐसा जीव सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान वर्ती होता है । तद्नन्तर वह अपने काल के चरम समय में सूक्ष्म कृष्टिगत सम्पूर्ण लोभ संज्वलन का उपशम करके उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ होता है यह मोहनीय की उपशम विधि है ।

अन्तरकरण - विवक्षित कर्म प्रकृतियों के नीचे व ऊपर के निषेकों को छोड़कर बीच के कितने ही निषेकों के द्रव्य को अन्य निषेकों के द्रव्य में निक्षेपण करके बीच के निषेकों का अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं ।

उपशम - उदय-उदीरणा-उत्कर्षण-अपकर्षण-पर प्रकृति संक्रमण-स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डक घात के बिना ही कर्मों के सत्ता में रहने को उपशम कहते हैं ।

(ध.पु. 1. पृ. 211 से 215 तक)

विशेष - लब्धिसार आदि ग्रन्थों में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति अप्रमत्त संयत गुणस्थान में ही बतलाई है, किन्तु यहाँ पर उपशमन विधि के कथन में उसकी उत्पत्ति असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्त संयत गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में बतलाई गई है । धवला में प्रतिपादित विषय श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित कर्म प्रकृति आदि ग्रन्थों में देखा जाता है ।

अनन्तानुबंधी के अन्य प्रकृति रूप से संक्रमण होने को ग्रन्थान्तरों में विसंयोजना कहा है और यहाँ पर द्वितीयोपशम का प्रकरण होने से उसे उपशम कहा है यहाँ केवल शब्द भेद है ।

क्षायक सम्यक्त्व विधि

तीन करण करके अनिवृति करण के चरम समय में पहले अनन्तानुबंधी चार का एक साथ क्षय करता है । पुन: फिर से तीन करण करके उनमें से अध:करण और अपूर्व करण दोनों का उल्लंघन करके अनिवृत्तिकरण के संख्यात बहुभाग जाने पर मिथ्यात्व का क्षय करता है तद्नन्तर अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर सम्यग्मिथ्यात्व का और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सम्यक्प्रकृति का क्षय करता है । *(ध.पु. 1, पृ. 217)*

(शेष क्षपण विधि देखे पुस्तक 1 में)

इन्द्रिय क्षयोपशम चर्चा

शंका - **जिस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय का क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में होता है उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम क्या सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में उत्पन्न होता है या प्रतिनियत आत्म प्रदेशों में ?**

समाधान - जीव के सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है परन्तु ऐसा मान लेने पर भी जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों के द्वारा रूपादि का उपलब्धि का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि रूपादि के ग्रहण करने में उसके सहकारी कारण रूप बाह्य निवृत्ति जीव के सम्पूर्ण प्रदेशों में नहीं पाई जाती ।

विशेषार्थ - आभ्यन्तर निवृत्ति की रचना दो प्रकार से है । प्रथम लोक प्रमाण आत्म प्रदेशों की इन्द्रियाकार रचना को आभ्यन्तर निवृत्ति कहा है । दूसरे - उत्सेधांगुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण आत्म प्रदेशों की इन्द्रियाकार रचना को आभ्यन्तर निवृत्ति कहा है इस प्रकार आभ्यन्तर निर्वृत्ति की दो प्रकार रचना बतलाने का अभिप्राय प्रतीत होता है कि स्पर्शेन्द्रिय सर्वांग होती है इसलिये स्पर्शेन्द्रिय की आभ्यन्तर निर्वृत्ति भी सर्वांग होती है । इस प्रकार लोक प्रमाण आत्म प्रदेशों

की रचना आभ्यन्तर निवृत्ति कही गई है । शेष इन्द्रिय सम्बन्धी आभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुल के असंख्यात्वें भाग प्रमाण बन जाती है । (जीव के सम्पूर्ण अवयवों में क्षयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है) इस वचन के अनुसार प्रत्येक इन्द्रियावरण का क्षयोपशम सर्वांग होता है इसलिये पांचों इन्द्रियों की आभ्यन्तर निर्वृत्ति सर्वांग होना सम्भव है किन्तु इतनी विशेषता समझ लेना चाहिये कि स्पर्शेन्द्रिय की आभ्यन्तर निर्वृत्ति को छोड़कर शेष इन्द्रिय सम्बन्धी आभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुल के असंख्यतवें भाग प्रमाण आत्म प्रदेशों में ही व्यक्त होती है । *(ध.पु. 1 पृ. 235)*

अवगाहन प्रदेश विशेष

चक्षु इन्द्रिय के अवगाहना रूप प्रदेश सबसे कम हैं उससे असंख्यात गुणे श्रेत्रिन्द्रिय के प्रदेश हैं । उससे अधिक घ्राणेन्द्रिय के प्रदेश हैं उससे असंखयात गुणे जिह्वा इन्द्रिय के प्रदेश है और उससे असंख्यात गुणे स्पर्शन इन्द्रिय के प्रदेश है । *(ध.पु. 1, पृ. 237)*

इन्द्रिय वर्णन

वीर्यान्तराय और स्पर्शन व रसनेन्द्रियावरण के क्षयोपशम होने पर शेष इन्द्रियावरण के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय होने पर, आंगोपांग नाम कर्म का आलम्बन होने पर तथा द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय की वशवर्तिता होने पर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिय उत्पन्न होती है ।

पर्याप्ति और प्राण में भेद

इनमें हिमवान और विन्ध्याचल पर्वत के समान भेद पाया जाता है आहार शरीर इन्द्रिय आनपान भाषा और मन रूप शक्तियों की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते है और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है, उन्हें प्राण कहते हैं यही इन दोनों में भेद है । (कारण, कार्यभाव)

(पृ. 258 पु. 1)

मन निर्देश

पुदगल विपाकी आंगोपांग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला द्रव्यमन है । तथा वीर्यान्तराय और नौ इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से आत्मा में जो विशुद्धि पैदा होती है वह भाव मन है । *(पृष्ठ 262)*

योग निर्देश

तीनों योगों की प्रवृत्ति युगपत नहीं होती, एक आत्मा के तीनों योगों की प्रवृत्ति युगपत मानने पर योग के विरोध का प्रश्न आ जायेगा अर्थात् किसी भी आत्मा के योग नहीं बन सकेगा ।

कहीं पर युगपत वृत्तियाँ देखी जाती है ?

यदि देखी जाती है तो उनकी युगपत वृत्ति होती । परन्तु इससे मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत वृत्ति नहीं होती । अर्थात् तीनों योगों की प्रवृत्ति एक साथ हो सकती है प्रयत्न नहीं । क्योंकि कारण कार्य की एक काल में उत्पत्ति नहीं हो सकती । *(पृ. 281)*

मिश्र योग तीन हैं

औदारिक मिश्रकाय योग - वैक्रियक मिश्र काय योग - आहारक मिश्र काय योग ।

औदारिक मिश्र - मनुष्य और तिर्यंच के जन्म के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक, और केवली समुद्धात की कपाट द्वय अवस्था में होता है ।

वैक्रियक मिश्र - देव और नारकियों के जन्म के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक होता है ।

आहारक मिश्र - छठे गुणस्थान वर्ती जीव के आहारक समुद्धात निकलते समय अपर्याप्त अवस्था में होता है ।

इन तीनों मिश्र योगों में केवल विवक्षित शरीर सम्बन्धी वर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेश परिस्पन्द नहीं होता किन्तु कार्मण शरीर के सम्बन्ध से युक्त होकर ही औदारिक आदि शरीर सम्बन्धी वर्गणाओं के निमित्त से योग होता है इसलिये इन्हें मिश्रयोग कहा है । परन्तु इतनी विशेषता है कि गौम्मटसार जीव काण्ड की टीका में आहारक समुद्धात के पहले होने वाले औदारिक शरीर की वर्गणाओं के मिश्रण से आहारक मिश्र काय योग कहा है । और यहाँ पर कार्माण स्कन्ध के मिश्रण से आहारक मिश्र काय योग कहा है । इन दोनों कथनों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि गौम्मटसार की टीका के अभिप्राय से आहारक मिश्र योग तक औदारिक शरीर सम्बन्धी वर्गणायें आती रहती है और धवला के अभिप्राय से आहारक मिश्र योग के प्रारम्भ होते ही औदारिक शरीर सम्बन्धी वर्गणाओं का आना बन्द हो जाता है ।

आहारक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक उसको आहारक मिश्र कहते है और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे आहारक मिश्र काय योग कहते हैं ।

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 2.

प्ररूपणा

सामान्य और विशेष की अपेक्षा गुणस्थान से लेकर उपयोग पर्यन्त पर्याप्त अपर्याप्त विशेषणों से विशेषित करके जो जीवों की परीक्षा की जाती है उसे प्ररूपणा कहते हैं । *(ध. पु. 2)*

उपयोग - स्व और पर को ग्रहण करने वाले परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं । अथवा वस्तु को ग्रहण करने के लिये जो जीव का भाव होता है उसे उपयोग कहते हैं ।

साकारोपयोग - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान के द्वारा अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त अपने-अपने विषय का जो विशेष ज्ञान होता है उसे साकारोपयोग कहते हैं ।

निराकार उपयोग - इन्द्रिय मन और अवधि के द्वारा अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त पदार्थों की विशेषता किये बिना जो ग्रहण होता है उसे निराकार उपयोग कहते हैं ।

लेश्या

द्रव्य लेश्या की अपेक्षा - कापोत और शुक्ल लेश्या होती है, भावलेश्या की अपेक्षा छहों लेश्या होती है । अपर्याप्त अवस्था में द्रव्य की अपेक्षा कापोत और शुक्ल लेश्याएं ही क्यों होती है ?
(ध. पु. 2 पृ. 426)

जिस कारण से सम्पूर्ण कर्मों का विस्रसोपचय शुक्ल ही होता है इसलिये विग्रह गति में विद्यमान सम्पूर्ण जीवों के शरीर की शुक्ल लेश्या होती है । तदनन्तर शरीर को ग्रहण करके जब तक पर्याप्तियों को पूर्ण करता है तब तक छह वर्ण वाले परमाणुओं के पुञ्जों से शरीर की उत्पत्ति होती है इसलिये उस शरीर की कापोत लेश्या होती है । इस प्रकार अपर्याप्त अवस्था में शरीर सम्बन्धी दो ही लेश्याएँ होती हैं ।

भाव लेश्या - नारकी, तिर्यंच, भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवों के अपर्याप्त काल में कृष्ण नील कापोत लेश्याऐं होती हैं, मनुष्यों के अपर्याप्त काल में छहों लेश्याऐं होती हैं । सौधर्मादि ऊपर के देवों के अपर्याप्त काल में पीत पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं ।

मिश्र - गुणस्थान वाले जीव पर्याप्तक ही होते हैं । *(ध. पु. 2 पृ. 432)*

मरण

अनादि मिथ्यादृष्टि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारों ही गतियों में उपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करके पाये जाते हैं किन्तु मरण को प्राप्त नहीं होते हैं ।

शंका - यह कैसे जाना कि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरण नहीं करते ?

समाधान - आचार्यों के वचन से और सूत्र के व्याख्यान से जाना जाता है कि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव नहीं मरते हैं । किन्तु चारित्र मोहनीय को उपशम करने वाले जीव मरते हैं और देवों में उत्पन्न होते हैं । अत: उनकी अपेक्षा अपर्याप्त काल में उपशम सम्यक्त्व पाया जाता हैं,

वेदक सम्यक्त्व तो केवल देव और मनुष्यों के अपर्याप्त काल में पाया ही जाता है । क्योंकि वेदक सम्यक्त्व के साथ मरण को प्राप्त हुए देव और मनुष्यों के परस्पर गमनागमन में कोई विरोध नहीं पाया जाता, कृतकृत्य वेदक की अपेक्षा तो वेदक सम्यक्त्व तिर्यंच और नारकी जीवों के अपर्याप्त काल में भी पाया जाता है ।

क्षायक सम्यक्त्व भी सम्यग्दर्शन के पहले बाधी गई आयुबंध की अपेक्षा से चारों ही गतियों के अपर्याप्त काल में पाया जाता है इसलिये असंयत सम्यग्दृष्टि जीव के अपर्याप्त काल में तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 434)*

लेश्या

नारकी जीवों के पर्याप्त अवस्था में कालाकालभास (अति कृष्ण) लेश्या होती है यह शरीर लेश्या कही गई है किन्तु विग्रह गति में नारकी आदि सभी जीवों की द्रव्य लेश्या शुक्ल ही होती है क्योंकि कर्मों के विस्रसोपचय का धवल वर्ण छोड़कर अन्य वर्ण नहीं होता है तथा शरीर ग्रहण करने के प्रथम समय से लगाकर अपर्याप्त काल के चरम समय तक शरीर की कापोत लेश्या ही होती है क्योंकि उस समय शरीर संवलित सकल वर्ण वाला होता है । भाव की अपेक्षा तो कृष्ण, नील और कापोत लेश्या होती है ।

शंका - सामान्य तिर्यंचों के अपर्याप्त काल में तीनों अशुभ लेश्याएँ ही क्यों होती हैं ?

समाधान - क्योंकि तेजो लेश्या और पद्म लेश्या वाले भी देव यदि तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो नियम से उनकी शुभ लेश्याएँ नष्ट हो जाती है इसलिये तिर्यंचों की अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 475)*

तिर्यंचों में अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व

तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टि के अपर्याप्त काल में उपशम सम्यक्त्व के बिना क्षायिक और क्षयोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं । दो सम्यक्त्वों के होने का यह कारण है कि जिन मनुष्यों ने सम्यग्दर्शन होने के पहले तिर्यंच आयु को बांध लिया है वे पीछे सम्यक्त्व को ग्रहण कर और दर्शन मोहनीय को क्षपण करके क्षायक सम्यग्दृष्टि होकर असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमि के तिर्यंचों में ही उत्पन्न होते है अन्यत्र नहीं । इस प्रकार भोगभूमि के तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले जीवों की अपेक्षा से असंयत सम्यग्दृष्टि के अपर्याप्त काल में क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है और उन्हीं भोग भूमि के तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले जीवों के कृतकृत्य वेदक की अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व भी पाया जाता है । इस प्रकार अपर्याप्त असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों में उपर्युक्त दो सम्यक्त्व होते हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 483)*

सामान्य तिर्यंच संयतासंयत

क्षायिक सम्यक्त्व के बिना दो सम्यक्त्व होते हैं, क्षायिक सम्यक्त्व के नहीं होने का कारण यह है कि संयतासंयत तिर्यंच दर्शन मोहनीय कर्म का क्षपण नहीं करते हैं क्योंकि वहाँ पर जिन अर्थात् केवली, श्रुत केवली का अभाव है और पूर्व में तिर्यंच आयु को बांधकर पीछे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने

वाले मनुष्य कर्म भूमियों में उत्पन्न न होकर योगभूमियों में ही उत्पन्न नहीं होते और भोग भूमि में उत्पन्न होने वाले तिर्यंच संयमासंयम को प्राप्त नहीं होते इसलिये तिर्यंचों के संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है । *(ध. पु. 2, पृ. 484)*

सामान्य मनुष्यों में पर्याप्त आलाप में योग

पहले वैक्रियक द्विक के बिना 13 तथा औदारिक मिश्र-आहार मिश्र-कार्माण व वैक्रियक द्विक बिना 10 योग तो सामान्य पर्याप्त अवस्था में होते ही हैं ।

परन्तु अपर्याप्त अवस्था में होने वाले औदारिक मिश्र-आहारक मिश्र और कार्माण काय योग को मनुष्यों की पर्याप्त अवस्था में बताने का यह कारण है कि यद्यपि 13वें गुणस्थान में समुद्धात के समय योगों की अपूर्णता रहती है फिर भी उस समय पर्याप्त नामकर्म का उदय विद्यमान रहता है और औदारिक शरीर की पूर्णता भी रहती है इसलिये पर्याप्त नामकर्म के उदय और शरीर की पूर्णता की अपेक्षा कपाट प्रतर और लोकपूरण समुद्धात गत केवली भी पर्याप्त है । और इस प्रकार पर्याप्त अवस्था में औदारिक मिश्र और कार्माण काय योग बन जाते हैं । इसी प्रकार छठवें गुणस्थान में आहारक मिश्र काय योग के समय भी पर्याप्त नाम कर्म का उदय रहता है । इसलिये निवृत्ति से अपर्याप्तक होता हुआ भी ऐसा जीव पर्याप्त नाम कर्म उदय की अपेक्षा पर्याप्त ही है ।

अत: आहारमिश्र काय योग भी पर्याप्त अवस्था में बन जाता है इस प्रकार तीनों योग विवक्षा भेद से पर्याप्त अवस्था में बन जाते हैं । इसलिये मनुष्यों की पर्याप्त अवस्था में 13 योग भी गिनाये हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 505)*

पुरुष वेद

असंयत सम्यग्दृष्टि अपर्याप्तक मनुष्य एक पुरुष वेद होता है क्योंकि वेद नारकी और मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर यदि मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं तो नियम से पुरुष वेदी मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। अन्य वेद वाले मनुष्यों में नहीं, इससे एक पुरुष वेद ही कहा है । *(ध. पु. 2, पृ. 513)*

अपर्याप्त मनुष्यों में लेश्या

असंयत सम्यग्दृष्टि अपर्याप्तकों में द्रव्य से कापोत और शुक्ल लेश्याएँ होती है तथा भाव से छहों लेश्याएँ होती हैं । इन छहों लेश्या होने का कारण यह है कि प्रथम पृथ्वी से लेकर छठवीं पृथ्वी पर्यन्त पृथ्वियों में रहने वाले असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी मरण करके मनुष्यों में अपनी-अपनी पृथ्वी के योग्य लेश्याओं के साथ ही उत्पन्न होते हैं । इसलिये तो उनके कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएँ पाई जाती हैं उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि देव भी मरण करके मनुष्यों में उत्पन्न होते हुए अपनी-अपनी पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं के साथ ही मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं । इसलिये मनुष्य असंयत सम्यकदृष्टियों के अपर्याप्तक काल में छहों लेश्याएँ बन जाती है । *(ध. पु. 2, पृ. 513)*

आहार-ऋद्धि

भाव की अपेक्षा स्त्री वेदी और द्रव्य की अपेक्षा पुरुष वेदी संयमधारी मनुष्यों के आहार ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु द्रव्य और भाव इन दोनों ही वेदों की अपेक्षा से पुरुषवेद वाले मनुष्यों के ही आहार ऋद्धि उत्पन्न होती है । इसलिये स्त्री वेद वाले मनुष्यों के आहारक ऋद्धि के बिना 11 योग कहे गये हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 515)*

प्रमत्त संयत मनुष्यनीयों के नौ योग होने का कारण यह है कि स्त्री वेद और नपुंसक वेद के उदय होने पर आहारक काय योग-आहारक मिश्र काय योग-मन: पर्यय ज्ञान और परिहार विशुद्धि संयम नहीं होते हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 524)*

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के चतुर्थ भागवर्तिनी मनुष्यनियों के स्त्रीवेद के नष्ट हो जाने पर भी मन:पर्यय ज्ञान के नहीं होने का कारण यह है कि जैसे अग्नि से दग्ध हुए बीज में अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार स्त्रीवेद और नपुंसक वेद के उदय से दूषित जीव में वेदोदय के नष्ट हो जाने पर भी मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न नहीं होता इसलिये यहाँ पर तीन ज्ञान कहे गये हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 528)*

कृष्णलेश्या भौंरे के समान अत्यन्त काले वर्ण की होती है, नील लेश्या नील की गोली के समान नीलवर्ण की होती है, कापोतलेश्या कपोतवर्ण वाली होती है, तेजोलेश्या सोने के समान वर्ण वाली होती है, पद्मलेश्या पद्म के समान वर्ण वाली होती है और शुक्ललेश्या कांस के फूल के समान श्वेतवर्ण की होती है । इस प्रकार कृष्णादि द्रव्यलेश्याओं के वर्ण-विशेष जानना चाहिए । *(ध. पु. 2, पृ. 554)*

सौधर्म ऐशान देवों के अपर्याप्तकाल में औपशमिकसम्यक्त्व होने का कारण यह है कि औपशमिक सम्यक्त्व के साथ उपशम श्रेणी में मरे हुऐ संयतो की अपेक्षा सौधर्म आदि ऊपर के देवों के अपर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है । *(ध. पु. 2, पृ. 561)*

शंका - असंयतसम्यग्दृष्टि देवों के अपर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व कैसे पाया जाता है?

समाधान - वेदक सम्यक्त्व को उपशमा करके और उपशमश्रेणी पर चढ़ कर फिर वहाँ से उतरकर प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, असंयत और संयतासंयत उपशमसंम्यग्दृष्टि गुणस्थानों से मध्यम तेजोलेश्या को परिणमा कर और मरण करके सौधर्म ऐशान कल्पवाषी देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों के अपर्याप्तकाल में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है तथा, उपर्युक्त गुणस्थानवर्ती ही जीव उत्कृष्ट तेजोलेश्या को अथवा जघन्य पद्मलेश्या को परिणमा कर यदि मरण करते है, तो औपशमिक सम्यक्त्व के साथ सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में उत्पन्न होते हैं तथा वे ही उपशमसम्यग्दृष्टि जीव मध्यम पद्मलेश्यको परिणमा कर यदि मरण करते है, तो ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ट, शुक्र और महाशुक्र कल्पों में उत्पन्न होते है तथा वे ही उपशमसम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्ट पद्मलेश्या को अथवा जघन्य शुक्ललेश्या को परिणमा कर यदि मरण करते है, तो औपशमिक सम्यक्त्व के साथ शतार, सहस्त्रार कल्पवासी देवों में उत्पन्न होते हैं तथा उपशमश्रेणी पर चढ़ करके और पुन: उतरे बिना ही मध्यम शुक्ल लेश्या से परिणत होकर यदि मरण करते है तो उपशमसम्यक्त्व के साथ आनत, प्राणत, आरण, अच्युत और

नौग्रैवेयक विमानवासी देवों में उत्पन्न होते हैं तथा पूर्वोक्त उपशम सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्कृष्ट शुक्ललेश्या को परिणमा कर यदि मरण करते हैं, तो उपशमसम्यक्त्व के साथ नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर-विमानवासी देवों में उत्पन्न होते हैं । इस कारण सौधर्म स्वर्ग से लेकर ऊपर के सभी असंयत सम्यग्दृष्टि देवों के अपर्याप्त काल में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है । *(ध. पु. 2, पृ. 475)*

अनुदिश आदि में सम्यक्त्व

प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति मिथ्यात्वपूर्वक होती है ऐसा आगम वचन है और अनुदिश तथा अनुत्तर विमानवासी देव मिथ्यादृष्टि होते नहीं, इसलिये वहाँ प्रथमोपशम की प्राप्ति तो सम्भव नहीं है । अब रही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की बात तो यह वेदक सम्यक्त्व से उपशम श्रेणी के सम्मुख हुए मनुष्यों के ही सम्भव है अन्य गतियों में नहीं तथा पूर्व पर्याय से आया हुआ द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अपर्याप्त अवस्था में ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि इसके काल से छह पर्याप्तियों के पूरा करने का काल अधिक होता है । इस प्रकार इतने कथन से यह निष्कर्ष निकला कि नौ अनुदिश और पांच अनुत्तरों में मिथ्यात्व की प्राप्ति तो किसी प्रकार सम्भव नहीं । जो द्वितीयोपशम जीव वहाँ उत्पन्न होते है वे नियम से वेदक सम्यक्त्वदृष्टि हो जाते है और वहाँ वेदक सम्यग्दृष्टियों के द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्त सम्भव नही, क्योंकि इसकी प्राप्ति उपशम श्रेणी के सन्मुख हुए मनुष्यों के ही होती है ऐसा यहाँ समझना चाहिए । *(ध. पु. 2, पृ. 569)*

अपकायिक लेश्या आलाप

अपकायिक में लेश्या आलाप - द्रव्य से अपर्याप्त काल में कापोत और शुक्ल लेश्याएँ तथा पर्याप्त काल में स्फटिक वर्ण वाली शुक्ल लेश्या कहना चाहिये ।

सूक्ष्म अपकायिक जीवों के पर्याप्त काल मे द्रव्य से कापोत लेश्या कहना चाहिये तथा वादर कायिक जीवों के स्फटिक वर्ण वाली शुक्ल लेश्या कहना चाहिये क्योंकि घनोदधि वात वलय व घन वात वलय द्वारा आकाश से गिरे हुए पानी का धवल वर्ण देखा जाता है ।

शंका - कितने ही आचार्य कहते हैं - धवल-कृष्ण-पीत-रक्त और आताम्र वर्ण का पानी देखा जाने से पानी धवल वर्ण का ही होता है ऐसा कहना नहीं बनता ?

समाधान - ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि आधारभूत मिट्टी के संयोग से जल में अनेक वर्ण का व्यवहार देखा जाता है । किन्तु जल का स्वभाविक वर्ण धवल ही है । *(ध. पु. 2, पृ. 611)*

तैजस कायिकों में लेश्या

तेजस कायिक जीवों के द्रव्य से कापोत शुक्ल और तपनीय लेश्या होती है उन्हीं पर्याप्तक सूक्ष्म जीवों के द्रव्य से कापोत लेश्या व पर्याप्तक बादर कायिक जीवों के तपनीय लेश्या होती है ।

(ध. पु. 2, पृ. 612)

वायु कायिकों में लेश्या

वायु कायिक जीवों में द्रव्य से कापोत-शुक्ल-गोमूत्र और मूंग के वर्ण वाली लेश्यायें होती है । वायु कायिक पर्याप्तक सूक्ष्म जीवों के कापोत लेश्या और वायुकायिक पर्याप्तक बादर जीवों के गोमूत्र और मूंग के वर्ण वाली होती हैं । यद्यपि मूंग अनेक वर्ण वाली होती है तो भी रूढ़ि के वश से श्यामल वर्ण ही मूंग का वर्ण प्रकृत में ग्रहण किया है । *(ध. पु. 2, पृ. 613)*

त्रस कायिक जीवों के आलाप कहते समय पर्याप्त काल में उन्हें अनाहारक भी कहने का कारण यह है कि संयोग केवली गुण स्थान में केवलि समुद्धात के प्रतर और लोक पूरण अवस्थाओं में नौ कर्म वर्गणाओं के नहीं आने के कारण जीव अनाहारक तो होता है परन्तु उस समय पर्याप्त नाम कर्म का उदय और वर्तमान शरीर के पूर्ण होने के कारण यह पर्याप्त भी है इसलिये इस अपेक्षा से पर्याप्त अवस्था में अनाहारकता बन जाती है । *(ध. पु. 2, पृ. 624)*

विशेष - पंचेन्द्रिय मार्गणा के पर्याप्तक आलापों में जो अनाहारक कहा है वहाँ पर भी अनाहारक कहने का यही कारण जान लेना चाहिये, व इसी प्रकार दूसरे स्थलों में भी जानना ।

काययोगी में योग

पूर्व में काययोगी जीवों के पर्याप्त काल में जो वैक्रियक मिश्र के बिना छह अथवा तीन योग बतलाये हैं उसका कारण यह है कि छठवें और तेरहवें गुणस्थान में आहारक समुद्धात और केवली समुद्धात के समय भी विवक्षा भेद से जब पर्याप्तकता स्वीकार कर ली जाती है तब उसकी अपेक्षा पर्याप्तक अवस्था में भी छह योग बन जाते हैं और जब अपर्याप्तकता मान ली जाती है तब पर्याप्तक अवस्था में औदारिक आहारक और वैक्रियक ये तीन योग ही बनते हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 639)*

आहारक मार्गणा के आलापों में

आहारक मार्गणा के कथन में पहले आहारक और अनाहारक ये दो आलाप बतलाये हैं अनन्तर एक आहारक आलाप ही कहा है इसका भी कारण यह है कि तेरहवें गुण स्थान में केवली समुद्धात के समय भी पर्याप्तक के स्वीकार कर लेने से आहारक और अनाहारक दोनों आलाप बन जाते हैं परन्तु कपाट-प्रतर और लोकपूरण अवस्था में केवल अपर्याप्तकता स्वीकार कर लेने पर काय योगियों की पर्याप्त अवस्था में अनाहारक आलाप नहीं बनता । इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब काय योगियों के पर्याप्त अवस्था में छह योग कहे जावे तब आहारक और अनाहारक दोनों ही आलाप जानना व जब पर्याप्त सम्बन्धी केवल तीन योग ही कहे जावे तब एक आहारक आलाप ही जानना । *(ध. पु. 2, पृ. 640)*

औदारिक मिश्र काय योगी के 6 लेश्या

शंका - औदारिक मिश्र काय योगी जीवों के भाव से छहों लेश्या होने का क्या कारण है ?

समाधान - औदारिक मिश्र काय योग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों के भाव से कृष्ण, नील और कापोत लेश्याऐं ही होती है और कपाट समुद्धात गत औदारिक

मिश्र काययोगी संयोग केवली के एक शुक्ल लेश्या ही होती है । किन्तु जो देव और नारकी मनुष्य गति में उत्पन्न हुए हैं औदारिक मिश्र काययोग में वर्तमान हैं और जिनकी पूर्वभव सम्बन्धी भाव लेश्याएं अभी नष्ट नहीं हुई है ऐसे जीवों के भाव से छहों लेश्याएँ पाई जाती हैं, इसलिये औदारिक मिश्र काय योगी के छहों लेश्याएँ होती हैं

(ध. पु. 2, पृ. 655)

असंयत सम्यग्दृष्टि

औदारिक मिश्र काय योगी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों के भाव से छहों लेश्याएँ होने का कारण यह है कि जिस प्रकार तेज पद्म और शुक्ल लेश्याओं में वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देव तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होते समय नष्ट लेश्या होकर के अर्थात् अपनी-अपनी पूर्वलेश्याओं को छोड़कर उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही कृष्ण नील और कापोत लेश्या रूप से परिणत हो जाते हैं । उस प्रकार से सम्यग्दृष्टि देव अशुभ लेश्या रूप से नहीं परिणत होते हैं किन्तु उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक पूर्वभव की लेश्याओं के साथ रहकर पीछे अन्य लेश्याओं को प्राप्त होते हैं । अतएव यहाँ पर छहों लेश्याएँ बन जाती हैं ।

शंका - तिर्यंचों और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि देव अन्तर्मुहूर्त तक अपनी पहली लेश्याओं को क्यों नहीं छोड़ते ?

समाधान - इसका कारण यह है कि बुद्धि में स्थित हैं पंच परमेष्ठी जिनके अर्थात् पंच परमेष्ठी के स्वरूप चिन्तवन में जिनकी बुद्धि लगी हुई है ऐसे सम्यग्दृष्टि देवों के मरण काल में मिथ्यादृष्टि देवों के समान संक्लेश पाया नहीं जाता है इसलिये अपर्याप्त काल में उनकी पहले ही शुभ लेश्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहती हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 658)*

किन्तु नारकी सम्यग्दृष्टि तो अपनी पुरानी चिरन्तन लेश्याओं के साथ ही मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं ।

शंका - नारकी सम्यग्दृष्टि जीव मरते समय अपनी पुरानी कृष्णादि अशुभ लेश्याओं को क्यों नहीं छोड़ते ?

समाधान - इसका कारण यह है कि नारकी जीवों के जाति विशेष से ही अर्थात् स्वभावत: संक्लेश की अधिकता होती है, इस कारण मरण काल में भी वे उन्हें नहीं छोड़ सकते हैं ।

(ध. पु. 2, पृ. 659)

केवली प्राण निर्देश

समुद्धात गत केवली के अपर्याप्त अवस्था में आयु और काय ये दो प्राण होते हैं, शेष आठ प्राण नहीं होते उनमें से पाँचों इन्द्रिय प्राण तो इसलिये नहीं होते कि उनके ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं पाया जाता।

शंका - केवली के पाँचों द्रव्येन्द्रियां पाई जाती है और उनके पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म का उदय भी होता है इसलिये इस अपेक्षा में उनके पांचों इन्द्रिय प्राण मान लेना चाहिये ?

समाधान - ऐसा नहीं है क्योंकि इन्द्रिय प्राणों में भावों की मुख्यता है, यदि इन्द्रिय प्राणों में द्रव्येन्द्रियों का मुख्यता से ग्रहण करना स्वीकार किया जावें तो अपर्याप्त काल में पांच इन्द्रिय प्राणों का सद्भाव नहीं बन सकता है परन्तु अपर्याप्त काल में पांचों इन्द्रिय प्राण होते हैं ऐसा आगम वचन है इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियप्राणों में मुख्यता से पांच भावेन्द्रियों का ही ग्रहण किया जाता है और वे भावेन्द्रियां केवली के होती नहीं है इसलिये उनके पांचों इन्द्रिय प्राण नहीं होते हैं ।

उसी प्रकार केवली के अपर्याप्त अवस्था में मनोबल - वचनबल और श्वासोच्छावास ये तीनों प्राण भी नहीं होते हैं क्योंकि इन तीनों प्राणों की कारणभूत मन वचन और आनप्रान ये तीन पर्याप्तियाँ हैं । परन्तु अपर्याप्त अवस्था में ये तीनों पर्याप्तियाँ नहीं होती हैं । इस प्रकार इन आठ प्राणों के अतिरिक्त केवली के अपर्याप्त अवस्था में शेष दो प्राण पाये जाते हैं अथवा इन केवली के विद्यमान शरीर की अपेक्षा पूर्वोक्त प्राणों की कारणभूत पर्याप्तियाँ रहती ही हैं, इसलिये छठे समय से वचन, बल और श्वासोच्छवास ये दो प्राण और माने जा सकते हैं इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों प्राणों में ये दो प्राण मिला देने से केवली के औदारिक मिश्र काय योग में चार प्राणी कहे जा सकते हैं मन:पर्याप्ति के रहने पर भी मन:प्राण नहीं माना गया है इसका कारण यह है कि मन: प्राण में भाव मन और मन: पर्याप्ति ये दोनों कारण हैं इसलिये इनमें से जहाँ केवल एक कारण होता है वहाँ मन:प्राण नहीं कहा गया है केवली के भाव मन नहीं पाया जाता इसलिये मन:पर्याप्ति के रहने पर भी मन: प्राण नहीं कहा गया है । और शेष संज्ञी जीवों के अपर्याप्त अवस्था में भाव मन का अस्तित्व होते हुए भी मन:पर्याप्ति नहीं पाई जाती इसलिये मन प्राण नहीं माना गया है । *(ध. पु. 2, पृ. 660)*

शंका - संयोग केवली के मूल शरीर की तो छहों लेश्याएँ होती हैं, फिर उन्हें यहाँ क्यों नहीं कहते?

समाधान - नहीं, क्योंकि, कपाट समुद्धात के समय चौदह राजु आयाम (लम्बाई) से और 7 राजु विस्तार से अथवा चौदह राजू आयाम से और एक राजू से लेकर बढ़े हुए विस्तार से स्थित जीव के प्रदेशों का संख्यात अंगुल की अवगाहना वाले पूर्ण शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

यदि सम्बन्ध माना जायेगा तो जीव के प्रदेशों के परिमाण वाला ही औदारिक शरीर को होना पड़ेगा, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि छोटे शरीर के पूर्वोक्त प्रमाण रूप से पसरने (फैलने) की शक्ति का अभाव है अथवा यदि मूल शरीर के कपाट समुद्धात प्रमाण प्रसरण शक्ति मानी जाय तो फिर उनकी औदारिक मिश्र काय योगता नहीं बन सकती है । तथा कपाट समुद्धात गत केवली का पुराने मूल शरीर के साथ सम्बन्ध है नहीं, अतएव यही निष्कर्ष

निकलता है कि संयोग केवली के मूल शरीर की छहों लेश्याए होने पर भी कपाट समुद्धात के समय उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता है, किन्तु औदारिक मिश्र काय योग होने के कारण एक कापोत लेश्या ही कही गई है । *(ध. पु. 2, पृ. 661)*

शंका - कार्माण काय योगी अवस्था में भी कर्म वर्गणाओं के ग्रहण का अस्तित्व पाया जाता है, इस अपेक्षा कार्माण काय योगी जीवों को आहारक क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान - नहीं कहा जाता, क्योंकि कार्माण काययोग के समय नौ कर्म वर्गणाओं के आहार का अधिक से अधिक तीन समय तक विरह काल पाया जाता है । *(ध. पु. 2, पृ. 670)*

शंका - आहारक काय योगी जीवों के स्त्रीवेद और नपुंसक वेद के नहीं होने का क्या कारण है?

समाधान - क्योंकि अप्रशस्त वेदों के साथ आहारक ऋद्धि नहीं उत्पन्न होती है *(ध. पु. 2, पृ. 668)*

आहारक ऋद्धि के साथ मन: पर्यय ज्ञान का सहानवस्थान लक्षण विरोध है ये दोनों एक साथ एक जीव के नहीं होते । *(ध. पु. 2, पृ. 668)*

आहारक शरीर - मन:पर्यय ज्ञान-परिहार विशुद्धि संयम - उपशम सम्यक्त्व ये सब एक जीव के एक साथ नहीं पाये जाते, इनमें से कोई एक ही रहेगा *(ध. पु. 2, पृ. 668)*

नपुंसक वेदी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों के अपर्याप्त काल में कृत्कृत्य वेदक की अपेक्षा यहाँ क्षयोपशम सम्यक्त्व कहा है । *(ध.पु. 2, पृ. 698)*

शंका - मन: पर्यय ज्ञानी के औपशमिक सम्यक्त्व कैसे होता है ?

समाधान - अनादि और सादि मिथ्यादृष्टि जो प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं उनके मन: पर्ययज्ञान नहीं पाया जाता तथा वेदक सम्यक्त्व के पीछे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को जो प्राप्त होते हैं, उस उपशम सम्यक् दृष्टि के प्रथम समय में भी मन: पर्यय ज्ञान पाया जाता है प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल लघु (छोटा) होने से उस उपशम सम्यक्त्व के साथ मन: पर्यय ज्ञान का विरोध है द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ विरोध नहीं । *(ध. पु. 2, पृ. 728)*

मिथ्यात्व के बाद होने वाले उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम व वेदक सम्यक् के बाद होने वाले उपशम सम्यक्त्व को द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । यह श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होता है ।

आहारक द्विक - मन: पर्ययज्ञान और परिहार विशुद्धि संयम ये तीनों ऋद्धियाँ युगपत् उत्पन्न नहीं होती ।

परिहार विशुद्धि संयत के आहारक काययोग द्विक-मन: पर्यय ज्ञान-औपशमिक सम्यक्त्व सामायिक शुद्धि संयम और छेदोपस्थापना शुद्धिसंयम नहीं होता है *(ध. पु. 2, पृ. 735)*

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 3.

प्रमाण - जिसके द्वारा पदार्थ मापे या जाने जाते हैं उसे प्रमाण कहते हैं । *(ध.पु. 3 पृ. 4)*

द्रव्य प्रमाण - द्रव्य के प्रमाण को द्रव्य प्रमाण कहते हैं । *(ध.पु. 3 पृ. 4)*

बहुब्रीहि समास - अर्थ प्रधान बहुब्रीहि समास है ।

तत्पुरुष समास - उत्तर पदार्थ प्रधान को तत्पुरुष समास कहते हैं ।

अव्ययी भाव समास - पूर्व पदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास है ।

द्वन्द समास - प्रत्येक पद में प्रधानता रहने को द्वन्द समास कहते हैं ।

द्विगु समास - संख्यापूर्वक तत्पुरुष को द्विगु समास कहते हैं जैसे पंचनद इत्यादि ।

कर्मधारय समास - जहाँ पर दो पदार्थ का एक आधार दिखाया जाता है ऐसे तत्पुरुष को कर्मधारय समास कहते हैं । *(ध.पु. 3, पृ. 7)*

अनुगम - वस्तु के अनुरूप ज्ञान को अनुगम कहते हैं । अथवा केवली और श्रुत केवलियों के द्वारा परम्परा से आये हुए अनुरूप ज्ञान को अनुगम कहते हैं । *(ध.पु. 3 पृ. 8)*

द्रव्यप्रमाणानुगम - द्रव्यगत प्रमाण अथवा द्रव्य और प्रमाण के अनुगम को द्रव्य प्रमाणानुगम कहते हैं।

आगम - पूर्वापर विरुद्धादि दोषों के समूह से रहित और सम्पूर्ण पदार्थ के द्योतक आप्त वचन को आगम कहते हैं । *(ध.पु. 3 पृ. 12)*

अनन्तानन्त कौनसे ग्रहण किया जाये ?

उत्कृष्ट-मध्यम और जघन्य अनन्तानन्त में से जहाँ-जहाँ अनन्तानन्त देखा जाता है वहाँ-वहाँ अजघन्य अनुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्त का ही ग्रहण होता है ।

जघन्य अनन्तानन्त से अनन्त वर्ग स्थान ऊपर जाकर और उत्कृष्ट अनन्तानन्त से अनन्त वर्ग स्थान नीचे आकर मध्य में जिनेन्द्र देव के द्वारा यथादृष्ट राशि यहाँ पर अनन्तानन्त पद से ग्रहण करनी चाहिये । अथवा जघन्य अनन्तानन्त को तीन बार वर्गित संवर्गित करने पर जो राशि उत्पन्न होती है उससे अनन्त गुणी और छह द्रव्यों के प्रक्षिप्त करने पर जो राशि उत्पन्न होती है उसे अनन्त गुणी हीन मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण मिथ्यादृष्टि जीवनों की राशि है ।

अतीत काल के सम्पूर्ण समय अपहृत हो जाते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव राशि अपहृत नहीं होती। *(ध.पु. 3 पृ. 31)*

लोकाकाश के 1-1 प्रदेश पर 1-1 मिथ्यादृष्टि जीव को निक्षिप्त करके एक लोक हो गया इस प्रकार मन से संकल्प करना चाहिये इस प्रकार पुनः - पुनः माप करने पर मिथ्यादृष्टि जीव राशि अनन्त लोक प्रमाण होती है इस प्रकार बुद्धि से मिथ्यादृष्टि जीवराशि मापी जाती है । *(ध.पु. 3 पृ. 33)*

जगच्छ्रेणी के घन को लोक कहते हैं ।

जगच्छ्रेणी - सात रज्जू प्रमाण आकाश प्रदेशों की लम्बाई को जगच्छ्रेणी कहते हैं ।

रज्जू - तिर्यचलोक के मध्यम विस्तार को रज्जू कहते हैं ।

विशेष - 1. स्वम्भू रमण की बाह्यवेदिका पर जाकर रज्जू समाप्त होती है ।

2. असंख्यात द्वीप और समुद्रों की चौड़ाई से रुके हुए क्षेत्र से संख्यात गुणे योजन जाकर रज्जू की समाप्ति होती हैं । ऐसा 2 प्रकार का वर्णन कितने ही आचार्यों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न हैं आचार्य वीरसेन स्वामी ने इस दूसरे मत को अधिक महत्त्व दिया है । *(ध.पु. 3, पृ. 34)*

तिर्यग्लोक का अन्त तीनों वात वलयों के बाह्य भाग में होता है । अर्थात् सर्वद्वीप और समुद्रों के व्यास से जितने योजन रुके हुए हैं उनसे संख्यात गुणे असंख्यात योजन जाकर तिर्यग्लोक की समाप्ति होती है । *(ध.पु. 3, पृ. 35)*

मुहूर्त - सभी मनुष्यों के **3773** उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है । *(ध.पु. 3, पृ. 66)*

अहोरात्र - एक लाख, तेरह हजार, एक सौ नब्बे (1,13,190) उच्छवासों के द्वारा एक दिन अर्थात् अहोरात्र होता है । *(ध.पु. 3, पृ. 67)*

उपशम सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े हैं क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उनसे असंख्यात गुणे होते हैं, और वेदक सम्यग्दृष्टि जीव इनसे असंख्यात गुणे होते है । *(ध.पु. 3, पृ. 68)*

अप्रमत्त संयत के काल से प्रमत्त संयत का काल 5 गुणा है । *(ध.पु. 3, पृ. 90)*

निरन्तर आठ समय पर्यन्त उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले जीवों में अधिक से अधिक प्रथम समय में 16, दूसरे समय में 24, तीसरे समय में 30, चौथे समय में 36, पांचवे समय में 42, छठवें समय में 48, सातवें समय में 54 और आठवें समय में भी 54 जीव उपशम श्रेणी में चढ़ते हैं । (आठ समय अधिक वर्ष पृथक्त्व के भीतर लगातार 8 समय में उपशम श्रेणी में उत्कृष्ट रूप से चढ़ने वालों की संख्या है । इस प्रकार कुल 304 जीव चढ़ते हैं । *(ध.पु. 3, पृ. 91)*

सामान्य कथन की अपेक्षा - उपशम श्रेणी के प्रत्येक गुणस्थान में एक समय में चारित्र मोहनीय का उपशम करता हुआ जघन्य से 1 जीव और उत्कृष्ट से 54 जीव प्रवेश करते हैं । *(ध. पु. 3, पृ. 90)*

आठ समय अधिक छह महिना के भीतर क्षपक श्रेणी के योग्य 8 समय होते हैं । उनमें सामान्य **प्ररूपणा** से जघन्य रूप से 1 जीव व उत्कृष्ट रूप से 108 जीव क्षपक गुण स्थान को प्राप्त होते हैं ।

विशेष प्ररूपणा - निरन्तर 8 समयों में क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले जीव 608 कहे गये हैं जिनमें से प्रथम समय में 32, दूसरे समय में 48, तीसरे समय में 60, चौथे समय में 72, पांचवें समय में 84, छठवें समय में 96, तथा सातवें और आठवें समय में 108-108 जीव क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं । *(ध. पु. 3, पृ. 93)*

पुनरुक्त दोष विचार प्रतिबुद्ध शिष्यक ही विषय है किन्तु जो शिष्य अप्रतिबुद्धय है उसकी अपेक्षा सौ बार प्ररूपण करना भी दोष का कारण नहीं है। *(ध. पु. 3, पृ. 114)*

देवों में सम्यक्त्वोंत्पत्ति के कारण - जिन बिम्ब सम्बन्धी अतिशय के माहात्म्य का दर्शन, जातिस्मरण का होना, महर्द्धिक-इन्द्रादिक का दर्शन और जिनदेव के पादमूल में धर्म का श्रवण आदि सम्यक्त्वोंत्पत्ति के कारण है ।

विशेष - परन्तु तिर्यंच और नारकी गुरुत्तर पापों के भार से व्याप्त होने से, अतिशय संक्लिष्ट परिणामी होने से - मन्द बुद्धि होने से और उनमें सम्यक्त्वोत्पत्ति के बहुत से कारणों का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि थोड़े होते हैं । *(ध. पु. 3, पृ. 157)*

शंका - कर्म 8, 148 अथवा अन्य कितने ?

समाधान - लोक में घोड़ा, हाथी, वृक (भेड़िया), भ्रमर, शलभ, मत्कुण, उद्देहिका (दीमक), गोभी और इन्द्र गोप आदि रूप से जितने कर्मों के फल पाये जाते हैं कर्म भी उतने ही होते हैं । *(ध. पु. 2, पृ. 330)*

बादर - बादर नाम कर्म से युक्त जीव बादर कहलाते हैं ।

शंका - स्थूल शरीर वाले जीवों को बादर क्यों नहीं कहा ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, वेदन क्षेत्र विधान से बादर एकेन्द्रियों की अवगाहना से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की अवगाहना बड़ी पाई जाती है इसलिये स्थूल शरीर वाले जीवों को बादर नहीं कह सकते हैं ।

अत: जिनका शरीर प्रतिघात से युक्त है वे बादर है और अन्य पुद्गलों से प्रतिघात रहित जिनका शरीर है वे सूक्ष्म जीव है । *(ध. पु. 3, पृ. 331)*

शंका - संयतासंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य गति को छोड़कर शेष गतियों में नहीं पाये जाते है और पर्याप्त मनुष्य संख्यात ही होते हैं इसलिये संयतासंयत क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव भी संख्यात ही होते हैं । भोग भूमि आदिकों की अपेक्षा संयतासंयत क्षायक सम्यक्दृष्ट असंख्यात कहने चाहियें ।

समाधान -नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले तिर्यंचायु का बन्ध कर लिया है ऐसे तिर्यंचों में उत्पन्न हुए क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के संयमासंयम गुणस्थान नहीं पाया जाता है क्योंकि भोग भूमि के बिना अन्यत्र उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं हैं तथा तिर्यंचों में दर्शन मोह की क्षपणा भी नहीं पाई जाती है क्योंकि दर्शन मोहनीय की क्षपणा नियम से मनुष्य गति में ही होती है ऐसा आगम वचन है । *(ध.पु. 3 पृ. 475)*

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 4.

जगत्श्रेणी - एक प्रदेश वाली सात राजु लम्बी आकाश प्रदेश पंक्ति को जगत्श्रेणी कहते हैं । *(ध.पु. 4 पृ. 14)*

कर्ण रेखा - निकालने की प्रक्रिया यह है कि भुजा के प्रमाण का वर्ग और कोटि के प्रमाण का वर्ग जितना हो उन्हें जोड़कर उसका वर्गमूल निकालना चाहिये, जो वर्गमूल का प्रमाण आवे वही कर्ण रेखा का प्रमाण समझना चाहिये । *(ध.पु. 4 पृ. 14)*

अवगाह्यमान जीव और अजीव द्रव्यों की सत्ता अन्यथा न बनने से क्षीर कुंभ का मधुकुंभ के समान (अर्थात् मधु से भरे हुए कलश में तत्प्रमाण वाले दूध से भरे हुए कलश का दूध उसी में डालने से समा जाता है ऐसी अवगाहन शक्ति देखी जाती है) असंख्यात प्रदेशी आकाश में अनन्त जीव और अनन्तानन्त पुद्गलों का अवगाहन हो जाता है । *(ध.पु. 4 पृ. 24)*

विशेष - उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र में **सूक्ष्म निगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना** है उस क्षेंत्र में स्थित घनलोक भाग मात्र जीव के प्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश पर अभव्य सिद्धों से अनन्त गुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग मात्र होकर के स्थित **औदारिक शरीर के परमाणुओं** का वही क्षेत्र अवकाशपने को प्राप्त है । पुनः औदारिक शरीर के परमाणुओं से अनन्तगुणे **तैजस शरीर के परमाणुओं** की भी उसी क्षेत्र में अवगाहना है । तैजस शरीर के परमाणुओं से अनन्तगुणे उस ही जीव के द्वारा मिथ्यात्व-अविरति आदि कारणों से संचित और प्रत्येक प्रदेश पर अभव्य सिद्धों से अनन्त गुणे तथा सिद्धों के अनन्तवें भाग मात्र कम परमाणु उस क्षेत्र में रहते हैं । (अवगाहना है) । **पुनः औदारिक शरीर तैजस शरीर और कार्माण शरीर के विस्त्रसोपचयों का** जो कि प्रत्येक सर्वजीवों से ?अनन्तगुणे हैं और प्रत्येक परमाणु पर उतने ही प्रमाण हैं, उनकी भी उसी क्षेत्र में अवगाहना है । इस प्रकार एक जीव से व्याप्त अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र उसी जघन्य क्षेत्र में समान अवगाहना वाला होकर के **दूसरा जीव भी रहता है** । इसी प्रकार समान अवगाहना वाले **अनन्तानन्त जीवों की** उसी ही क्षेत्र में अवगाहना है । तत्पश्चात् दूसरा कोई जीव उसी ही क्षेत्र में उसके मध्यवर्ती प्रदेश को अपनी अवगाहना का अन्तिम प्रदेश करके उत्पन्न हुआ । इस जीव की भी अवगाहना में समान अवगाहना वाले अनन्तानन्त जीव रहते हैं । इस प्रकार यहाँ भी पूर्व के समान प्ररूपणा करनी चाहिये । *(ध.पु. 4, पृ. 24-25)*

समुद्धात परिचय

1. **वेदना** - नेत्र वेदना, शिरो वेदना आदि के द्वारा जीवों के प्रदेशों का उत्कृष्टतः शरीर से तिगुणें प्रमाण विसर्पण का नाम वेदना समुद्धात है ।

2. **कषाय** - क्रोध भय आदि के द्वारा जीव के प्रदेशों का शरीर से तिगुणें प्रमाण प्रसर्पण का नाम कषाय समुद्धात है ।

3. **वैक्रियक** - देव और नारकी जीवों का अपने स्वभाविक आकार को छोड़कर अन्य आकार से रहने का नाम वैक्रियक समुद्धात है ।

4. मारणान्तिक - अपने वर्तमान शरीर को नहीं छोड़कर ऋजुगति तथा विग्रह गति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्र तक जाकर शरीर के तिगुणे विस्तार से अथवा अन्य प्रकार (उत्पद्यमान क्षेत्र तक की लम्बौई वाला) अन्तर्मुहूर्त तक रहने का नाम मारणान्तिक समुद्धात है ।

विशेषता - 1. जिसने परभव की आयु बांध ली है ऐसे जीवों का ही मारणान्तिक समुद्धात होता है, अन्य जीवों का नहीं ।

2. वेदना और कषाय समुद्धात बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क दोनों प्रकार के जीवों के होते हैं ।

3. वेदना और कषाय समुद्धात गत जीव निश्चय से आगे उत्पन्न होने वाले क्षेत्र की दिशा के सन्मुख गमन करता है किन्तु अन्य समुद्धातों का एक दिशा में गमन करने का नियम नहीं है क्योंकि उनका दशों दिशाओं में गमन पाया जाता है ।

5. तैजस - तैजस शरीर के विसर्पण का नाम तैजस शरीर समुद्धात है वह दो प्रकार का होता है - (अ) नि:सरणात्मक, (ब) अनि:सरणात्मक ।

नि:सरणात्मक तैजस शरीर दो प्रकार - (i) प्रशस्त तैजस, (ii) अप्रशस्त तैजस ।

(i) प्रशस्त नि:सरणात्मक तैजस शरीर समुद्धात - 12 योजन लम्बा, 9 योजन चौड़ा, सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग मोटाई वाला, हंस के समान धवल वर्ण वाला, ऋषियों के दाहिने कन्धे से उत्पन्न प्राणियों अनुकम्पा के निमित्त से उत्पन्न होता है और मारी रोगों आदि के प्रशमन करने में समर्थ, छठवें गुणस्थानवर्ती तैजस ऋद्धि प्राप्त मुनिराजों के होता है । तथा इच्छित क्षेत्र प्रमाण विसर्पण करने वाला होता है ।

(ii) अप्रशस्त निस्सरणात्मक तैजस शरीर समुद्धात - प्रशस्त तैजस शरीर प्रमाण विस्तृत, जया पुष्प के सदृश लाल वर्ण वाला, भूमि और पर्वतादि के जलाने में समर्थ, प्रतिपक्ष रहित, रोष रहित ईन्धन वाला, बायें कन्धें से उत्पन्न होने वाला और इच्छित क्षेत्र विसर्पण वाला होता है ।

विशेष - अनिस्सरणात्मक तैजस शरीर समुद्धात का यहाँ प्रकरण अधिकार नहीं है ।

6. आहारक - ऋद्धि प्राप्त महर्षियों के एक हाथ ऊँचा, हंस समान धवल वर्णी, सर्वांग सुन्दर, क्षणमात्र में कई लाख योजन गमन करने में समर्थ, अप्रतिहत गमन वाला, मस्तक से उत्पन्न होने वाला तथा जो आज्ञा की अर्थात् श्रुतज्ञान की कनिष्ठता (हीनता) होने पर और असंयम की बहुलता के होने पर जिसने अपना स्वरूप प्राप्त किया है ऐसा है ।

7. केवलि समुद्धात - दंड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण के भेद से 4 प्रकार का है । उनमें जिसकी अपने विष्कंभ से कुछ अधिक तिगुनी परिधि है ऐसे पूर्व शरीर के बाह्य रूप (तिगुने) दंडाकार से केवली के जीव प्रदेशों का कुछ कम चौदह राजु फैलने का नाम **दंड समुद्धात** है । उपर्युक्त बाह्य और आयाम के द्वारा वात वलय से रहित सम्पूर्ण क्षेत्र के व्याप्त करने का नाम **कपाट समुद्धात** है ।

केवली भगवान के जीव प्रदेशों का वात वलय से रुके हुए लोक क्षेत्र को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने का नाम **प्रतर समुद्धात** है । घनलोक प्रमाण केवली भगवान के जीव प्रदेशों का सर्व लोक के व्याप्त करने को लोकपूरण समुद्धात कहते हैं ।

विशेष - पूर्व शरीर बाहुल्य अथवा तिगुने बाहुल्य के कहने का तात्पर्य यह है कि जब खडगासन से विराजमान केवली भगवान समुद्धात करते हैं उस अवस्था में पूर्व शरीर के बाहुल्य से कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाले दंडाकार आत्म प्रदेश हैं । तथा जब पद्मासनस्थ केवलि भगवान समुद्धात करते हैं तब पूर्व शरीर से तिगुने बाहल्य की कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाले दंडाकार आत्म प्रदेश निकलते हैं इसलिये धवलाकार ने 'पुव्व सरीर बाहल्लेण तत्तिगुण बाहल्लेण वा' विशेषण दिया है । *(ध.पु. 4, पृ. 26, 27, 28)*

आनुपूर्वी और संस्थान नाम कर्म में अन्तर

विग्रह गति - में जीव के आकार में आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय से निमित्त है वहाँ पर संस्थान नाम कर्म का उदय नहीं होता, किन्तु ऋजु गति में आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय नहीं है क्योंकि आनुपूर्वी नामकर्म का उदय कार्माण काय योग वाली विग्रह गति में ही होता है । ऋजु गति में तो कार्माण काय योग न होकर औदारिक मिश्र व वैक्रियक मिश्र काय योग ही होता है । और गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि में इन दोनों मिश्र योगों में संस्थान नाम कर्म का उदय बताया गया है । आनुपूर्वी का नहीं, इससे सिद्ध है कि ऋजुगति से उत्पन्न होने वाले जीव के प्रथम समय से ही विवक्षित क्षैत्र में उत्पत्ति हो जाने से संस्थान नाम कर्म का उदय हो जाता है इसलिये आनुपूर्वी और संस्थान नाम कर्मों से उत्पन्न होने वाले आकार भिन्न ही होंगे एक से नहीं ।

सारांश - विग्रह गति में आनुपूर्वी के उदय से जीव के पूर्व शरीर का आकार रहता है किन्तु संस्थान नाम कर्म के उदय से वर्तमान पर्याय का आकार हो जाता है । *(ध. पु. 4, पृ. 30)*

त्रस कायिक अपर्याप्त राशि तो विहार करती नहीं है क्योंकि त्रस कायिक अपर्याप्तकों में विहायोगति नाम कर्म का उदय नहीं होता है । त्रस कायिक पर्याप्तकों के भी संख्यातवें भाग प्रमाण राशि ही विहार करने वाली होती है, क्योंकि 'यह मेरा है' इस प्रकार बुद्धि से स्वीकार किया गया क्षेत्र स्वस्थान है और उससे बाहर जाकर रहने का नाम **विहारवत्स्वस्थान** है । *(ध. पु. 4, पृ. 32)*

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान सम्बन्धी उपपाद में देव प्रधान है तथा असंयत गुणस्थान सम्बन्धी मारणान्तिक समुद्धात में तिर्यंच प्रधान है । *(ध. पु. 4, पृ. 44)*

संयतासंयतों के उपपाद नहीं होता है क्योंकि अपर्याप्त काल में संयमासंयम गुणस्थान नहीं पाया जाता है । *(ध. पु. 4, पृ. 44)*

सम्यग्मिथ्या दृष्टि गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्धात व उपपाद नहीं होते क्योंकि उक्त गुणस्थान में इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं के साथ विरोध है । *(ध. पु. 4, पृ. 44)*

प्रमत्त संयत गुणस्थान से लेकर अयोग केवली गुणस्थान तक जीवों की जघन्य अवगाहना साढे तीन रत्नि प्रमाण है और उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष है ये दोनों ही अवगाहनायें भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होती हैं विदेह में नहीं क्योंकि विदेह में 500 धनुष के उत्सेध का नियम है अत: 525 धनुष से कुछ कम उत्सेध वाली विदेह क्षेत्रस्थ संयत राशि चूंकि सबसे अधिक होती है इसलिये यहाँ पर वह राशि प्रधान है क्योंकि विदेहस्थ संयत राशि का 500 धनुष की ऊँचाई के साथ अविनाभाव सम्बन्ध पाया जाता है । *(ध. पु. 4, पृ. 45)*

संयत जीव सौधर्म कल्प से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यंत उत्पन्न होते हैं और इसीलिये वे वहाँ तक मारणान्तिक समुद्धात भी कर सकते हैं । *(ध. पु. 4, पृ. 46)*

मनुष्यनियों के सम्यग्दृष्टियों के उपपाद नहीं पाया जाता है । इसी प्रकार उन्हीं के प्रमत्तसंयत गुणस्थान में तैजस समुद्धात और आहारक समुद्धात नहीं पाया जाता है । *(ध. पु. 4, पृ. 75)*

सर्वत्र ऋजु गति से उत्पन्न होने वाले जीवों की अपेक्षा विग्रह गति से उत्पन्न होने वाले जीव असंख्यात गुणे होते हैं क्योंकि श्रेणी की अपेक्षा उच्छ्रेणियां बहुत पाई जाती है ।*(ध. पु. 4, पृ. 80)*

औदारिक मिश्र काय योगियों का औदारिक मिश्र काय योगियों में उपपाद के अभाव का तात्पर्य है कि औदारिक मिश्र काय योग तिर्यंच और मनुष्यों को अपर्याप्त दशा में ही होता है और अपर्याप्तर्दशा को प्राप्त सासादन सम्यग्दृष्टि या असंयत सम्यग्दृष्टि जीव मरण को प्राप्त नहीं होता है जिससे कि वह पुन: औदारिक मिश्र काय योगी - सासादन सम्यग्दृष्टि या असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच या मनुष्यों में उत्पन्न हो सके अतएव उसमें सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि औदारिक मिश्र काय योगी जीवों के उपपाद का अभाव बताना सर्वथा युक्ति संगत ही है पुन: अथवा करके जो औदारिक मिश्र काय योगियों में उनके उपपाद का सद्भाव बतलाया गया है उसका अभिप्राय है कि पूर्व भव के शरीर को छोड़कर उत्तर भव के प्रथम समय में प्रवर्तन को उपपाद कहते हैं वह उपपाद उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही होता है । *(ध. पु. 4, पृ. 108)*

चार गुण स्थानों के समुदाय को चतु:स्थानी कहते हैं । *(ध. पु. 4, पृ. 124)*

प्रत्यासक्ति समीपता को कहते हैं । *(ध. पु. 4, पृ. 125)*

उपशम श्रेणी से उतर कर उपशम सम्यक्त्व के साथ असंयम भाव को प्राप्त होने वाले जीवों की संख्या संख्यात ही पाई जाती है । *(ध. पु. 4, पृ. 135)*

प्रमत्त संयत के उपशम सम्यक्त्व के साथ तैजस समुद्धात और आहारक समुद्धात नहीं होते हैं। *(ध. पु. 4, पृ. 135)*

स्वयंभू रमण समुद्र से परे जो पृथ्वी है वहाँ भी राजू के अर्द्धच्छेद पड़ते हैं किन्तु वहाँ ज्योतिषी देव नहीं हैं । *(ध. पु. 4, पृ. 156)*

देव और नारकी इन दोनों की भिन्न जाति है ये सातवीं पृथ्वी के नारकी गर्भ जन्म वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में ही उपजने के स्वभाव वाले हैं और वे देव पंचेन्द्रियों तथा एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने रूप स्वभाव वाले हैं इसलिये दोनों समान जाति नहीं है जो जिस गति में प्रतिपन्न है (स्वीकृत है) वह

उसी ही जाति का माना जाता है । ऐसा स्वीकार करना चाहिये अन्यथा अनवस्था दोष का प्रसंग आयेगा इसलिये सातवी पृथ्वी के नारकी सासादन गुणस्थान के साथ देवों के समान मारणान्तिक समुद्धात नहीं करते । यह बात सिद्ध हुई । *(ध. पु. 4, पृ. 163)*

शंका - क्या सासादन गुणस्थानवर्ती देव सर्वलोकवर्ती एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्धात करते है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, उनके सासादन गुणस्थान की प्रधानता से लोक नाली के बाहर उत्पन्न होने के स्वभाव का अभाव है और लोक नाली के भीतर मारणान्तिक समुद्धात को करते हुए भी भवनवासी लोक के मूलभाग से ऊपर ही देव या तिर्यंच सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मारणान्तिक समुद्धात को करते हैं । उससे नीचे नहीं, क्योंकि ऐसा वे सासादन गुणस्थान की प्रधानता से ही करते हैं ।

सकल सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों का देवों के समान तैजस कायिक और वायुकायिक जीवों में मारणान्तिक समुद्धात का अभाव माना गया है । *(ध.पु. 4, पृ. 164)*

ईषत्प्राग्भार पृथ्वी से ऊपर सासादन सम्यग्दृष्टियों का अकायिक जीवों में मारणान्तिक समुद्धात सम्भव है तथा एक रज्जू प्रतर के भीतर सर्वक्षेत्र को व्याप्त करके स्थित आठवीं पृथ्वी में उन जीवों के मारणान्तिक समुद्धात करने के प्रति कोई विरोध नहीं है । *(ध.पु. 4, पृ. 164)*

मानुषोत्तर पर्वत से परभागवर्ती और स्वयंप्रभाचल से पूर्वभागवर्ती शेष द्वीप समुद्रों में पूर्वभव के वैरी देवों के द्वारा वहाँ ले जाये गये तिर्यंच संयतासंयत जीवों की सम्भावना की अपेक्षा कोई विरोध नहीं है । *(ध.पु. 4, पृ. 169)*

इन्द्रक-श्रेणी बद्ध और प्रकीर्णक नरक बिलों से रुद्ध सर्वक्षेत्र तिर्यग्लोक का असंख्यातवाँ भाग मात्र ही होता है । *(ध.पु. 4, पृ. 193)*

इन्द्रक श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक नरकों में संचार करने वाले नारकी मिथ्यादृष्टियों में तिर्यग्लोक का संख्यातवाँ भाग स्पर्श नहीं किया - क्योंकि नारकियों का स्वक्षेत्र को छोड़कर पक्ष क्षेत्र में गमन नहीं होता है । *(ध.पु. 4, पृ. 173)*

शंका - विग्रह गति में जीवों के विग्रह क्या सहेतुक है या अहेतुक ?

समाधान - अहेतुक तो माना नहीं जा सकता क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता ।

शंका - दूसरा पक्ष सहेतुक है तो उसका कारण कहना चाहिये ?

समाधान - विग्रह का कारण कर्म है क्योंकि संसारी जीवों की सर्व अवस्थाओं का कर्म को छोड़कर और कोई कारण नहीं पाया जाता है । उसमें भी आनुपूर्वी नामक नाम कर्म ही विग्रह का कारण है क्योंकि अन्य सभी प्रकृतियों के पृथक्-पृथक् कार्य पाये जाते हैं तथा पूर्व शरीर को छोड़ने के पश्चात् और उत्तर शरीर को ग्रहण करने के पूर्व अन्तरालवर्ती क्षेत्र में आनुपूर्वी नामकर्म का विपाक (उदय) होता है ऐसा गुरु का उपदेश है । यदि कोई ऐसी आशंका करे कि आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय नहीं होने पर भी मारणान्तिक समुद्धात करने वाले जीवों

के विग्रह पाये जाते हैं इसलिये विग्रह आनुपूर्वी कर्म का फल है ऐसा नहीं माना जा सकता है सौ उसे ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह विग्रह तीर्थंकर प्रकृति के समान निकट भविष्य में उदय हो वाले आनुपूर्वी नामकर्म का फल है । *(ध.पु. 4, पृ. 174)*

दिशा - अपने स्थान से बाण की तरह सीधे क्षेत्र को दिशा कहते हैं । (ये छह ही होती है क्योंकि अन्य दिशाओं का होना असम्भव है ।

विदिशा - अपने स्थान से कर्ण रेखा के आकार से स्थित क्षेत्र को विदिशा कहते हैं ।

(ध.पु. 4, पृ. 226)

चतु:स्थानी - चार स्थानों के समाहार को चतुस्थानी कहते हैं । *(ध.पु. 4, पृ. 287)*

संयम मार्गणा के अनुवाद से न केवल संयम का ही ग्रहण होता है किन्तु संयम-संयमासंयम व असंयम का (तीनों का) ग्रहण होता है ।

शंका - यदि ऐसा है तो इस मार्गणा को संयमानुवाद नाम देना युक्त नहीं है ?

समाधान -नहीं, क्योंकि आम्रवन व निम्बवन के समान प्रधान्य पद का आश्रय लेकर संयमानुवाद से यह व्यपदेश करना युक्तियुक्त हो जाता है । *(ध.पु. 4, पृ. 287)*

लेश्या विशेष

देवों के अपनी आयु के अन्तिम समय पर्यन्त अपनी पूर्ववर्ती तेज पद्म और शुक्ल लेश्याओं का विनाश नहीं होता । *(ध. पु. 4, पृ. 292)*

उपशम सम्यक्त्व काल के भीतर अत्यन्त संक्लेश को प्राप्त हुई थी तिर्यंच और मनुष्य उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के संयतासंयतों के समान कृष्ण, नील और कापोत लेश्यायें नहीं होती, इस प्रकार का एक दूसरा-गुरु का उपदेश है ।

भवनत्रिकों में तीनों अशुभ लेश्याएँ अपर्याप्त काल में ही होती हैं पीछे नियम से शुभ लेश्या हो जाती है । अतएव कृष्ण नील और कापोत लेश्या के साथ रहने वाले भवनत्रिक देवों के उपपाद का अभाव बतलाया है क्योंकि देवों का मरण न तो अपर्याप्त काल में ही बताया है और न पूरी आयु के समाप्त हुए बिना । अत: यह कहना युक्तिसंगत ही है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के साथ रहकर पीछे उपपाद नहीं होता । *(ध.पु. 4, पृ. 293)*

यहाँ पर लेश्या मार्गणा उपपाद-समकाल भाविनी नहीं है ऐसा कहने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार से विवक्षित जीव के पूर्व भव को छोड़ने के पश्चात् उत्तर भव को ग्रहण करने के साथ ही गति-योग-आहार आदि यथा सम्भव कितनी ही मार्गणाएँ परिवर्तित हो जाती हैं इस प्रकार लेश्या मार्गणा परिवर्तित नहीं होती इसका कारण यह है कि जीव जिस लेश्या से मरण करता है उसी लेश्या से उत्पन्न होता है । ऐसा एकान्त नियम है और इसी नियम के कारण भवनत्रिक देवों के अपर्याप्तक काल में तीन अशुभ लेश्याओं का अस्तित्व माना गया है । *(ध. पु. 4, पृ. 293)*

मारणान्तिक समुद्धात और उपपाद पद परिणत कापोत लेश्या वाले असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों ने सामान्य लोक आदि तीन लोकों का असंख्यातवाँ भाग, तिर्यग्लोक का संख्यातवाँ भाग और अढाई द्वीप से असंख्यात गुणा क्षेत्र स्पर्श किया है इसका कारण यह है कि यहाँ पर कापोत लेश्या के साथ असंख्यात द्वीपों में और प्रथम पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों से स्पर्शित क्षेत्र का ग्रहण किया गया है । *(ध. पु. 4, पृ. 294)*

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के मारणान्तिक और उपपाद ये दो पद नहीं होते ।*(ध. पु. 4, पृ. 296)*

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के अधस्तन विमानों में ही तेजो लेश्या होने का उपदेश पाया जाता है । *(ध. पु. 4, पृ. 296)*

तिर्यंच मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों का शुक्ल लेश्या के साथ देवों में उपपाद नहीं होता है । 45 लाख योजन विष्कम्भ से और 5 राजू आयाम से स्थित क्षेत्र को व्याप्त करके शुक्ल लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्यों का ही शुक्ल लेश्या वाले देवों में उपपाद पाया जाता है । स्पर्शन क्षेत्र के उपदेश से जाना जाता है कि शुक्ल लेश्या वाले तिर्यंच शुक्ल लेश्या वाले देवों में नहीं उत्पन्न होते हैं । *(ध. पु. 4, पृ. 300)*

असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों का शुक्ल लेश्या के साथ देवों में उपपाद पाया जाता है और तिर्यंच संयतासंयतो का शुक्ल लेश्या के साथ अच्युत कल्प में उपपाद पाया जाता है, **सम्यग्मिथ्या दृष्टि** शुक्ल लेश्या वालों के मारणान्तिक और उपपाद ये दो पद नहीं होते है । *(ध. पु. 4, पृ. 300)*

तिर्यंचो में उत्पन्न होने वाले बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्यों के असंख्यात द्वीप समुद्रों में रह करके पुनः मरण कर सौधर्म और ईशान कल्पों में उत्पन्न होने वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से स्पर्शित क्षेत्र को, तथा वहाँ से चयकर मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के स्पर्शित क्षेत्र को ग्रहण करके तिर्यग्लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र में पाया जाता है *(ध. पु. 4, पृ. 302)*

मनुष्य गति में ही उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के मारणान्तिक समुद्धात देखा जाता है ।
(ध. पु. 4, पृ. 305)

मनुष्य गति को छोड़कर अन्यत्र उपशम सम्यक्त्व के साथ मरण नहीं पाया जाता है ।
(ध. पु. 4, पृ. 305)

जिसके द्वारा कर्म भव काय और आयु की स्थितियाँ कल्पित या संख्यात की जाती है अर्थात् कही जाती हैं उसे काल कहते हैं । 'काल', 'समय', 'अद्धा' ये सब एकार्थवाची नाम है ।

एक परमाणु का दूसरे परमाणु के व्यतिक्रम में जितना काल लगता है उसे समय कहते है ।
(ध. पु. 4, पृ. 318)

समान दिन और रात्रि की अपेक्षा तो 15 मुहूर्त का दिन और इतने ही मुहूर्तों की रात होती है किन्तु सूर्य के उत्तरायन काल में 18 मुहूर्त का दिन और 12 मुहूर्त की रात होती है तथा सूर्य के दक्षिणायन काल में बारह मुहूर्त का दिन और 18 मुहूर्त की रात हो जाती हैं । *(ध. पु. 4, पृ. 319)*

पाँच वर्षों का एक युग होता है । *(ध. पु. 4, पृ. 320)*

यथार्थ अवबोध को अनुगम कहते हैं। काल के अनुगम को कालानुगम कहते हैं ।

(ध. पु. 4, पृ. 322)

सासादन गुणस्थान से आया हुआ मिथ्यादृष्टि अतिशीघ्र अन्य गुणस्थान को प्राप्त नहीं हो सकता।

भव्य सिद्धिक जीव के मिथ्यात्व का काल एक तो अनादि सान्त होता है जैसा कि वर्द्धनकुमार का मिथ्यात्व काल तथा एक और प्रकार का मिथ्यात्वकाल भव्य सिद्धिक जीवों का होता है जो कि सादि सान्त होता है जैसे कृष्ण आदि का मिथ्यात्व काल । *(ध. पु. 4, पृ. 324)*

शंका - यदि जीव ने आज तक भी समस्त पुद्गल भोग पर नहीं छोड़े हैं तो, इस पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में समस्त पुद्गल इस जीवन ने एक-एक करके पुनः पुनः अनन्त बार भोग करके छोड़े हैं । इस सूत्र गाथा के साथ विरोध क्यों नहीं होगा ?

समाधान - उक्त गाथा सूत्रों के साथ विरोध प्राप्त नहीं होता क्योंकि गाथा में स्थित सर्व शब्द की प्रवृत्ति सर्व के एक भाग में की गई है तथा सर्व के अर्थ में प्रवर्तित होने वाले शब्द की एक देश में प्रवृत्ति होना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि ग्राम जल गया, पद (जनपद) जल गया इत्यादि वाक्यों में उक्त शब्द ग्राम और पदों के एक देश में प्रवृत्त हुए भी पाये जाते हैं । *(ध. पु. 4, पृ. 326)*

प्रथम समय में गृहीत पुद्गल पुंज द्वितीय समय में निर्जीण हो, अकर्म रूप अवस्था को धारण कर पुनः तृतीय समय में उसी ही जीव में परिणत हो जाते हैं यह कैसे जाना ? क्योंकि अबाधा काल के बिना ही नौ कर्म के उदय आदि के निषेकों को उपदेश पाया जाता है । *(ध. पु. 4, पृ. 327)*

नौ कर्म पुद्गल परिवर्तन कहा उसी प्रकार से कर्म पुद्गल परिवर्तन भी कहना चाहिये । विशेष यह है कि नौ कर्म पुद्गल आहार वर्गणा से आते हैं किन्तु कर्म पुद्गल कार्माण वर्गणा से आते हैं। नौ कर्म पुद्गलों के मिश्र ग्रहण का काल तृतीय समय में ही होता है किन्तु कर्म पुद्गलों के मिश्र ग्रहण का काल तीन समय अधिक आवली प्रमाण काल के व्यतीत होने पर होता है । *(ध. पु. 4, पृ. 332)*

जिन वचनों को नहीं पा करके इस जीव ने अतीत काल में पाँचों ही परिवर्तन पुनः पुनः करके अनन्त वार परिवर्तित किये हैं । जिस प्रकार कोई पुरुष नाना प्रकार के वस्त्रों के परिवर्तन को ग्रहण करता है अर्थात् उतारता पहिनता है, उसी प्रकार से यह जीव भी पुद्गल परिवर्तन काल में नाना शरीरों को छोड़ता और ग्रहण करता है *(ध.पु. 4, पृ. 334)*

अतीत काल में एक जीव के सबसे कम भाव परिवर्तन के वार है, उससे अनन्त गुणे (भावपरिवर्तन से) भव परिवर्तन के बार, उससे अनन्त गुणे काल परिवर्तन के वार, उससे अनन्त गुणे क्षेत्र परिवर्तन के बार और उससे अनन्त गुणे पुद्गल परिवर्तन के वार हैं ।

काल - पुद्गल परिवर्तन का काल सबसे कम है इससे (पुद्गल परिवर्तन से) अनन्त गुणा क्षेत्र

परिवर्तन का काल, क्षेत्र परिवर्तन से अनन्त गुणा काल, काल परिवर्तन का काल, काल परिवर्तन से अनन्त गुणा भव परिवर्तन का काल, भव परिवर्तन से भाव परिवर्तन का काल अनन्त गुणा है । विशेष जानकारी हेतु देखें **(सर्वार्थ सिद्धि 2-10, व जीवकांड गाथा 560 टीका)** *(ध.पु. 4, पृ. 334)*

अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के लिये यहाँ बताये गये पाँचों परिवर्तनों में से यहाँ पर पुद्गल परिवर्तन से प्रयोजन है क्योंकि दोनों के काल में भेद नहीं है । *(ध.पु. 4, पृ. 335)*

यहाँ कर्म और नौ कर्म पुद्गल परिवर्तनों में से दोनों ही परिवर्तनों से प्रयोजन है क्योंकि दोनों के काल में भेद नहीं है । *(ध.पु. 4, पृ. 335)*

इस पुद्गल परिवर्तन काल का कुछ कम अर्धभाग सादि सान्त मिथ्यात्व का काल होता है । **विशेष** - एक अनादि मिथ्यादृष्टि अपरीत संसारी (जिसका संसार बहुत शेष है) जीव अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण, इस प्रकार तीनों ही करणों को करके सम्यक्त्व ग्रहण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्व गुण के द्वारा पूर्ववर्ती अपरीत संसारीपना हटाकर व परीत संसारी होकर के अधिक से अधिक पुद्गल परिवर्तन के आधे काल प्रमाण ही संसार में ठहरता है । तथा सादि सान्त मिथ्यात्व का काल कम से कम अन्तर मुहूर्त मात्र है । *(ध.पु. 4, पृ. 335)*

सम्यक्त्व ग्रहण करने के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व पर्याय नष्ट हो जाता है । *(ध.पु. 4, पृ. 335)*

चौदह अन्तर्मुहूर्तों से कम अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण सादि और सान्त मिथ्यात्व का काल होता है । *(ध.पु. 4, पृ. 335)*

जो अक्रम से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों वाला होता है वह द्रव्य है और जो क्रम से उत्पाद, स्थिति और व्यय वाला होता है वह पर्याय है, इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है । *(ध.पु. 4, पृ. 337)*

व्यय के होते रहने पर भी अनन्त काल के द्वारा भी जो राशि समाप्त नहीं होती है उसे महर्षियों ने 'अनन्त' इस नाम से विनिर्दिष्ट किया है । *(ध.पु. 4, पृ. 338)*

यदि उपशम सम्यक्त्व का काल छह आवली प्रमाण अवशिष्ट होवे तो जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है इससे अधिक (साधिक छह आवली) काल अवशेष रहने पर सासादन गुणस्थान प्राप्त होने का अभाव है । अर्थात् सासादन गुण को प्राप्त नहीं होता । *(ध.पु. 4, पृ. 342)*

यदि अप्रमत्त संयत जीव के संक्लेश की वृद्धि हो तो प्रमत्त संयत गुणस्थान को और यदि विशुद्धि की वृद्धि हो तो अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त होता है यदि अप्रमत्त संयत जीव का मरण हो तो असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को छोड़कर दूसरे गुणस्थानों में गमन नहीं होता है । *(ध.पु. 4, पृ. 343)*

तृतीय गुणवर्ती मिथ्यात्व सहित प्रथम गुणस्थान को व सम्यक्त्व सहितचतुर्थ गुणस्थान को छोड़कर दूसरे गुण में गमन का अभाव है यह स्वभाव है । *(ध.पु. 4, पृ. 343)*

एक मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्ध होता हुआ सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ पुनः सर्व लघु अन्तमुहूर्त काल रहकर विशुद्ध होता हुआ ही असंयम सहित सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ अर्थात् एक जीव की अपेक्षा तीसरे गुण का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है । *(ध.पु. 4, पृ. 344)*

सर्व काल जिन जीवों के होता है वे सर्वाद्धा कहलाते हैं । अर्थात् 'सर्वकाल सम्बन्धी जीव' यह 'सर्वाद्धा' पद का अर्थ है । *(ध.पु. 4, पृ. 346)*

एक जीव की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि जीव का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है ।

विशेष - जिसने पहले असंयम सहित सम्यक्त्व में बहुत बार परिवर्तन किया है ऐसा कोई एक मोहकर्म की 28 प्रकृतियों की सत्ता रखने वाला जीव मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि या संयतासंयत या प्रमत्त संयत जीव असंयत सम्यग्दृष्टि हुआ फिर वह सर्व लघु अन्तर्मुहूर्त काल रह करके मिथ्यात्व को अथवा सम्यग्मिथ्यात्व को अथवा संयमासंयम या अप्रमत्त भाव के साथ संयम को प्राप्त हुआ । ऊपर के गुणस्थानों से संक्लेश के साथ जो असंयत-गुण सम्यक्त्व को प्राप्त हुए हैं वे जीव उसी अविनष्ट संक्लेश सम्यक्त्व के साथ मिथ्यात्व या सम्यक्त्व मिथ्यात्व को प्राप्त करना चाहिए तथा जो अधःस्तन गुणस्थानों से विशुद्धि के साथ असंयम सहित सम्यक्त्व को प्राप्त हुए है वे जीव उसी अविनष्ट विशुद्धि के साथ संयमासंयम को अथवा अप्रमत्तभाव के साथ संयम को ले जाना चाहिये अन्यथा असंयत सम्यक्त्व का जघन्य काल नहीं बन सकता है । *(ध.पु. 4, पृ. 346-347)*

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के देशविरत रूप पर्याय से परिणमन की शक्ति का होना असम्भव है अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव न तो मरता है न संयम को प्राप्त होता है न देश संयम को और न मारणान्तिक समुद्धात को ही प्राप्त होता है । *(ध.पु. 4, पृ. 349)*

अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर जब तक निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का बंध व्युच्छिन्न नहीं हो जाता तब तक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती संयतों का मरण नहीं होता । *(ध.पु. 4, पृ. 352)*

सातवीं पृथ्वी में नारकों का मनुष्यों में उपपाद नहीं होता तथा असंयत सम्यग्दृष्टियों के भी नारक और तिर्यंच आयु के बंध का अभाव है ।

विशेष - जिस गुणस्थान से आयु का बंध सम्भव है उस ही गुणस्थान से उसका निर्गमन भी होता है । *(ध.पु. 4, पृ. 363)*

मिथ्यादृष्टि जीवों के बिना किसी काल में तिर्यंच गति नहीं पाई जाती है *(ध.पु. 4, पृ. 363)*

सातवीं पृथ्वी में छह अन्तर्मुहूर्तों से कम उत्कृष्ट स्थिति होती है क्योंकि वहाँ से मिथ्यात्व गुण के बिना निगर्मन का अभाव है । अर्थात् मिथ्यात्व के बिना अन्य गुणस्थानों से निकलना नहीं हो सकता । *(ध.पु. 4, पृ. 362)*

अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों ही कालों में असंयत सम्यग्दृष्टि से रहित जीवों से तिर्यंच गति नहीं पाई जाती है । *(ध.पु. 4, पृ. 365)*

अनेक आयु स्थितियों के समूह को भव स्थिति कहते हैं । *(ध.पु. 4, पृ. 398)*

कोई एक जीव अन्य काय से आ करके निगोदिया जीवों में उत्पन्न हुआ वहाँ पर अढाई पुद्गल परावर्तन काल तक परिभ्रमण करके अन्य काय को प्राप्त हो गया ।

बादर निगोद जीवों का काल बादर पृथ्वी कायिक जीवों के समान है अर्थात् नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण और उत्कृष्ट काल कर्म स्थिति प्रमाण है । *(ध.पु. 4, पृ. 407)*

त्रस कायिक जीवों का उत्कृष्ट काल पूर्व कोटि पृथक्त्व से अधिक 2 हजार सागरोपम और त्रस कायिक पर्याप्तकों का उत्कृष्ट काल पूरे दो हजार सागरोपम प्रमाण है (स्थावर काय से त्रस काय में उत्पन्न हुए जीव का) इसके ऊपर त्रस काय में रहना सम्भव नहीं है । *(ध.पु. 4, पृ. 408)*

देवों से आकर एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले जीव के जघन्य अपर्याप्त काल नहीं पाया जाता है । *(ध.पु. 4, पृ. 418)*

कोई एक स्त्री वेदी सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा संयतासंयत अथवा प्रमत्त संयत जीव परिणामों के निमित्त से मिथ्यात्व को प्राप्त होकर सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण रह करके अन्य गुणस्थान को चला गया । *(ध.पु. 4, पृ. 437)*

8-9-10 उपशामक गुणेवर्ती जीवों के कषाय के उदय का अन्तर्मुहूर्त काल से ऊपर निश्चय से विनाश होता है इस प्रकार गुरु का उपदेश है । *(ध.पु. 4, पृ. 447)*

कृष्णलेश्या से परिणत जीव के तदनन्तर ही कापोत लेश्या रूप परिणमन शक्ति का होना असम्भव है । *(ध.पु. 4, पृ. 456)*

एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ दूसरा देश संयम के साथ उसी उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ, दोनों ही जीव सर्वजघन्य काल अपने-अपने गुणस्थान में रह करके उपशम सम्यक्त्व के काल में छह आवलियाँ अवशेष रह जाने पर सासादन गुणस्थान को प्राप्त हुए यह दोनों को गुणस्थानों जघन्य काल है । *(ध.पु. 4, पृ. 483)*

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 5.

उपशम सम्यक्त्व के बिना सासादन गुणस्थान के ग्रहण करने का अभाव है ।

शंका - यह जीव उपशम सम्यक्त्व को भी अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही क्यों नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान - नहीं क्योंकि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व को प्राप्त होकर, सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति की अवहेलना करता हुआ उनकी अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को घात करके जब तक सागरोपम से अथवा सागरोपम पृथक्त्व से नीचे नहीं करता है तब तक उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करना सम्भव नहीं है ।

(ध.पु. 5 पृ. 10)

उपशम श्रेणी से उतरने वाले जीवों के सासादन गुणस्थान में गमन करने का अभाव है ।

(ध.पु. 5 पृ. 11)

शंका - नीचे के प्रमत्त आदि गुणस्थानों में भेजकर अप्रमत्त संयत का जघन्य अन्तर क्यों नहीं बताया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, उपशम श्रेणी के सभी गुणस्थानों के कालों से प्रमत्तादि नीचे के एक गुणस्थान का काल भी संख्यात गुणा होता है । *(ध.पु. 5 पृ. 14)*

सातों पृथ्वियों में मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टियों से रहित नारकियों की सदा उपलब्धि नहीं होती । उक्त दोनों गुणस्थानों का एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । क्योंकि प्रथम और चतुर्थ इन दोनों को ही अन्य गुणस्थानों में ले जाकर सर्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल से पुनः उसी गुणस्थान में पहुँचाने पर अन्तर्मुहूर्त मात्र काल का अन्तर पाया जाता है ।

(ध.पु. 5, पृ,. 27)

प्रथम और चतुर्थ गुणस्थानों का सातवी पृथ्वी में देशोन का प्रमाण छह अन्तर्मुहूर्त मात्र है । शेष अर्थात् प्रथम से लगाकर छठी पृथ्वी तक की छह पृथ्वियों में मिथ्यादृष्टि नारकियों की उत्कृष्ट अन्तर चार अन्तर्मुहूर्तों से कम अपनी आयु स्थिति प्रमाण है । *(ध.पु. 5, पृ,. 28)*

शंका - चार अन्तर्मुहूर्त कौन से ?

समाधान - छहों पर्याप्तियों के सम्यक् निष्पन्न करने में एक, विश्राम में दूसरा, विशुद्धि को आपूरण करने में तीसरा और आयु के अन्त में मिथ्यात्व को प्राप्त होने का चौथा अन्तर्मुहूर्त है ।

सर्व गतियों से सम्यग्मिथ्यात्व दृष्टियों के निकलने का क्रम - जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर और आयु को बांधकर सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व के साथ ही उस गति से निकलता

है, अथवा जो मिथ्यादृष्टि होकर और आयु को बांधकर सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, वह मिथ्यात्व के साथ ही निकलता है । *(ध.पु. 5, पृ. 31)*

जिस गुणस्थान से आयु को बांधा था, उसी गुणस्थान से मरकर देव हुआ *(ध.पु. 5, पृ. 41)*

सम्मूर्च्छिम जीवों में स्त्रीवेद और पुरुष वेद स्वभाव से ही नहीं होते । *(ध.पु. 5, पृ. 41)*

मनुष्य लब्ध्य पर्याप्तकों का अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य से एक समय है । बढ़ी हुई इसी राशि के अन्तर यह इस राशि का स्वभाव है और स्वभाव से युक्तिवाद का प्रवेश नहीं होता है । *(ध.पु. 5, पृ. 56)*

मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तकों का उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है । एक जीव की अपेक्षा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का जघन्य अन्तर क्षुद्र भव ग्रहण प्रमाण है, क्योंकि अविवक्षित लब्ध्यपर्याप्तकों में उत्पन्न होकर अति स्वल्प काल से पुनः लब्ध्यपर्याप्तकों में आये हुए जीव के क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण अन्तर पाया जाता है । *(ध.पु. 5, पृ. 56)*

संज्ञी सम्मूर्च्छिय पंचेन्द्रियों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व के ग्रहण करने का अभाव है । तथा एकेन्द्रियों में दीर्घकाल तक रहने वाले और उद्वेलना की है सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति की जिसने, ऐसे जीव के वेदक सम्यक्त्व का उत्पन्न कराना सम्भव नहीं है । *(ध.पु. 5, पृ. 73)*

एकेन्द्रिय जीवों की स्थिति में स्थित कोई एक जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों में उत्पन्न हुआ, संयतासंयत का उत्कृष्ट अन्तर में कहा गया है ।

शंका - उक्त जीव को असंज्ञी सम्मूर्च्छिय पर्याप्तकों में क्यों नहीं उत्पन्न कराया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि उनमें संयमासंयम को ग्रहण करने का अभाव है । *(ध.पु. 5, पृ. 84)*

नवमें और दशवें दोनों उपशामकों का एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर ऊपर चढ़कर नीचे उतरने वाले जीवों के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण पाया जाता है । तथा उत्कृष्ट अन्तर भी एक जीव की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है । *(ध.पु. 5, पृ. 110)*

संज्ञी सम्मूर्च्छिय पर्याप्तकों में संयमासंयम के समान अवधि ज्ञान और उपशम सम्यक्त्व की सम्भवता का अभाव है । *(ध.पु. 5, पृ. 118)*

शंका - यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान - उपशम सम्यक्त्व - पंचेन्द्रियों में दर्शन मोह का उपशम करता हुआ गर्भोत्पन्न जीवों में ही उपशमन करता हैं सम्मूच्छियों में नहीं । (यह चूलिका सूत्र से जाना जाता है)

शंका - अवधि ज्ञान का अभाव कैसे ?

समाधान - क्योंकि सम्मूर्च्छनं में अवधिज्ञान को उत्पन्न कराके अन्तर के प्ररूपण करने वाले आचार्यों का अभाव है । *(ध.पु. 5, पृ. 119)*

शंका - गर्भोत्पन्न जीवों में व्यतीत किये गये 48 दिनों में अवधि ज्ञान उत्पन्न करके अन्तर को क्यों नहीं प्राप्त कराया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि उनमें भी अवधिज्ञान की सम्भवता की प्ररूपणा करने वाले व्याख्यानाचार्यों का अभाव है । *(ध.पु. 5, पृ. 119)*

शंका - मन: पर्ययज्ञानी अप्रमत्त संयत को उपशम श्रेणी पर चढ़ाकर पुन: अन्तर को प्राप्त क्यों नहीं कराया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि उपशम श्रेणी सम्बन्धी सभी (चार चढ़ने के और तीन उतरने के) गुणस्थानों के कालों से अकेले प्रमत्त संयत का काल ही संख्यातगुणा होता है ।*(ध.पु. 5, पृ. 125)*

अकषायी जीवों के यथाख्यात संयम के बिना अन्य संयम का अभाव है ।*(ध.पु. 5, पृ. 133)*

सम्मूर्च्छिय जीवों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति असम्भव है तथा असंख्यातवा संख्यात लोक प्रमाण या अनन्त काल तक अचक्षुदर्शनियों में परिभ्रमण किये हुए जीवों के वेदक सम्यक् को ग्रहण करना सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसे जीवों के सम्यक्त्वोंत्पत्ति का विरोध है और न अल्प काल तक रहे हुए जीव चक्षुदर्शन की स्थिति के समाप्त करने में समर्थ है । *(ध.पु. 5, पृ. 139)*

उपशान्त कषाय गुणस्थान के अभाव का तात्पर्य है कि 11वें गुणस्थान से ऊपर तो चढ़ता नहीं क्योंकि ऊपर क्षपकों का गमन है यदि नीचे उतरकर पुन: चढ़े तो उपशम श्रेणी चढ़े तो नीचे के गुणस्थानों में शुक्ललेश्या से पीतादि लेश्या परिवर्तन हो पायेगा क्योंकि वहाँ पर एक लेश्या के काल से गुणस्थान का काल बहुत बनाया गया है । *(ध.पु. 5, पृ. 153)*

आठवें नौवें तथा दशवें गुणस्थानवर्ती तीनों उपशामकों का एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है जैसे उपशम श्रेणी पर चढ़कर आदि करके फिर भी ऊपर जाकर और उतरकर विवक्षित गुणस्थान को प्राप्त होने वाले जीव में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य अन्तर होता है इसी प्रकार उत्कृष्ट प्ररूपणा भी जानना, विशेष यह है कि उपशम श्रेणी पर द्वितीय बार चढ़ने वाले जीव के जघन्य अन्तर होता है और प्रथम बार चढ़कर उतरे हुए जीव के उत्कृष्ट अन्तर होता है । *(ध.पु. 5, पृ. 169)*

शंका - उपशम श्रेणी से नीचे उतरे हुए जीव के वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त हुए बिना पहले वाले उपशम सम्यक्त्व के द्वारा पुन: उपशम श्रेणी पर समारोहण करने की सम्भावना का अभाव है । यह कैसे जाना ?

समाधान - क्योंकि उपशम श्रेणी के समारोहण योग्य काल से शेष उपशम सम्यक्त्व का काल अल्प पाया जाता है । *(ध.पु. 5, पृ. 170)*

एक ही गुणस्थान या जीव समास में जो बहुत से भाव आकर एकत्रित होते हैं उन भावों की सांनिपातिक ऐसी संज्ञा है । *(ध.पु. 5, पृ. 193)*

दर्शन मोहनीय कर्म के उपशमादिक के संयमासंयमादि भावों की उत्पत्ति न होने से संयमासंयम कोऔपशमिक भाव नहीं कहा है । *(ध.पु. 5, पृ. 203)*

शंका - **अपूर्व करणादि शेष गुणस्थानवर्ती जीवों के औपशमिक भाव नहीं माना जा सकता है क्योंकि उन गुणस्थानों में समस्त मोहनीय कर्म के उपशम का अभाव है ?**

समाधान - नहीं क्योंकि, कुछ कषायों के उपशमन किये जाने से उत्पन्न हुआ है उपशम परिणाम जिनके, ऐसे अनिवृत्ति करण बादर साम्पराय और सूक्ष्म साम्पराय संयत के उपशम भाव का अस्तित्व मानने में कोई विरोध नहीं है ।

शंका - **नहीं उपशमन किया है किसी भी कषाय का जिसने ऐसे अपूर्वकरण संयत के औपशमिक भाव कैसे माना जा सकता है ?**

समाधान - नहीं, क्योंकि अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा प्रतिसमय असंख्यात गुण श्रेणी रूप से कर्मस्कन्धों की निर्जरा करने वाले तथा स्थिति और अनुभाग कांडकों को घात करके कषायों की स्थिति और अनुभाग को क्रम से संख्यात और अनन्त गुणित हीन करने वाले, तथा उपशमन क्रिया का प्रारम्भ करने वाले ऐसे अपूर्वकरण संयत के उपशम भाव के मानने में कोई विरोध नहीं है ।

विशेष - कर्म के उपशम पर होने वाला भाव औपशमिक कहलाता है और कर्मों के उपशमनार्थ उत्पन्न हुआ भी भाव औपशमिक कहलाता है यह सिद्ध हुआ । अथवा भविष्य में होने वाले उपशम भाव में भूतकाल का उपचार करने से अपूर्वकरण के औपशमिक भाव बन जाता है जिस प्रकार कि सब प्रकार के असंयम में प्रवृत्त हुए चक्रवर्ती तीर्थंकर के 'तीर्थंकर यह व्यपदेश बन जाता है । *(ध.पु. 5, पृ. 204-205)*

पंचेन्द्रिय तिर्यंच यो नियमितियों में उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यक् दृष्टि जीवों का ही पाया जाना सम्भव है । कारण कि बद्धायु एक क्षायिक सम्यग्दृष्टियों की स्त्रीवेदियों में उत्पत्ति नहीं होती है तथा मनुष्य गति के अतिरिक्त शेष गतियों में दर्शन मोहनीय कर्म की क्षपणा का अभाव है इसलिये पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनियों में क्षायिक भाव नहीं पाया जाता । *(ध.पु. 5, पृ. 213)*

उपशम सम्यक्त्व के साथ उपशम श्रेणी पर चढ़ते और उतरते हुए मरण कर देवों में उत्पन्न होने वाले संयतों के उपशम सम्यक्त्व पाया जाता है । *(ध.पु. 5, पृ. 216)*

चारों गतियों के उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों का मरण नहीं होने से औदारिक मिश्र काय योग में उपशम सम्यक्त्व का सद्भाव नहीं पाया जाता ।

शंका - **उपशम श्रेणी पर चढ़ते और उतरते हुए संयत जीवों का उपशम सम्यक्त्व के साथ तो मरण पाया जाता है ?**

समाधान - यह कथन सत्य है किन्तु उपशम श्रेणी में मरने वाले वे जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ औदारिक मिश्र काय योगी नहीं होते हैं क्योंकि देवगति को छोड़कर उनकी अन्यत्र उत्पत्ति का अभाव है । *(ध.पु. 5, पृ. 219)*

दर्शन मोहनीय के क्षपण का प्रारम्भ करने वाला जीव अथवा कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि जीव उपशम श्रेणी पर नहीं चढ़ता है । (ध.पु. 5, पृ. 233)

असंख्यात योजन विस्तृत एवं कर्मभूमि के प्रतिभाग रूप स्वयंप्रभ पर्वत के परभाग में संयमासंयम गुण सहित असंख्यात तिर्यंच पाये जाते हैं । *(ध. पु. 5, पृ. 248)*

अणुव्रत सहित क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का होना अत्यन्त दुर्लभ है तथा तिर्यंचों में क्षायक सम्यक्त्व के साथ संयमासंयम पाया नहीं जाता है क्योंकि तिर्यंचों में दर्शनमोहनीय की क्षपणा का अभाव है । दर्शन मोहनीय का क्षपण करने वाले जीव नियम से मनुष्य गति में होते हैं ।

(ध. पु. 5, पृ. 256)

तीनों उपशामक गुणस्थानों में उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम है उनसे क्षायिक सम्यक्दृष्टि जीव संख्यात गुणित हैं, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का यहाँ द्रव्य प्रमाण अधिक पाया जाता है, उपशम श्रेणी में वेदक सम्यग्दृष्टि जीव नहीं पाये जाते हैं क्योकि वेदक सम्यक्त्व के साथ उपशम श्रेणी के आरोहण का अभाव है । *(ध. पु. 5, पृ. 259)*

क्षपक श्रेणी वालों के क्षायिक सम्यक्त्व को छोड़कर अन्य सम्यक्त्व नहीं पाया जाता है ।

(ध. पु. 5, पृ. 260)

जो अल्प होती है वह अधस्तन राशि है और जो बहुत होती है वह उपरिम राशि कहलाती है।

(ध. पु. 5, पृ. 262)

नीचे के छह पृथ्वियों में क्षायिक सम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति नहीं होती है और मनुष्य गति को छोड़कर अन्य गतियों में दर्शन मोहनीय की क्षपणा नहीं होती । *(ध. पु. 5, पृ. 267)*

दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाले और देश संयम में वर्तमान बहुत जीवों का अभाव है, दर्शन मोहनीय का क्षय करने वाले मनुष्य प्राय: असंयमी होकर रहते हैं । वे संयम को प्राप्त होते हुए प्राय: महाव्रतों को ही धारण करते हैं, अणुव्रतों को नहीं । क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयतों से उपशम सम्यग्दृष्टि संयतासंयत मनुष्य बहुत पाये जाते हैं ।

उपशम सम्यग्दृष्टियों से वेदक सम्यग्दृष्टियों की आयु अधिक है अथवा संचय काल अधिक है अथवा उपशम सम्यक्त्व को देखते हुए उसकी अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व का काल पाना सुलभ है ।

(ध. पु. 5, पृ. 277)

उपशम सम्यक्त्व के साथ उपशम श्रेणी में मरे हुए जीवों का प्रमाण अत्यन्त अल्प होता है । उपशम श्रेणी में मरे हुए उपशामकों के संख्यात गुणित असंयत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों की अपेक्षा क्षायिक सम्यादृष्टियों का संचय सम्भव है । *(ध. पु. 5, पृ. 297)*

अत्यन्त अल्प उपशम सम्यक्त्व के काल में आहारक ऋद्धि का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है न उपशम सम्यक्त्व के साथ उपशम श्रेणी में आहारक ऋद्धि पाई जाती है । क्योंकि वहाँ पर प्रमाद का

अभाव है । न उपशम श्रेणी से उतरे हुए जीवों के भी उपशम सम्यक्त्व के साथ आहारक ऋद्धि पाई जाती है क्योंकि जितने काल के द्वारा आहारक ऋद्धि उत्पन्न होती है । उपशम सम्यक्त्व का उतने काल तक अवस्थान नहीं रहता है । *(ध. पु. 5, पृ. 298)*

उपशम श्रेणी में मरे हुए जीवों का प्रमाण संख्यात ही होता है । *(ध. पु. 5, पृ. 299)*

अप्रशस्त वेद के उदय के साथ दर्शन मोहनीय के क्षपण करने वाले बहुत जीवों का अभाव है। *(ध. पु. 5, पृ. 310)*

उपशम श्रेणी से उतरने वाले अथवा उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले मन:पर्यय ज्ञानी थोड़े जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ पाये जाते हैं । *(ध. पु. 5, पृ. 321)*

छठवे सातवें गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व के साथ बहुत से मन:पर्यय ज्ञानी मुनिवर पाये जाते हैं । अर्थात् उपशम सम्यक्त्वियों से क्षायिक सम्यक्दृष्टि जीव संख्यात गुणित है *(ध. पु. 5, पृ. 321)*

एक समय में एक साथ छह तीर्थंकर क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं । दश प्रत्येक बुद्ध, एक सौ आठ बोधित बुद्ध और स्वर्ग से च्युत होकर आये हुए उतने ही जीव अर्थात् 108 जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं । उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं । जघन्य अवगाहना वाले चार और ठीक मध्यम अवगाहना करने वाले आठ जीव एक साथ क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं । पुरुष वेद के उदय के साथ 108 नपुंसक वेद के उदय से दश और स्त्रीवेद के उदय से बीस जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं । इन पूर्वोक्त जीवों के आधे प्रमाण जीव उपशम श्रेणी पर चढ़ते हैं ।

(ध. पु. 5, पृ. 323)

क्षयोपशम सम्यक्त्व का प्रचुरता से होना सम्भव है यहाँ परिहार विशुद्धि संयतों में उपशम सम्यक्त्व नहीं होता है क्योंकि तीस वर्ष के बिना परिहार शुद्धि संयम का होना सम्भव नहीं है और न उतने काल तक उपशम सम्यक्त्व का अवस्थान रहता हैं जिससे कि परिहार शुद्धि संयम के साथ उपशम सम्यक्त्व की उपलब्धि हो सके ? दूसरी बात यह है कि परिहार शुद्धि संयम को नहीं छोड़ने वाले जीव के उपशम श्रेणी पर चढ़ने के लिये दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होना भी सम्भव नहीं है । जिससे कि उपशम श्रेणी में उपशम सम्यक्त्व और परिहार शुद्धि संयम इन दोनों का भी संयोग हो सके । *(ध. पु. 5, पृ. 327)*

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 6.

जिन्होंने एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त किया है ऐसे जीवों को अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल से ऊपर संसार का अभाव हो जाता है । *(ध.पु. 6, पृ,. 3)*

विविध प्रकार के भाषण अर्थात् कथन करने को विभाषा कहते हैं । विभाषा-प्ररूपणा-निरूपणा और व्याख्यान ये सब एकार्थ वाचक नाम है । *(ध.पु. 6, पृ,. 5)*

प्रकृतियों के समुत्कीर्तन को प्रकृति समुत्कीर्तन कहते हैं । *(ध.पु. 6, पृ,. 5)*

शंका - 'ज्ञानावरण' नाम के आवरण के स्थान पर 'ज्ञान विनाशक' ऐसा नाम क्यों नहीं दिया?

समाधान - नहीं, क्योंकि जीव के लक्षण स्वरूप ज्ञान और दर्शन का विनाश नहीं होता है, यदि ज्ञान का और दर्शन का विनाश हो जाय तो जीव का भी विनाश हो जायेगा, क्योंकि लक्षण से रहित लक्ष्य पाया नहीं जाता है । *(ध.पु. 6, पृ,. 6)*

अक्षर का अनन्तवाँ भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित अर्थात् आवरण रहित रहता है । *(ध.पु. 6, पृ,. 7)*

आवारक - आवरण करने वाले विरोधी द्रव्य को आवारक कहते हैं । चूंकि विरोधी कर्म द्रव्य के सन्निधान होने पर ज्ञान का निर्मूल विनाश नहीं होता है क्योंकि वैसा मानने पर जीव के विनाश का प्रसंग आता है इसलिये ज्ञान तो आप्रियमाण है और कर्मद्रव्य आवारक है ऐसा कहा गया है। *(ध.पु. 6, पृ,. 8)*

अभिनिबोध - अभिमुख और नियमित अर्थ के अवबोध को अभिनिबोध कहते हैं ।

अभिमुख - स्थूल वर्तमान और अनन्तरित (व्यवधान रहित) अर्थों को अभिमुख कहते हैं । *(ध.पु. 6, पृ,. 15)*

आशु अर्थात् शीघ्रतापूर्वक वस्तु को ग्रहण करना क्षिप्र अवग्रह है । *(ध.पु. 6, पृ,. 20)*

अक्षर - क्षरण अर्थात् विनाश के अभाव होने से केवल ज्ञान अक्षर कहलाता है *(ध.पु. 6, पृ,. 21)*

अवधि - जो नीचे की ओर प्रवृत्त हो उसे अवधि कहते हैं । *(ध.पु. 6, पृ,. 25)*

जिस कर्म के उदय से आप्त आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता होती है वह **सम्यक्प्रकृति** है ।

जिस कर्म के उदय से आप्त आगम और पदार्थों में अश्रद्धा होती है वह मिथ्यात्व प्रकृति है ।

जिस कर्म के उदय से आप्त आगम और पदार्थों के अश्रद्धा होती है तथा उनके प्रतिपक्षियों में अर्थात् कुदेव-कुशास्त्र और कुतत्त्वों में युगपत श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति है ।

सम्यग्दर्शन का घात नहीं करने वाला संदेह, सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होता है किन्तु सर्वसन्देह अर्थात् सम्यग्दर्शन का सम्पूर्ण रूप से घात करने वाला संदेह और मूढत्व मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होता है । *(ध.पु. 6, पृ,. 39)*

वस्तु के परिणाम को भाव कहते हैं । *(ध.पु. 6, पृ,. 46)*

शरीर बन्धन - शरीर के लिये आये हुए, जीव सम्बद्ध पुद्गल स्कन्धों का जिन जीव सम्बद्ध और उदय प्राप्त पुद्गलों के साथ परस्पर बंध किया जाता है, उन पुद्गल स्कन्धों की शरीर बन्धन यह संज्ञा है । यदि शरीर बन्धन नाम कर्म जीव के न हो तो बालुका द्वारा बनाये गये पुरुष शरीर (पुतला) के समान जीव का शरीर होगा क्योंकि परमाणुओं का परस्पर में बन्ध नहीं है ।

शरीर संघात - उदय को प्राप्त जिन कर्म स्कन्धों के द्वारा बंधन नाम कर्म के उदय से बंध के लिये आये हुए शरीर सम्बन्धी पुद्गल स्कन्धों का मृष्टत्व अर्थात् छिद्र रहित संश्लेष किया जाता है उन पुद्गल स्कन्धों की 'शरीर संघात' यह संज्ञा है । यदि शरीर संघात नाम कर्म जीव के न हो तो तिल के मोदक के समान अपुष्ट शरीर वाला जीव हो जावे किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, तिल के मोदक के समान संष्लेश रहित परमाणुओं वाला शरीर नहीं पाया जाता । *(ध.पु. 6, पृ,. 53)*

संस्थान - जाति नामकर्म के उदय से परतन्त्र, जिन कर्म स्कन्धों के उदय से शरीर का आकार बनता है । वह **शरीर संस्थान** नामकर्म है, इसके अभाव में जीव का शरीर आकृति रहित हो जायेगा । *(ध.पु. 6, पृ,. 53)*

आंगोपांग - जिस कर्म स्कन्ध के उदय से शरीर के अंग उपांगों की निष्पत्ति होती है उस कर्म स्कन्ध का नाम शरीरांगोपांग है । इस नाम कर्म के नहीं मानने पर आठों अंग और उपांगों का अभाव हो जायेगा लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि अंग और उपांगों का अभाव पाया नहीं जाता है ।

संहनन - जिस कर्म के उदय से शरीर मे हड्डी और उसकी संधियों अर्थात् संयोग स्थानों की निष्पत्ति होती है उस कर्म की संहनन यह संज्ञा है । इस कर्म के अभाव में शरीर-देवों के शरीर के समान हो जायेगा । इसका अभाव भी इष्ट नहीं है क्योंकि, तिर्यंच और मनुष्यों के शरीरों में हाडों का समूह पाया जाता है । *(ध.पु. 6, पृ,. 54)*

वर्ण - जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में वर्ण की उत्पत्ति होती है उन कर्म स्कन्धों की वर्ण यह संज्ञा है ।

इस कर्म के अभाव में अनियत वर्ण वाला शरीर हो जायेगा, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, क्योंकि भौंरा, कोयल, हंस और बगुला आदि में निश्चित वर्ण पाये जाते हैं ।

गंध - जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के प्रति नियत गंध उत्पन्न होता है उस कर्म स्कन्ध की 'गन्ध' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से की गई है, यदि गन्ध नामकर्म न हो तो जीव के शरीर की गन्ध अनियत हो जायेगी । (इसका अभाव भी इष्ट नहीं है क्योंकि हाथी और वाघ आदि में नियत गन्ध पाई जाती है ।

रस - जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के प्रति नियत तिक्त आदि रस उत्पन्न हो तो उस कर्म स्कन्ध की 'रस' यह संज्ञा है । इस कर्म के अभाव में जीव के शरीर में जाति प्रति नियत रस नही होगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि नीम, आम और नींबू आदि में नियत रस पाया जाता है । *(ध.पु. 6, पृ,. 55)*

स्पर्श - जिस कर्म स्कन्धों के उदय से जीव के शरीर में जाति प्रविनिया स्पर्श उत्पन्न होता है उस कर्म स्कन्ध की कारण में कार्य के उपचार से स्पर्श यह संज्ञा है, यदि स्पर्श नाम कर्म न हो तो जीव का शरीर अनियत स्पर्श वाला होगा - किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि कमल के स्व पुष्प फल और कमल नाल आदि में नियत स्पर्श पाया जाता है । *(ध.पु. 6, पृ,. 56)*

आनुपूर्वी - पूर्व और उत्तर शरीरों के अन्तरालवर्ती एक दो और तीन समय में वर्तमान जीव के जिस कर्म के उदय से जीव प्रदेशों का विशिष्ट आकार विशेष होता है उस कर्म की आनुपूर्वी यह संज्ञा है । यदि आनुपूर्वी नाम कर्म न हो तो विग्रह गति के काल में जीव अनियत संस्थान वाला हो जायेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जाति प्रति नियत संस्थान विग्रह काल में पाया जाता है । (आनपूर्वी नाम कर्म से इच्छित गति में गमन होता है और विहायोगति नामकर्म का उदय औदारिकादि तीनों शरीरों के उदय के बिना उदय नहीं होता है ।

विग्रहगति में आकार विशेष को बनाये रखना और इच्छित गति में गमन कराना ये दोनों ही आनुपूर्वी नामकर्म के कार्य हैं । *(ध.पु. 6, पृ,. 57)*

पूर्व शरीर को नहीं छोड़ने पर भी जीव प्रदेशों का जो प्रसार होता है वह निष्कारण नहीं है । क्योंकि वह आगामी भव सम्बन्धी आयुकर्म के सत्त्व का फल है । *(ध.पु. 6, पृ,. 57)*

जिस प्रकार काल द्रव्य अपने आपके परिवर्तन और अन्य द्रव्य के परिवर्तन का कारण होता है, उसी प्रकार वर्णादिक नाम कर्म भी अपने वर्णादिक के तथा अपने से भिन्न पर पुद्गलों के वर्णादिक के कारण होते हैं । इसीलिये इनको काल द्रव्य के समान द्विस्वभावी कहा है । *(ध.पु. 6, पृ,. 57)*

अनन्तानन्त पुद्गलों से भरपूर जीवों के जिन कर्म स्कंधों के द्वारा अगुरु लघुपना होता है उन पुद्गल स्कन्धों की 'अगुरुलघु' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से की गई है, यदि जीव के अगुरु लघु कर्म न हो तो या तो जीव लोहे के गोले के समान भारी हो जायेगा अथवा आक के तूल (रूई) के समान हल्का हो जायेगा किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता ।

शंका - अगुरुलघुत्व तो जीव का स्वभाविक गुण है फिर उसे यहाँ कर्म प्रकृतियों में क्यों गिनाया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि संसार अवस्था में कर्म परतंत्र जीव में उस स्वभाविक अगुरु लघु गुण का अभाव है । यदि कहा जाय कि स्वभाव का विनाश होने पर जीव का विनाश हो जायेगा, क्योंकि लक्षण के विनाश होने पर लक्ष्य का विनाश होता है ऐसा न्याय है, सो भी यह बात नहीं है अर्थात् अगुरु लघु के विनाश हो जाने पर भी जीव का विनाश नहीं होता है क्योंकि ज्ञान और दर्शन को छोड़कर अगुरुलघुत्व जीव का लक्षण नहीं है चूंकि वह आकाश आदि द्रव्यों

में भी पाया जाता है, दूसरी बात यह है कि यहाँ जीव का अगुरु लघुत्व कर्म के द्वारा नहीं किया जाता है किन्तु जीव में भरा हुआ जो पुद्गल स्कन्ध है वह जिस कर्म के उदय से जीव के भारी या हल्का प्राप्त नहीं होता है वह अगुरु लघुत्व कर्म यहाँ विवक्षित है । अतएव यहाँ पर जीव विषयक अगुरुलघुत्व का ग्रहण नहीं करना चाहिये । *(ध.पु. 6 पृ. 58)*

उपघात - स्वयं प्राप्त होने वाले घात को उपघात अर्थात् आत्मघात कहते हैं । जो कर्म अवयवों को जीव की पीड़ा का कारण बना देता है अथवा जीव पीड़ा के कारण स्वरूप विष-खड्ग-पाश आदि द्रव्यों को जीव के लिये होता है (लाकर संयुक्त करता है) वह उपघात नाम कर्म कहलाता है ।

यह शृंग-लम्बे स्तन-विशाल तोंद वाला पेट आदि जीव को पीड़ा करने वाले अवयव है । यदि उपघात नाम कर्म जीव के न हो तो वात पित्त और कफ से दूषित शरीर से जीव के पीड़ा नहीं होना चाहिये किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है ।

शंका - जीव के दुःख उत्पन्न करने में तो असातावेदनीय कर्म का व्यापार होता है, फिर यहाँ उपघात कर्म को जीव पीड़ा का कारण कैसे बताया जा रहा है ?

समाधान - जीव के दुःख उत्पन्न करने में असाता वेदनीय कर्म का व्यापार रहा आवे किन्तु उपघात कर्म भी उस असाता वेदनीय का सहकारी कारण होता है । क्योंकि उसके उदय के निमित्त से दुःख कर पुद्गल द्रव्य का सम्पादन (समागम) होता है । *(ध.पु. 6 पृ. 59)*

परघात - पर जीवों के घात को परघात कहते हैं । जिस कर्म के उदय से शरीर में पर को घात करने के कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं वह परघात नाम कर्म कहलाता है जैसे सर्प की दाढों में विष, बिच्छू की पूंछ में पर दुःख के कारणभूत पुद्गलों का संचय, सिंह, व्याघ्र और छल्ल (शवल-चीता) आदि में (तीक्ष्ण) नख और दन्त तथा सिंगी, वत्स्य नाभि और धतूरा आदि विषैले वृक्ष पर को दुःख उत्पन्न करने वाले हैं । *(ध.पु. 6, पृ. 59)*

उच्छवास - सांस लेने को उच्छवास कहते हैं, जिस कर्म के उदय से जीव उच्छवास और निःश्वास रूप कार्य के उत्पादन में समर्थ होता है उस कर्म की उच्छवास यह संज्ञा है । परिउच्छवास नाम कर्म न हो तो जीव श्वास रहित हो जाये, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि संसार में उच्छवास से रहित जीव पाये नहीं जाते । *(ध.पु. 6, पृ. 60)*

आतप - खूब तपने को आतप कहते हैं, जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आतप होता है उस कर्म की आतप यह संज्ञा है । यदि आतप नाम कर्म न हो तो पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर रूप सूर्य मंडल में आतप का अभाव हो जाय । किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता । **उष्णता सहित प्रकाश को आतप कहते हैं ।**

शंका - इस प्रकार आतप शब्द का अर्थ करने पर तेजस्कायिक जीव में भी आतप कर्म का उदय प्राप्त होता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, तेजस्कायिक नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई उस अग्नि की उष्ण प्रभा में सकल प्रभाओं की अविनाभावी उष्णता का अभाव होने से उसका आतप के साथ समानता का अभाव है । *(ध.पु. 6 पृ. 60)*

उद्योत - उद्योतन (चमकने) का नाम उद्योत है । जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में उद्योत उत्पन्न होता है वह उद्योयत नाम कर्म है । यदि उद्योत नाम कर्म न हो तो चन्द्र नक्षत्र तारा और खद्योत (जुगुनू नामक क्रीडा) आदि में शरीरों के उद्योत (प्रकाश) न होवेगा । किन्तु, ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता । *(ध.पु. 6, पृ. 60)*

विहायोगति - विहायस् नाम आकाश का है । आकाश में गमन को विहायोगति कहते हैं । जिन कर्म स्कन्धों के उदय से जीव का आकाश में गमन होता है उसकी विहायों गति यह संज्ञा है ।

तिर्यंच और मनुष्यों का गमन भूमि पर विहायोगति नाम कर्म के उदय से होता है क्योंकि विहस्ति मात्र (बारह अंगुल प्रमाण) पांव वाले जीव प्रदेशों के द्वारा भूमि को व्याप्त करके जीव के समस्त प्रदेशों का आकाश में पाया जाता है । *(ध.पु. 6, पृ. 61)*

त्रस - जिस कर्म के उदय से जीवों के त्रसपना होता है उस कर्म की त्रस यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से है । यदि त्रस नाम कर्म का उदय न हो तो द्वीन्द्रिय आदि जीवों का अभाव हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि द्वीन्द्रिय आदिजीवों का सद्भाव पाया जाता है । *(ध.पु. 6, पृ. 60)*

इसी प्रकार स्थावरादि को समझना चाहिये । **सूक्ष्म** जिस कर्म के उदय से जीव सूक्ष्मता को प्राप्त होता है उस कर्म की सूक्ष्म यह संज्ञा है । यदि सूक्ष्म नाम कर्म न हो तो सूक्ष्म जीवों का अभाव हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि अपने प्रतिपक्षी के अभाव में बादरकायिक जीवों के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है । *(ध.पु. 6, पृ. 62)*

पर्याप्त - जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्त होता है उस कर्म की पर्याप्त यह संज्ञा है यदि पर्याप्त नामकर्म न हो तो सभी जीव अपर्याप्त हो जायेंगे । किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि पर्याप्त जीवन का भी सद्भाव पाया जाता है । *(ध.पु. 6, पृ. 62)*

इसी प्रकार अपर्याप्त आदिकों के सम्बन्ध में जानना चाहिये ।

प्रत्येक शरीर - जिस कर्म के उदय से जीव प्रत्येक शरीरी होता है उस कर्म की 'प्रत्येक शरीर' यह संज्ञा है ।

यदि प्रत्येक शरीर नाम कर्म न हो तो एक शरीर मे एक जीव का ही उपलम्भ नहीं होगा, किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि प्रत्येक शरीरी जीवों का सद्भाव वाधा रहित पाया जाता है *(ध.पु. 6, पृ. 62)*

साधारण आदि शरीरों को भी इसी प्रकार समझे ।

स्थिर नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से रस रुधिर, मेदा, मज्जा, अस्थि, मांस और शुक्र इन सात धातुओं की स्थिरता अर्थात् अविनाश व अगलन हो (गलना न हो) वह स्थिरनाम कर्म है । यदि स्थिर नाम कर्म न हो तो इन धातुओं का स्थिरता के अभाव से गलना ही होगा । किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि हानि और वृद्धि के बिना इन धातुओं का अवस्थान देखा जाता है ।

अस्थिर - जिस कर्म के उदय से रस रुधिर, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि और शुक्र इन धातुओं का परिणमन होता है वह अस्थिर नामकर्म है । *(ध.पु. 6, पृ. 63)*

शंका - **अव्यक्त चेष्टावाले एकेन्द्रिय आदि जीवों में सुभगभाव व दुर्भगभाव कैसे जाने जाते हैं ?**

समाधान - नहीं, क्योंकि, उनमें भी अव्यक्त रूप से विद्यमान उन भावों का आगम से अस्तित्व सिद्ध है । *(ध. पु., 6, पृ. 65)*

निर्माण - नियत मान को निर्माण कहते हैं । वह दो प्रकार का है - प्रमाण निर्माण और संस्थान निर्माण ।

निर्माण - जिस कर्म के उदय से दोनों ही प्रकार के निर्माण होते हैं उनकी निर्माण कर्म यह संज्ञा है । यदि प्रमाण निर्माण नाम कर्म न हो तो जंघा, बाहु, शिर और नासिका आदि का विस्तार और आयाम लोक के अन्त तक फैलने वाले हो जावेंगे । किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, उस प्रकार से पाया नहीं जाता है इसलिये काल को और जाति को आश्रय करके जीवों के प्रमाण को निर्माण करने वाला प्रमाण निर्माण नाम कर्म है ।

यदि संस्थान निर्माण नाम कर्म का उदय न हो तो व्यंग, उपांग, प्रत्यंग, संकर और व्यतिकर स्वरूप हो जायेंगे । किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता है इसलिये कान, आँख, नाक आदि अंगों का अपनी जाति के अनुरूप अपने-अपने स्थान पर जो नियामक कर्म है वह संस्थान निर्माण नाम कर्म कहलाता है । *(ध.पु. 6, पृ. 66)*

स्थान - जिस संख्या में अथवा जिस अवस्था विशेष में प्रकृतियाँ पाई जाती हैं उसे स्थान कहते हैं। स्थान-स्थिति और अवस्थान ये एकार्थवाचक हैं । समुत्कीर्तन-वर्णन और प्ररूपणा इनका अर्थ एक ही है । स्थान की समुत्कीर्तना को स्थान समुत्कीर्तन कहते हैं । *(ध.पु. 6, पृ. 79)*

पुनरुक्त दोष का निराकरण - सभी जीवों को धारणा वरणीय कर्म के क्षयोपशम का अभाव है यदि सर्व जीवों के द्वारा ग्रहण किया गया (जाना गया) अर्थ टांकी से उकेरे गये अक्षर के समान नहीं विनष्ट होता तो पुनरुक्त दोष होता । किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, जल में लिखे गये अक्षर के समान ग्रहण किये गये अर्थ का कितने ही जीवों में विनाश पाया जाता है । इसलिये भ्रष्ट संस्कार वाले शिष्य के स्मरण कराने के लिये यह सूत्र कहना चाहिये । *(ध.पु. 6, पृ. 81)*

शंका - **एकेन्द्रिय जीवों के आंगोपांग क्यों नहीं बतलाये ?**

समाधान - नहीं, क्योंकि उनके पैर, हाथ, नितम्ब, पीठ, शिर और उर (हृदय) का अभाव होने से आंगोपांग नहीं होते हैं ।

शंका - **एकेन्द्रिय छहों क्यों नहीं बतालये ?**

समाधान - नहीं, क्योंकि, प्रत्येक अवयव में प्ररूपित लक्षण वाले पाँच संस्थानों को समूह स्वरूप से धारण करने वाले एकेन्द्रियों के पृथक् पृथक् संस्थानों के अस्तित्व का विरोध है । *(ध. पु., 6, पृ. 112)*

परघात उच्छवास विहायोगति और स्वर नाम कर्म इन प्रकृतियों का इस बन्ध स्थान में बन्ध नहीं है क्योंकि इन प्रकृतियों के बन्ध का अपर्याप्त प्रकृति के बन्ध के साथ विरोध है तथा अपर्याप्त

काल में इन परघात आदि प्रकृतियों का उदय नहीं पाया जाता है जिन प्रकृतियों का जहाँ पर उदय होता है उन प्रकृतियों का वहाँ पर ही बन्ध होता है । उक्त कथन में स्थिर और शुभ प्रकृतियों के द्वारा अनेकान्त दोष नहीं आता है क्योंकि अध्रुवबन्धी शुभ और अशुभ प्रकृतियों का एक साथ बन्ध नहीं होता । *(ध. पु., 6, पृ. 115)*

एकेन्द्रिय जीवों के संहनन कर्म का उदय नहीं होता है । *(ध. पु., 6, पृ. 116)*

देवों में संहननों के उदय का अभाव है । *(ध. पु., 6, पृ. 123)*

शंका - अपर्याप्त प्रकृति के साथ स्थिर आदि प्रकृतियाँ क्यों नहीं बन्धती ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, संक्लेश काल में बंधने वाले अपर्याप्त नाम कर्म के साथ स्थिर आदि विशोधि-काल में बंधने वाली शुभ प्रकृतियों के बन्ध का विरोध है । *(ध. पु., 6, पृ. 122)*

नाम कर्म के देवगति सम्बन्धी पांच बन्ध स्थानों में तीस प्रकृति सम्बन्धी बन्ध स्थान है । यहाँ पर अस्थिर आदि अशुभ प्रकृतियों का विशुद्धि के साथ बंधने का विरोध है ।*(ध. पु., 6, पृ. 124)*

देव गति में उद्योत प्रकृति के उदय का अभाव है और तिर्यंच गति को छोड़कर अन्य गतियों के साथ उसके बंधने का विरोध है । *(ध. पु., 6, पृ. 126)*

देवों के शरीर में दीप्ति-वर्ण नाम कर्म के उदय से होती है । *(ध. पु., 6, पृ. 126)*

उद्योत प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाली देह की दीप्ति अत्यन्त अल्प होती है, प्राय: स्तोक (थोड़े) अवयवों में प्रतिनियत होती है और तिर्यंच गति नाम कर्म के उदय से संबद्ध होती है इसलिये उद्योत प्रकृति का उदय तिर्यंचों में ही होता है, देवों में नहीं, क्योंकि, वैसा मानने में विरोध आता है ।

संयत के ऐसा कहने पर प्रमत्त संयत का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि, आगे के गुणस्थानवर्ती जीवों के अस्थिर अशुभ और अयश कीर्ति इन प्रकृतियों का बंध नहीं होता है *(ध. पु., 6, पृ. 128)*

नाम कर्म के देव गति सम्बन्धी उक्त पांच बंध स्थानों में यश कीर्ति नाम कर्म सम्बन्धी यह एक प्राकृतिक बंध स्थान है, वह एक प्रकृति रूप बंध स्थान उसी एक यश कीर्ति का बन्ध करने वाले संयत के होता है।

विशेषार्थ - यहाँ पर संयत से अभिप्राय अपूर्वकरण गुण स्थान के सातवें भाग से लेकर सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान वर्ती संयत से है क्योंकि केवल एक यश कीर्ति नाम कर्म को छोड़कर शेष समस्त नाम कर्म की प्रकृतियाँ अपूर्वकरण के छठवें भाग में बन्ध से व्युच्छिन्न हो जाती है परन्तु यश कीर्ति दशवें गुणस्थान तक बंधती रहती है । *(ध. पु., 6, पृ. 129)*

प्रकृतियों के बन्ध व्युच्छेद का क्रम विशुद्धि को प्राप्त होने वाले भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवों के सामान्य (साधारण) है किन्तु अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन कारण भव्य मिथ्यादृष्टि जीव के ही होते हैं । क्योंकि अन्यत्र (अभव्य) जीवों में वे पाये नहीं जाते । *(ध. पु., 6, पृ. 139)*

कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधने वाला जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता है। *(ध. पु., 6, पृ. 145)*

भोग के वश से कर्म स्वरूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों का कषाय के वश से जीव में एक स्वरूप से रहने के काल को स्थिति कहते हैं । *(ध. पु., 6, पृ. 146)*

बाधा के अभाव को अबाधा कहते हैं और अबाधा ही अबाधा कहलाती है । जिस समय प्रबद्ध में 30 कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाले पुद्गल परमाणु होते हैं उस समय प्रबद्ध में एक समय प्रमाण काल स्थिति वाले पुद्गल परमाणु रहना सम्भव नहीं है क्योंकि वैसा मानने में विरोध आता है इसी प्रकार उस उत्कृष्ट स्थिति वाले समय प्रबद्ध में दो समय-तीन समय को आदि करके तीन हजार वर्ष प्रमित काल स्थिति वाले भी पुद्गल परमाणु नहीं है क्योंकि ऐसा स्वभाव ही है । और स्वभाव अन्य के प्रश्न योग्य नहीं हुआ करते हैं ऐसा न्याय है पूर्व सूत्रोक्तकर्मों की यह उत्कृष्ट अबाधा है । एक समय पबद्ध अपने असंख्यातवें भाग प्रमाण 30 कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाले पुद्गल स्कन्धों से सहित होता हुआ अपकर्षण के द्वारा बिना स्थिति क्षय के इतने, (तीन हजार) वर्ष प्रमित, काल तक उदय को प्राप्त नहीं होता है । यह अर्थ कहा गया है । एक समय कम 30 कोडाकोडी सागरोपम, दो समय कम 30 कोडाकोडी सागरोपम इत्यादि क्रम से एक समय तीन अबाधा कांडक से कम 30 कोडाकोडी सागरोपम प्रमित उत्कृष्ट स्थिति तक के पुद्गल स्कन्धों की भी यही तीन हजार वर्ष प्रमाण अबाधा होती है । *(ध. पु., 6, पृ. 149)*

प्रथम निषेक अवस्थित हानि से जितनी दूर जाकर आधा होता है उस अध्वान को 'गुण हानि' कहते है । *(ध. पु., 6, पृ. 151) (अध्वान = आयाम , ध.पु. 6, पृ. 155)*

गोपुच्छ - गौ की पूंछ मूल में विस्तीर्ण और क्रमशः नीचे की ओर संक्षिप्त होती है, अतएव जहाँ किसी संख्या समुदाय में संख्याएँ उत्तरोत्तर घटती हुई पायी जाती हैं वहाँ उन संख्याओं को उपमान का उपमेय में उपचार से **गोपुच्छ** कहते हैं । इन संख्याओं के बीच जो व्यवस्थित हानि प्रमाण होता है उसे विशेष या चय कहते हैं । *(ध. पु., 6, पृ. 157)*

उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा जो स्थिति बंधती है वह जघन्य होती है, क्योंकि सर्व स्थितियों के प्रशस्त भाव का अभाव है । संक्लेश की वृद्धि से सर्व प्रकृति सम्बन्धी स्थिति की वृद्धि होती है और विशुद्धि की वृद्धि से उन्हीं स्थितियों की हानि होती है । *(ध. पु., 6, पृ. 180)*

संक्लेश - असाता के बन्ध योग्य परिणामों को संक्लेश कहते हैं । *(ध. पु., 6, पृ. 180)*

विशुद्धि - साता के बंध योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं । *(ध. पु., 6, पृ. 180)*

विशेषार्थ - यहाँ शंकाकार ने जो यह भाव व्यक्त किये हैं कि उत्कृष्ट स्थिति से लेकर नीचे की स्थितियों को बन्ध करने वाले परिणामों को विशुद्धि कहते हैं और जघन्य स्थिति से लेकर आगे की स्थितियों का बन्ध करने वाले परिणामों को संक्लेश कहते हैं ? इसका समाधान करते हुए जो धवला टीका में बतलाया गया है कि इस तरह जो जघन्य स्थिति सम्बन्धी व उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी परिणाम को छोड़कर शेष सब मध्य के परिणाम एक तरफ से संक्लेश संज्ञा को व दूसरी

तरफ से विशुद्धि संज्ञा को प्राप्त हो जायेंगे जो युक्त प्रतीत नहीं होता । अतएव कषाय की वृद्धि और हानि संक्लेश और विशुद्धि का लक्षण नहीं समझना चाहिये, किन्तु इन दोनों का लक्षण स्वतन्त्र है और वह है जो सातावेदनीय आदि परावर्तमान प्रकृतियों के बन्ध का हेतु हो वह विशुद्धि है और जो असाता वेदनीय आदि परावर्त मान प्रकृतियों के बन्ध का हेतु हो वह संक्लेश है ।

(ध. पु., 6, पृ. 181)

कषाय की वृद्धि भी संक्लेश का लक्षण नहीं है अन्यथा स्थिति बन्ध की वृद्धि बन नहीं सकती है तथा विशुद्धिके काल में वर्धमान कषाय वाले जीव के भी संक्लेशत्व का प्रसंग आता है और विशुद्धि के काल में कषायों की वृद्धि नहीं होती है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है ,क्योंकि वैसा मानने पर साता आदि के भुजाकार बंध के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा तथा असाता और साता इन दोनों के बन्ध का संक्लेश और विशुद्धि इन दोनों को छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं है क्योंकि वैसा कोई कारण पाया नहीं जाता है । कषायों की वृद्धि केवल असाता के बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि उसके (कषायों की) वृद्धि के काल में साता का बन्ध भी पाया जाता है । इसी प्रकार कषायों की हानि केवल साता के बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि वह भी साधारण है । अर्थात् कषायों की हानि के काल में असाता का भी बन्ध पाया जाता है ।

विशेषार्थ - यह स्थिति बन्ध का प्रकरण है । तदनुसार -

भुजगार स्थिति बन्ध - अल्प स्थिति का बन्ध होकर अधिक स्थिति का बन्ध होना भुजगार स्थिति बन्ध है । यह भुजगार स्थिति बन्ध सातावेदनीय का लगातार अधिक से अधिक चार समय तक होता है और यह नियम है कि असाता वेदनीय का बन्ध संक्लेश को निमित्त कर होता है और साता वेदनीय का नब्ध विशुद्धि को निमित्त कर होता है, साथ ही यह भी नियम है कि विशुद्धि के काल से भी कषाय में वृद्धि होती है अन्यथा साता वेदनीय आदि परावर्तमान प्रकृतियों के स्थिति बन्ध में वृद्धि होना सम्भव नहीं है । इसलिये सिद्ध हुआ कि कषाय की वृद्धि के साथ विशुद्धि के अभाव का अविनाभाव नहीं है । कषाय की वृद्धि हो फिर भी विशुद्धि बनी रहे यह भी सम्भव है तथा कषाय की हानि हो फिर भी संक्लेश बना रहे यह भी सम्भव है ।

दूसरी बात यह है कि विशुद्धियाँ उत्कृष्ट स्थिति में अल्प होकर गणना की अपेक्षा बढ़ती हुई जघन्य स्थिति तक चली जाती है । किन्तु संक्लेश जघन्य स्थिति में अल्प होकर अपर प्रक्षेप उत्तर क्रम से अर्थात् सदृश प्रचय रूप से बढ़ते हुए उत्कृष्ट स्थिति तक चले जाते हैं इसलिये संक्लेशों से विशुद्धियाँ पृथग्भूत होती हैं ऐसा अभिप्राय जानना । अतएव यह स्थिति हुआ कि साता के बन्ध योग्य परिणाम का नाम विशुद्धि है ।

(ध. पु., 6, पृ. 182)

कषायों के क्षपण करने वाले जीव अपने अन्तिम बन्ध समय में इस जघन्य स्थिति का बन्ध होता है । इस जघन्य स्थिति में गुण हानियां नहीं होती हैं । क्योंकि पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थिति के बिना गुण हानि का होना असम्भव है ।

(ध. पु., 6, पृ. 183)

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आठों कर्मों का उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति बन्ध चार्ट *(ध.पु. 6, पृ. 195)*

सं. पंचे.	मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय	चारित्र मोहनीय	ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय अन्तराय	नाम कर्म गोत्र कर्म	आयु कर्म
उत्कृष्ट	70 कोडाकोडी सागरोपम	40 कोडाकोडी सागरोपम	30 कोडा कोडी सागरोपम	20 कोडा कोडी सागरोपम	33 सागरोपम
जघन्य	अन्त: कोडाकोडी सागरोपम	अन्तमुर्हूर्त	वेदनीय 12 मुहूर्त शेष कर्मों की अन्तर्मुहूर्त	8 मुहूर्त	अन्तमुहूर्त

एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों के आठों कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध चार्ट *(ध.पु. 6, पृ. 194)*

स्थिति बन्ध	कर्मों के नाम	एकेन्द्रिय	द्विन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असंज्ञी पंचेन्द्रिय
उत्कृष्ट	मिथ्यात्व	1 सागरोपम	25 सागरोपम	50 सागरोपम	100 सागरोपम	1000 सागरोपम
उत्कृष्ट	16 कषाय	$\frac{4}{7}$ सागरोपम	$\frac{100}{7}$ सागरोपम	$\frac{200}{7}$ सागरोपम	$\frac{400}{7}$ सागरोपम	$\frac{4000}{7}$ सागरोपम
उत्कृष्ट	ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय अन्तराय	$\frac{3}{7}$ सागरोपम	$\frac{75}{7}$ सागरोपम	$\frac{150}{7}$ सागरोपम	$\frac{300}{7}$ सागरोपम	$\frac{3000}{7}$ सागरोपम
उत्कृष्ट	नाम कर्म गोत्रकर्म नो कषाय	$\frac{2}{7}$ सागरोपम	$\frac{50}{7}$ सागरोपम	$\frac{100}{7}$ सागरोपम	$\frac{200}{7}$ सागरोपम	$\frac{2000}{7}$ सागरोपम

जघन्य स्थिति बन्ध

अपनी उत्कृष्ट स्थिति में से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम करने पर जो प्रमाण शेष रहे उसे एकेन्द्रिय जीव बांधते हैं ।

अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में से पल्य का संख्यातवाँ भाग कम करने पर जो प्रमाण शेष रहे उसे द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय बांधते हैं ।

जीव बांधते हैं यह एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों का जघन्य स्थिति बन्ध है।

क्षयोपशम लब्धि - पूर्व संचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रति समय अनन्त गुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं । उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है । *(ध. पु. 6, पृ. 204)*

विशुद्धि लब्धि - प्रति समय अनन्त गुण हीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ साता आदि शुभ कर्मों के बंध का निमित्त भूत और असाता आदि अशुभ कर्मों के बंध का विरोधी जो जीव का परिणाम है उसे विशुद्धि कहते हैं उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है ।

देशना लब्धि - छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशना लब्धि कहते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 204)*

प्रायोग्यलब्धि - सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और अनुभाग को घात करके कोडाकोडी स्थिति में और द्वि स्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं । **विशेष** - क्योकि इन अवस्थाओं के होने पर करण (पाँचवी) लब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 204)*

घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति लता दारु अस्थि और शैल के समान चार प्रकार की होती है ।

पुण्य रूप अघातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति गुड़-खाण्ड-शक्कर और अमृत के समान होती है और पाप रूप अघातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति नीम-कांजीर-विष और हलाहल के समान चार प्रकार की होती है ।

द्विस्थानीय अनुभाग अवस्थान - प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव प्रायोग्य लब्धि के द्वारा घातिया कर्मो के अनुभाग को घटाकर लता और दारु इन दो स्थानों में तथा अघातिया कर्मों की पाप रूप प्रकृतियों के अनुभाग को नीम, कांजीर इन दो स्थानों में अवस्थित करता है इसी को द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान कहते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 205)*

प्रति समय अनन्त गुण हीन अनुभाग की उदीरणा का अनन्त गुणित क्रम दारु वर्धमान विशुद्धि का और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का उसी एक काल लब्धि में होना सम्भव है अर्थात् उक्त चारों लब्धियों की प्राप्ति काल लब्धि के ही अधीन है । अत: वे चारों लब्धियाँ काल लब्धि में अन्तर्निहित हो जाती है ।

ये चारों ही लब्धियाँ भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवों के साधारण है क्योंकि दोनों ही प्रकार के जीवों में इन चारों लब्धियों का होना सम्भव है । किन्तु करण लब्धि भव्य जीव के सम्यक्त्व होने में समय होती है । *(ध. पु. 6, पृ. 205)*

सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त होता है क्योंकि इन जीवों के उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व रूप पर्याय के द्वारा परिणमन होने की शक्ति का अभाव है । *(ध. पु. 6, पृ. 206)*

उपशम श्रेणि पर चढ़ने वाले वेदग सम्यग्दृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले होते हैं किन्तु उस सम्यक्त्व का 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व' यह नाम नहीं है । क्योंकि उस उपशम श्रेणी वाले उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति सम्यक्त्व से होतीहै इसलिये प्रथमोपशम को प्राप्त होने वाला जीव मिथ्यादृष्टि ही होना चाहिये, वह भी पर्याप्तक ही होना चाहिये क्योंकि अपर्याप्तक जीवों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने का विरोध है । *(ध. पु. 6, पृ. 207)*

अघः प्रवृत्त यह नाम अन्त दीपक है इसलिये प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के पूर्व तक मिथ्यादृष्टि आदि के पूर्वोत्तर समयवर्ती परिणामों में जो सदृशता पाई जाती है उसकी अध:प्रवृत संज्ञा का सूचक है । *(ध. पु. 6, पृ. 218)*

अपकर्षक या उत्कर्षण किया हुआ द्रव्य जिन निषेकों में मिलाते हैं वे निषेक निक्षेप रूप कहलाते हैं तथा उक्त द्रव्य जिन निषेकों में नहीं मिलाया जाता वे निषेक अति स्थापना रूप कहलाते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 226)*

अन्तरकरण - विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिय स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का ही परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं ।

अनिवृत्तिकरण के काल का संख्यात बहुभाग व्यतीत होने पर अन्तर करता है *(ध. पु.6, पृ. 231)*

प्रथम स्थिति - नीचे की अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थिति को प्रथम स्थिति कहते हैं । जिन स्थितियों की अन्तरकरण क्रिया की जा रही है उस अन्तरकरण से नीचे की अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थिति को प्रथम स्थिति कहते हैं ।

द्वितीय स्थिति - अन्तरकरण से ऊपर की स्थिति को द्वितीय स्थिति कहते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 231)*

इस प्रकार प्रति समय अन्तरायाम सम्बन्धी कर्म प्रदेशों को ऊपर नीचे की स्थितियों में तब तक देता रहता है जब तक कि अन्तरायाम सम्बन्धी समस्त निषेकों का अभाव नहीं हो जाता । यह क्रिया एक अन्तर्मुहूर्त तक जारी रहती है । जब अन्तरायाम के समस्त निषेक ऊपर व नीचे की स्थितियों में दे दिये जाते हैं और अन्तर काल मिथ्यात्व स्थिति के कर्म निषेकों से सर्वथा शून्य हो जाता है तब 'अन्तर कर दिया गया' ऐसा समझना चाहिये । *(ध. पु. 6, पृ. 231)*

दर्शन मोहनीय की उपशामना चारों ही गति वाले पंचेन्द्रिय-संज्ञी गर्भोपक्रान्तिक, पर्याप्तक तथा संख्यात व असंख्यात वर्ष की आयु वाले कर सकते हैं । तथा दर्शन मोहनीय की उपशामना एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी, सम्मूर्च्छन, अपर्याप्तक जीव नहीं करते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 238)*

इन्द्रक श्रेणी बद्ध आदि सर्व नरकों में, सर्व प्रकार के भवनवासी देवों में, सर्व समुद्रों और द्वीपों में ग्रह अर्थात् समस्त व्यन्तर देवों में, समस्त ज्योतिष्क देवों में सौधर्म कल्प से लेकर नव गैवेयक विमान तक विमान वासी देवों में, आभियोग्य (वाहनादि) कर्म में नियुक्त वाहन देवों में, उससे भिन्न किल्विषिक आदि अनुत्तम तथा पारिषद आदि उत्तम देवों में, दर्शन, मोहनीय कर्म का उपशम होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 239)*

1. दर्शन मोह का उपशामक सर्व ही जीव निर्व्याघात अर्थात् उपसर्गादिक के आने पर भी विच्छेद और मरण से रहित होता है तथा 2. निरासान अर्थात् सासादन गुण स्थान को प्राप्त नहीं होता है । 3. उपशान्त अर्थात् उपशम सम्यक्त्व होने के पश्चात् भजितव्य है अर्थात् सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता भी है और नहीं भी होता है । 4. उपशम सम्यक्त्व का काल क्षीण अर्थात् समाप्त हो जाने पर मिथ्यात्व आदि किसी एक दर्शन मोहनीय प्रकृति का उदय आने से मिथ्यात्व आदि भावों को प्राप्त होता है । 5. अथवा दर्शन मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर निरासान अर्थात् सासादन परिणाम से सर्वथा रहित होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 239)*

साकार अर्थात् ज्ञानोपयोग की अवस्था में ही जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व का प्रस्थापक (प्रारम्भ करने वाला) होता है, किन्तु निष्ठापक (उसे सम्पन्न करने वाला) मध्य अवस्थावर्ती जीव भजनीय है अर्थात् वह साकारोपयोगी भी हो सकता है और अनाकारोंपयोगी भी हो सकता है ।

मनोयोग आदि तीनों योगों में से किसी भी एक योग में वर्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है ।

कम से कम तेजो लेश्या के जघन्य अंश में वर्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । यह मनुष्य और तिर्यंचों की अपेक्षा जानना चाहिये । *(ध. पु. 6, पृ. 239)*

1. उपशामक जब तक अन्तर प्रवेश नहीं होता तब तक मिथ्यात्व वेदनीय कर्म का उदय जानना चाहिये । *(ध. पु. 6, पृ. 240)*
2. दर्शन मोहनीय के उपशान्त होने पर अर्थात् उपशम सम्यक्त्व के काल में और सासादन काल में मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं रहता है । *(ध. पु. 6, पृ. 240)*
3. किन्तु उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर मिथ्यात्व का उदय भजनीय है अर्थात् किसी के उसका उदय होता भी है और किसी के उदय नहीं भी होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 240)*
4. तीनों कर्मांश (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति ये तीनों कर्म) दर्शन मोहनीय की उपशान्त अवस्था में सर्वस्थिति विशेषों के साथ उपशान्त रहते है । अर्थात् उन तीनों कर्मों के एक भी स्थिति का उस समय उदय नहीं रहता है ।
5. तथा एक ही अनुभाग उन तीनों कर्मांशों के सभी स्थिति विशेष अवस्थित रहते हैं अर्थात् अन्तर से बाहरी अनन्तरवर्ती जघन्य स्थिति विशेष में जो अनुभाग होता है वही अनुभाग उससे ऊपर के समस्त स्थिति विशेषों में भी होता है, उससे भिन्न प्रकार का नहीं *(ध. पु. 6, पृ. 240)*
6. उपशामक के प्रथम स्थिति के अन्तिम समय तक मिथ्यात्व प्रत्ययक अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध जानना चाहिये (यद्यपि यहाँ पर असंयम कषाय आदि अन्य भी बन्ध के कारण विद्यमान है तथापि उनकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है, किन्तु प्रधानता से मिथ्यात्व कर्म की ही विवक्षा की गई है ।)
7. दर्शन मोह की उपशान्त अवस्था में और सासादन सम्यक्त्व की अवस्था में मिथ्यात्व निमित्त का बंध नहीं होता है । इसके पश्चात् मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय है । अर्थात् मिथ्यात्व को

प्राप्त हुए जीवों के तन्निमित्तक बन्ध होता है और अन्य गुणस्थान को प्राप्त हुए जीवों के तन्निमित्तक बन्ध नहीं होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 240)*

8. अन्तर्मुहूर्त काल तक सर्वोपशम से अर्थात् दर्शन मोहनीय के सभी भेदों के उपशम से जीव उपशान्त अर्थात् सम्यक्दृष्टि रहता है इसके पश्चात् नियम से उसके मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन कर्मों में से किसी एक कर्म का उदय होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 241)*

9. सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोहनीय कर्म का अबंधन अर्थात् बन्ध नहीं करने वाला कहा गया है, इसी प्रकार वेदक सम्यक्दृष्टि जीव-क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव तथा च शब्द से उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी दर्शन मोहनीय कर्म का अबन्धक होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 241)*

10. अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व का प्रथम बार लाभ सर्वोपशम से होता है । इसी प्रकार विप्रकृष्ट जीव के, अर्थात् जिसने पहले कभी सम्यक्त्व को प्राप्त किया था, किन्तु पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त होकर और वहाँ सम्यक्त्व प्रकृति एवं सम्यग्मिथ्यात्व कर्म की उद्वेलना कर बहुत काल तक मिथ्यात्व सहित परिभ्रमण कर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त किया है ऐसे जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व का लाभ भी सर्वोपशम से होता है । किन्तु जो जीव सम्यक्त्व से गिरकर अभीक्ष्ण अर्थात् जल्दी ही पुनः - पुनः सम्यक्त्व को ग्रहण करता है वह सर्वोपशम और देशोपशम से भजनीय है ।

11. मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीन कर्मों के उदयाभाव को सर्वोपशम कहते हैं । तथा सम्यक्त्व प्रकृति सम्बन्धी देशघाति स्पर्धकों के उदय को देशोपशम कहते हैं ।

(ध. पु. 6, पृ. 241)

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के जो सम्यक्त्व का प्रथम बार लाभ होता है उसके अनन्तर पूर्व मिथ्यात्व का उदय होता है । किन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीव के जो सम्यक्त्व का अप्रथम अर्थात् दूसरी, तीसरी आदि वार लाभ होता है, उसके अनन्तर पश्चात् समय में मिथ्यात्व भजितव्य है अर्थात् वह कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर वेदक अथवा उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है और कदाचित् सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 242)*

जिस जीव के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति, ये तीन कर्म सत्ता में होते है तथा 'तु' शब्द से मिथ्यात्व या सम्यक्त्व प्रकृति के बिना शेष दो कर्म सत्ता में होते है, वह नियम से संक्रमण की अपेक्षा भीजतव्य है, अर्थात् कदाचित् दर्शन मोह का संक्रमण करने वाला होता है और कदाचित् नहीं भी होता है । जिस जीव के एक ही कर्म सत्ता में होता है वह संक्रमण की अपेक्षा भजनीय नहीं है, अर्थात् वह नियम से दर्शन मोह का असंक्रमण ही होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 242)*

इन अढ़ाई द्वीपों में ही दर्शन मोहनीय कर्म के क्षपणको आरम्भ करता है, शेष द्वीपों में नहीं । इसका कारण यह है कि शेष द्वीपों में स्थित जीवों के दर्शन मोहनीय कर्म के क्षपण करने की शक्ति का अभाव है । लवण और कालोदक संज्ञा वाले दो समुद्रों में जीव दर्शन मोहनीय कर्म का क्षपण करते हैं, शेष समुद्रों में नहीं, क्योंकि, उनमें दर्शन मोह के क्षपण करने के सहकारी कारणों का अभाव है

(ध. पु. 6, पृ. 244)

तीसरे अर्ध समुद्र की संभावना का अभाव होने से 'अढ़ाई' इस संख्या के द्वारा समुद्र विशिष्ट नहीं किया गया है और न अढ़ाई द्वीपों के मध्य में अढ़ाई समुद्र है, वैसा मानने पर विरोध आता है । तथा अढ़ाई द्वीपों से बाहिरी आधे समुद्र में दर्शन मोहनीय कर्म का क्षपण संभव भी नहीं है, क्योंकि आगे कहे जाने वाले 'जहाँ जिन, तीर्थंकर संभव हैं' इस विशेषण के द्वारा वह प्रतिषिद्ध हो जाता है । मानुषोत्तर पर्वत के पर भाग में जिन और तीर्थंकर नहीं होते हैं, क्योंकि वहां उनका अस्तित्व मानने में विरोध आता है । *(ध. पु. 6, पृ. 244)*

पन्द्रह कर्म भूमि में उत्पन्न हुआ और मनुष्य गति में वर्तमान जीव ही नियम से दर्शन मोह की क्षपणा का प्रस्थापक (प्रारम्भ करने वाला) होता है । किन्तु उसका निष्ठापक अर्थात् पूर्ण करने वाला सर्वत्र (चारों गतियों में) होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 244)*

जिस काल मे जिन सम्भव हैं उस ही काल में दर्शन मोह की क्षपण का प्रस्थापक होता है । अन्य कालों में नहीं । *(ध. पु. 6, पृ. 246)*

जिस काल में केवली (केवलज्ञानी) होते हैं उसी काल में दर्शन मोह की क्षपणा होती है, अन्य कालों में नहीं । तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से रहित सामान्य केवली के प्रतिषेध के लिये सूत्र में 'तीर्थंकर' इस पद का ग्रहण किया है अर्थात् तीर्थंकर के पादमूल में ही मनुष्य दर्शन मोहनीय का क्षपण प्रारम्भ करते हैं । अन्यत्र नहीं । अथवा 'जिन' ऐसा कहने पर चतुर्दश पूर्व धारियों का ग्रहण करना चाहिये । 'केवली' ऐसा कहने पर तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से रहित केवल ज्ञानियों का ग्रहण करना चाहिये और तीर्थंकर ऐसा कहने पर तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए आठ महा प्रतिहार्य और चौतीस अतिशयों से सहित तीर्थंकर केवलियों का ग्रहण करना चाहिये ।

सारांश - इन तीनों के पाद मूल में (केवली, श्रुत केवली और तीर्थंकर) कर्म भूमिज मनुष्य दर्शन मोह का क्षपण प्रारम्भ करते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 246)*

सामान्यत: तो जीव पूर्वोक्त दूषण सुषम काल में उक्त तीनों के पादमूल में ही दर्शन मोहनीय की क्षपणा प्रारम्भ करते हैं । किन्तु जो उसी भव में तीर्थंकर या जिन होने वाले हैं वे तीर्थंकरादि की अनुपस्थिति में तथा सुषम दुषम काल में भी दर्शन मोह का क्षपण करते हैं । उदाहरणार्थ - वर्धनकुमार, एकेन्द्रिय पर्याय से आकर (इस अवसर्पिणी) के तीसरे काल में उत्पन्न हुए वर्धन कुमार, आदि के दर्शन मोह की क्षपणा देखी जाती हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 247)*

अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में सम्यक्त्व मोहनीय की अन्तिम फालि के द्रव्य के नीचे के निषेकों के साथ क्षेपण करने से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 248)*

प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाली विधि से तीनों करण आदि क्रियाओं के साथ दर्शन मोह की क्षपण विधि का कोई भेद नहीं इसलिये उससे ही दर्शन मोह क्षपण विधि का ज्ञान हो जाता है । *(ध. पु. 6, पृ. 248)*

अध: प्रवृत्तकरण में स्थिति कांडक घात, अनुभाग कांडक घात, गुणश्रेणी और गुण संक्रमण नहीं होता है । केवल अनन्त गुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग को अनन्त गुणित हीन प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग को अनन्त गुणित और पूर्व स्थिति बन्ध से पल्योंपम के संख्यातवें भाग से हीन अन्य स्थिति बन्ध को बांधता हुआ अध: प्रवृत्तकरण के अन्तिम समय को प्राप्त होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 252)*

समाप्त होने योग्य उस स्थिति काण्डक के समाप्त होने पर मिथ्यात्व का जघन्य स्थिति संक्रमण होता है यदि वह जीव गुणित कर्मांशिक है तो उत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण होता है अन्यथा अनुत्कृष्ट प्रदेश संक्रमण होता है उसी समय उस जीव के सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश सत्त्व होता है, यदि वह जीव गुणित-क्षपित-घोलमान अथवा क्षपित कर्मांशिक है तो उसके अनुत्कृष्ट प्रदेश सत्व होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 256)*

जो जीव अनेक भवों में उत्तरोत्तर गुणित क्रम से कर्म प्रदेशों का बन्ध करता रहा है उसे गुणित कर्मांशिक कहते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 257)*

प्रथमोपशम सम्यक्त्व को और संयमासंयम को एक साथ प्राप्त होने वाला जीव भी तीनों ही करणों को करता है, उन करणों के लक्षण जिस प्रकार सम्यक्त्व की उत्पत्ति में प्ररूपित किये गये है उसी प्रकार यहाँ भी प्ररूपित करने चाहिये ।

असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों की सत्ता वाला वेदक सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि संयमासंयम को प्राप्त हो जाता है तो उसके दो ही करण होते हैं क्योंकि उसके अनिवृत्ति करण नहीं होता है ।

संयमासंयम को अन्तर्मुहूर्त काल से प्राप्त करेगा इस कारण वहाँ से लेकर सर्व जीव आयु कर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मों की स्थिति बन्ध को और स्थिति सत्त्व को अन्त: कोड़ा कोडी के प्रमाण करते हैं ।

शुभ कर्मों के अनुभाग बन्ध और अनुभाग सत्व को चतु:स्थानीय करते हैं तथा अशुभ कर्मों के अनुभाग बन्ध व अनुभाग सत्व को द्विस्थानीय करते हैं । तत्पश्चात् अध:प्रवृत्त नामा अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा विशुद्ध होता है यहाँ पर न स्थिति काण्डक घात होता है न अनुभाग काण्डक घात होता है और न गुण श्रेणी होती है । केवल स्थिति बन्ध के पूर्ण होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन स्थिति बंध के द्वारा स्थितियों को बांधता है जो शुभ कर्म प्रकृतियाँ हैं उन्हें अनन्तगुणित अनुभागों के साथ बांधता है जो अशुभ कर्म प्रकृतियाँ हैं उन्हें अनन्त गुणित हीन अनुभागों के साथ बांधता है । *(ध. पु. 6, पृ. 271)*

अध: प्रवृत्त करण जिस समय से विशुद्ध हुआ है उसके प्रथम समय में जघन्य विशुद्धि सबसे कम है द्वितीयादि समयों में क्रम से जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणित है । इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तक जघन्य विशुद्धि ही अनन्त गुणित कम से जाती है तत्पश्चात् प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित होती है । *(ध. पु. 6, पृ. 271)*

संयतासंयत होने के प्रथम समय से लेकर जो प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धि होती है उसे एकान्त वृद्धि कहते हैं । इस एकान्त वृद्धि का काल अन्तर्मुहूर्त है । *(ध. पु. 6, पृ. 273)*

सर्व विशुद्ध और अनन्तर समय में संयम को ग्रहण करने वाले संयतासंयत के उत्कृष्ट संयमासंयम लब्धि होती है । *(ध. पु. 6, पृ. 276)*

जघन्य लब्धि के योग्य संक्लेश को प्राप्त और अनन्तर समय में मिथ्यात्व को प्राप्त होने वाले संयतासंयत के जघन्य संयमासंयम लब्धि होती है । *(ध. पु. 6, पृ. 276)*

अल्प बहुत्व - जघन्य संयमासंयम लब्धि अल्प होती है उससे उत्कृष्ट संयमासंयम लब्धि अनन्त गुणित है । *(ध. पु. 6, पृ. 276)*

प्रतिप्रात स्थान - संयमासंयम से गिरने के अन्तिम समय में होने वाले स्थानों को प्रतिपात स्थान कहते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 277)*

प्रतिपद्यमान स्थान - संयमासंयम को धारण करने के प्रथम समय में होने वाले स्थानों को प्रतिपद्यमान स्थान कहते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 277)*

अनुभव स्थान - इन दोनों स्थानों को छोड़कर मध्यवर्ती समय में सम्भव समस्त स्थानों को अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान या अनुभय स्थान कहते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 277)*

संयम लब्धि के 3 स्थान

प्रतिपात स्थान - जिस स्थान पर जीव मिथ्यात्व को अथवा असंयम सम्यक्त्व को अथवा संयमासंयम को प्राप्त होता है वह प्रतिपात स्थान है । *(ध. पु. 6, पृ. 283)*

उत्पाद स्थान - जिस स्थान पर जीव संयम को प्राप्त होता है वह उत्पाद स्थान है । *(ध. पु. 6, पृ. 283)*

तद्व्यतिरिक्त स्थान - इसके अतिरिक्त शेष सर्व ही चारित्र स्थानों को तद्व्यतिरिक्त स्थान कहते हैं ।

उक्त स्थानों के स्वामी में विशेषता

जघन्य प्रतिपद्यमान स्थान भरत क्षेत्र निवासी मिथ्यात्व से पीछे आये हुए संयत के होता है । शेष पांच खण्ड निवासी मनुष्य के जघन्य प्रतिपद्यमान संयम स्थान पूर्व जघन्य से अनन्त गुणा है । उक्त (मलेच्छ) मनुष्य के ही देश विरति से पीछे आकर सर्व विशुद्ध संयम ग्रहण के प्रथम समय में होने वाला उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान स्थान पूर्वोक्त जघन्य से अनन्तगुणा है । इससे अनन्त गुणा कर्म भूमि में प्राप्त करने वाले देश विरति से पीछे आये हुए सर्व विशुद्ध संयत आर्य मनुष्य के प्रथम समय में उत्कृष्ट प्रतिपद्य मान लब्धि स्थान होता है यह स्थान पूर्व स्थान से अनन्त गुणा है । *(ध. पु. 6, पृ. 285)*

जो कर्म उदय में न दिया जा सके वह उपशान्त, जो संक्रमण व उदय दोनों में ही न दिया जा सके वह निधत्त तथा जो उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण व उदय चारों में ही न दिया जा सके वह निकाचित करण है । *(ध. पु. 6, पृ. 295)*

मोहनीय का स्थिति बंध सबसे स्तोक है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इनका स्थिति बंध संख्यात गुणा है । नाम व गौत्र का स्थिति बंध संख्यात गुणा है । वेदनीय का स्थिति बंध विशेष-विशेष अधिक है । *(ध. पु. 6, पृ. 306)*

उपशान्त कषाय का प्रतिपात दो प्रकार का है - 1. भवक्षय, निबन्धन और 2. उपशमन कालक्षय निबन्धन । *(ध. पु. 6, पृ. 317)*

जाति स्मरण - अपनी अणिमादिक ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई है तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति जातिस्मरण निमित्तक होती है । *(ध. पु. 6, पृ. 433)*

देवर्द्धि दर्शन - सौधर्मेन्द्रादिक देवों की महा ऋद्धियों को देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शन के संयुक्त संयम के फल से प्राप्त हुई है किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्य संयम के फल से वाहनादिक नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ तब प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण देवर्द्धिदर्शन निमित्तक होता है । *(ध. पु. 6, पृ. 433)*

विशेष - जाति स्मरण और देवर्द्धिदर्शन दोनों एक नहीं हो सकते तथा जाति स्मरण उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर होता है किन्तु देवर्द्धिदर्शन उत्पन्न होने के समय से अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् ही होता है । इसलिये इन दोनों कारणों में एकत्व नहीं । *(ध. पु. 6, पृ. 434)*

नौ ग्रैवेयकों में महर्द्धि दर्शन नहीं है क्योंकि यहाँ ऊपर के देवों में आगमन का अभाव है । यहाँ जिन महिमा दर्शन भी नहीं है क्योंकि गैवेयक वासी देव नन्दीश्वरादि के महोत्सव देखने नहीं आते । गैवेयक विमानवासी देव वीतराग होते हैं अतएव जिन महिमा दर्शन से उन्हें विस्मय नहीं उत्पन्न होता है । *(ध.पु. 6, पृ. 436)*

नारकी जीव मिथ्यात्व सहित नरक में जाकर सम्यक्त्व सहित वहाँ से निकलते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 438)*

नरक में उत्पन्न हुए क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के अथवा कृतकृत्य बेदक सम्यग्दृष्टियों के अन्य गुणस्थान में संक्रमण नहीं होता और सासादन सम्यग्दृष्टियों का नरक गति में प्रवेशही नहीं है क्योंकि यहाँ प्रवेश के प्रतिपादन न करने की अन्यथा उपपत्ति नहीं बनती । *(ध. पु. 6, पृ. 436)*

पंचेन्द्रिय संज्ञी गर्भोपक्रान्तिक के पर्याय तिर्यंचों में आने वाले नारकी जीव संख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों में ही आते हैं । असंख्यात वर्षों की आयु वालों में नहीं । *(ध. पु. 6, पृ. 449)*

नारकी जीवों में दान और दान का अनुमोदन इन दोनों भोगभूमि में उत्पन्न होने के कारणों के अभाव से वे जीव असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यचों में नहीं उत्पन्न होते । *(ध. पु. 6, पृ. 450)*

सम्यग्दृष्टि नारकी जीव नरक से निकलकर एक मनुष्य गति में ही आते हैं ।

(ध. पु. 6, पृ. 451)

मनुष्यों में आने वाले सम्यग्दृष्टि नारकी जीव गर्भोपक्रान्तिकों में आते हैं सम्मूर्च्छिमों मे नहीं ।

(ध. पु. 6, पृ. 451)

देवायु को छोड़कर अन्य आयुओं का असंयत सम्यग्दृष्टियों संख्यात वर्षायुष्क तिर्यंच जीवों के बन्ध का अभाव है और आयु बन्ध के बिना किसी गति विशेष में उत्पत्ति होती नहीं है क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता । *(ध. पु. 6, पृ. 465)*

तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीवों में संयम का अभाव पाया जाता है और संयम के बिना आरण अच्युत कल्प से ऊपर गमन नहीं होता है इस कथन से आरण अच्युत कल्प से ऊपर उत्पन्न होने वाले मिथ्या दृष्टि जीवों के साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता क्योंकि उन मिथ्यादृष्टियों के भी भाव संयम रहित द्रव्यसंयम होना सम्भव है । *(ध. पु. 6, पृ. 465)*

असंख्यात वर्षायुष्क मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों के सौधर्मादिक उपरिय देवों में गमन करने के योग्य परिणामों का अभाव है । *(ध. पु. 6, पृ. 467)*

देवों में जाने वाले असंख्यात वर्षायुष्क असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच सौधर्म ईशान कल्पवासी देवों में जाते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 469)*

अपर्याप्तक मनुष्यों के दान और दानानुमोदन इन दोनों कारणों का अभाव है ।

(ध. पु. 6, पृ. 470)

संख्यात वर्ष की आयु वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्य, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान सहित मनुष्य होते हुए मनुष्य पर्यायों से मरण नहीं करते । *(ध. पु. 6, पृ. 473)*

उपर्युक्त देवों में दान और दान के अनुमोदन (इन भोगभूमि में उत्पत्ति के दो कारणों) का अभाव है अथवा स्वभाव से ही उपर्युक्त देव असंख्यात वर्षायुष्क भोगभूमि के तिर्यंचों में नहीं उत्पन्न होते हैं । *(ध. पु. 6, पृ. 479)*

वासुदेवत्व की उत्पत्ति में उससे पूर्व मिथ्यात्व के अविनाभावी निदान का होना अवश्यंभावी है।

(ध. पु. 6, पृ. 501)

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 7.

1. **गति** - जहाँ को गमन किया जाय वह गति है । रूढ़ि बल से गति नाम कर्म द्वारा जो पर्याय निष्पन्न की गई है । उसी में गति शब्द का प्रयोग किया जाता है गति नाम कर्म के उदय के अभाव के कारण सिद्ध गति होती है । वह अगति कहलाती है । अथवा एक भव से दूसरे भव में संक्रान्ति का नाम गति है और एक भव से दूसरे भव के लिये संक्रान्ति का न होना सिद्ध गति है । *(ध.पु. 7, पृ,. 6)*

2. **इन्द्रिय** - जो अपने-अपने विषय में निरत हों वे इन्द्रियाँ है अर्थात् अपने-अपने विषय रूप पदार्थों में रमण करने वाली इन्द्रियाँ कहलाती है । अथवा इन्द्र आत्मा को कहते हैं और इन्द्रों के लिंग का नाम इन्द्रिय है ।

3. **काय** - आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा उपचित किये गये पुद्गल पिंड को काय कहते हैं । अथवा पृथ्वीकाय आदि नाम कर्मों के द्वारा उत्पन्न परिणाम को कार्य में कारण के उपचार से काय कहा है । अथवा जिसमें जीवों का संचय किया जाये ऐसी व्युत्पत्ति से काय बना है ।

4. **योग** - आत्मा की प्रवृत्ति से उत्पन्न संकोच विकोच का नाम योग है अर्थात् मन वचन और काय के अवलम्बन से जीव प्रदेशों में परिस्पंदन होने को योग कहते हैं ।

5. **वेद** - आत्मा की प्रवृत्ति से मैथुन रूप सम्मोह की उत्पत्ति का नाम वेद है ।

6. **कषाय** - सुख दु:ख रूपी खूब फसल उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी क्षेत्र का जो कर्षण करते हैं वे कषाय है ।

7. **ज्ञान** - जो यथार्थ वस्तु का प्रकाशक है अथवा जो तत्त्वार्थ प्राप्त कराने वाला है वह ज्ञान है।

8. **संयम** - व्रत रक्षण, समिति पालन, कषाय निग्रह, दण्ड त्याग और इन्द्रिय जय का नाम संयम है । अथवा सम्यक् रूप से यम का नाम संयम है ।

9. **दर्शन** - प्रकाश रूप वृत्ति का नाम दर्शन है ।

10. **लेश्या** - आत्म प्रवृत्ति में संश्लेषण करने वाली लेश्या है अथवा लिंपन करने वाली लेश्या है।

11. **भव्य** - जिस जीव ने निर्वाण को पुरस्कृत किया है अर्थात् अपने सन्मुख रखा है वह भव्य है ।

    अभव्य - निर्वाण को पुरस्कृत नहीं करने वाला जीव अभव्य है ।

12. **सम्यक्त्व** - तत्त्वों में रूचि होना ही सम्यक्त्व है । अथवा प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा की अभिव्यक्ति ही जिसका लक्षण है वही सम्यक्त्व है ।

13. **संज्ञी** - शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करने वाला जीव संज्ञी है ।

    असंज्ञी - शिक्षा क्रियादि को नहीं ग्रहण करने वाला जीव असंज्ञी है ।

14. **आहार** - शरीर बनाने के योग्य पुद्गल पिंड को ग्रहण करना ही आहार है ।

अनाहार - शरीर के योग्य पुद्गल पिण्ड को ग्रहण नहीं करना अनाहार है । **मार्गणा** - उपर्युक्त चौदह स्थानों में जीवों की खोज की जाती है, इसलिये इनका नाम मार्गणा है । *(ध. पु. 7, पृ. 6 व 7)*

किस नय के विषय का आश्रय लेकर स्थित नारकी जीव का यहाँ ग्रहण किया गया है ? यहाँ पर नयों का अभिप्राय बतलाये हैं -

1. **नैगम नय** - किसी मनुष्य को पापी जीवों का क्षमागम करते हुए देखकर नैगम नय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है ।
2. **संग्रह नय** - जब वह मनुष्य प्राणिवध करने का विचार कर सामग्री का संग्रह करता है तब वह संग्रह नय से नारकी कहा जाता है ।
3. **व्यवहार नय** - जब कोई मनुष्य हाथ में धनुष और बाण लिये मृगों की खोज में भटकता फिरता है तब वह नारकी कहलाता है । यह व्यवहार नय का वचन है ।
4. **ऋजु सूत्र नय** - आखेट स्थान पर पापी मृगों पर आघात करता है तब वह नारकी कहलाता है यह ऋजुसूत्र नय का विषय है ।
5. **शब्द नय** - जब जन्तु प्राणों से विमुक्त कर दिया जाय तभी वह आघात करने वाला हिंसा कर्म से संयुक्त मनुष्य नारकी कहा जाय, यह शब्द नय का वचन है ।
6. **समभिरूढ़ नय** - जब मनुष्य नारक कर्म का बन्धक होकर नारक कर्म से संयुक्त हो जाय तभी वह नारकी कहा जाय, यह समभिरूढ़ नय का वचन है ।
7. **एवंभूत नय** - जब वही मनुष्य नरक गति को प्राप्त होकर नरक के दुःख का अनुभव करने लगता है तभी वह नारकी है ऐसा एवंभूत नय कहता है । *(ध.पु. 7 पृ. 28 व 29)*

तीर्थंकरों के केवल एक प्रशस्त विहायोगति ही उदय में आती है । तीर्थंकरों के दुस्वर और अप्रशस्त विहायोगति (तथा प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष पाँच संस्थानों) का उदय नहीं होता **(ध.पु. 7 पृ. 56)**

तीर्थंकर प्रकृति के उदय वाले संयोगि जिनका विरह काल सबसे जघन्य भी वर्ष पृथक्त्व से कम नहीं पाया जाता । इस उदय स्थान का उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त से अधिक गर्भ से लेकर आठ वर्ष से कम एक पूर्व कोटि है । *(ध.पु. 7 पृ. 57)*

भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त देव के प्रथम समय से लेकर आयु का अन्तिम समय आने तक इस उदय स्थान का काल है । उस काल का प्रमाण जघन्य से अन्तर्मुहूर्त से हीन दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त कम तैतीस सागरोपम प्रमाण है । *(ध.पु. 7 पृ. 59)*

उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर पर्याय के अन्तिम समय तक जिस प्रकृति का नियम से उदय होकर विवक्षित गति के सिवाय अन्यत्र उदय न होने का नियम देखा जाता है उसी कर्म प्रकृति के उदय से नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव होता हैं ऐसा निर्देश किया गया है । *(ध.पु. 7 पृ. 60)*

घाति कर्म - केवलज्ञान, केवल दर्शन, सम्यक्त्व चारित्र और वीर्य रूप जो अनेक भेदों से भिन्न जीव गुण हैं उनके उक्त कर्म विरोधी अर्थात् घातक होते हैं, इसीलिये वे घाति कर्म कहलाते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 62)*

अघाति कर्म - शेष कर्मों की घाति संज्ञा नहीं है क्योंकि, उनमें जीव के गुणों का विनाश करने की शक्ति नहीं पाई जाती । क्योंकि आयुकर्म जीवों के गुणों का विनाशक नहीं है, कारण कि उसका कार्य तो भव्य धारण कराने का है । गौत्र कर्म भी जीव गुण विनाशक नहीं है, उसका कार्य नीच और उच्च कुल उत्पन्न कराना है । क्षेत्र विपाकी और पुद्गल विपाकी नाम कर्म भी जीव गुण विनाशक नहीं है, क्योंकि उसका सम्बन्ध यथा योग्य क्षेत्र और पुद्गलों के होने के कारण अन्यत्र उनका व्यापार मानने में विरोध है । जीव विपाकी नाम कर्म जीव की अनात्मभूत सुभग-दुर्भग आदि पर्यायें उत्पन्न कराने में व्यापार करना है इसलिये उन्हें जीवगुण विनाशक मानने में विरोध आता हैं तथा वे घाति कर्मों की सहायता से होने वाला वह घाति कर्मों के बिना अपना कार्य करने में असमर्थ है तथा होकर के भी उसकी दुःख उत्पन्न करने में प्रवृत्ति नहीं होती इसी बात को बतलाने के लिये असाता वेदनीय को घाति संज्ञा नहीं की । *(ध.पु. 7 पृ. 63)*

घातिया कर्मों का अनुभाग दो प्रकार का है सर्व घातक और देश घातक । घातियाँ कर्मो की जो अनुभाग शक्ति लता-दारु अस्थि और शैल समान कही गयी है उसमें दारु तुल्य से ऊपर अस्थि और शैल तुल्य भागों में तो उत्कृष्ट सर्वावरणीय शक्ति पाई जाती है किन्तु दारु समभाग के निचले अनन्तिम भाग में (व उसके नीचे सब लता तुल्य भाग में) देशावरणीय शक्ति है तथा ऊपर अनन्त बहुभागों में सर्वावरण शक्ति है । *(ध.पु. 7 पृ. 63)*

स्पर्शेन्द्रियावरण के सर्वघाति स्पर्धकों के सत्त्वोपशम व देशघाति स्पर्धकों के उदय से चक्षु घ्राण और जिह्वा इन्द्रियावरणों के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय क्षय से व उन्हीं के सत्त्वोपशम से अथवा अनुदयोपशम से एवं देश घाति स्पर्धकों के उदय से तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण के देशघाति स्पर्धकों के उदय से चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न होती है । स्पर्शन जिह्वा और घ्राण इन्द्रियों का अविनाभाव होने से चक्षु इन्द्रिय चतुर्थ इन्द्रिय कहलाती है । उस चक्षु इन्द्रिय से युक्त जीव चतुरिन्द्रिय होता है अथवा चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्मोदय का अविनाभाव होने से चक्षु को चतुरिन्द्रिय कहना चाहिये । स्पर्शनेन्द्रियादि चार इन्द्रियों से युक्त होने के कारण जीव चतुरन्द्रिय कहलताा है । इसी कारण क्षयोपशमिक लब्धि के द्वारा जीव चतुरिन्द्रिय होता है । ऐसा कहा जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 65)*

लक्षण - जिसके अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जाता है वही उस द्रव्य का लक्षण है, जैसे - पुद्गल द्रव्य का लक्षण रूप रस गंध और स्पर्श है व जीव का लक्षण है उपयोग । *(ध.पु. 7 पृ. 96)*

चक्षु दर्शन - जो चक्षु इन्द्रियों का अवलम्बन लेकर प्रकाशित होता है या दिखता है उसे चक्षु दर्शन कहते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 100)*

अचक्षु दर्शन - जो चक्षु इन्द्रिय बिना शेष इन्द्रियों से दर्शन होता है उसे अचक्षु दर्शन जानना चाहिये ।

अवधि दर्शन - परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध तक जितने मूर्तिक द्रव्य हैं उन्हें जो प्रत्यक्ष देखता है वह अवधि दर्शन है । *(ध.पु. 7 पृ. 100)*

शंका - परमार्थ रूप अर्थ क्या है ?

समाधान - चक्षुओं के अवलम्बन से जो प्रकाशित होता है अर्थात् दिखता है, अथवा आँख द्वारा देखा जाता है वह चक्षु दर्शन है, इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिये कि चक्षु इन्द्रिय ज्ञान से जो पूर्व ही चक्षुज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तभूत जिसमें स्वशक्ति रूप सामान्य का अनुभव होता है वह चक्षु दर्शन है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध.पु. 7 पृ. 101)*

सरण - ज्ञान होना । *(ध.पु. 7 पृ. 101)*

शंका - यदि कषायों के उदय से लेश्याएँ कही जाती है तो बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणकषाय जीवों के लेश्या का अभाव का प्रसंग आता है ?

समाधान - सचमुच ही क्षीण कषाय जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग आता यदि केवल कषायोदय से ही लेश्या की उत्पत्ति मानी जाती । किन्तु शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न योग भी लेश्या है यह स्वीकार किया जाता है क्योंकि वह भी कर्म के बन्ध में निमित्त होता है इस कारण कषाय के न नष्ट हो जाने पर भी चूंकि योग रहता है इसलिये क्षीणकषाय जीवों को लेश्या सहित मानने में कोई विरोध नहीं आता । *(ध.पु. 7 पृ. 105)*

औपशमिक क्षायिक और क्षयोपशमिक लब्धि से जीव सम्यग्दृष्टि होता है । दर्शन मोहनीय के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है, क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है और क्षयोपशम से वेदक सम्यक्त्व होता है इन तीनों सम्यक्त्वों का जो एकत्व है उसी का नामं सम्यग्दष्टि है । चूंकि उस सम्यग्दृष्टि के तीन भाव होते हैं इसीलिये सम्यग्दृष्टि औपशमिक-क्षायिक व क्षायोपशमिक लब्धि से होता है, ऐसा कहा गया है । *(ध.पु. 7 पृ. 107)*

1. **क्षायिक लब्धि** - दर्शन मोहनीय कर्म के नि:शेष विनाश को क्षय कहते हैं और उस क्षय से जो जीव परिणाम उत्पन्न होता है वह क्षायिक लब्धि कहलाती है और उसी क्षायिक लब्धि से जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है । *(ध.पु. 7 पृ. 108)*
2. सम्यक्त्व प्रकृति रूप देशघाति स्पर्धकों की अनन्त गुणी हानि होने से उदय में आये हुए अति अल्प देशघातीपने की अपेक्षा उपशान्त हुए उन (सम्यक्त्व प्रकृति के स्पर्धकों) का चूंकि क्षयोपशम नाम दिया गया है इसलिये उस क्षयोपशम से उत्पन्न जीव परिणाम को क्षयोपशम लब्धि कहते हैं । उसी क्षयोपशम लब्धि से वेदक सम्यक्त्व होता है । *(ध.पु. 7 पृ. 108)*
3. औपशमिक लब्धि से जीव उपशम सम्यग्दृष्टि होता है क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति देखी जाती है । *(ध.पु. 7 पृ. 109)*

पारमाणिक भाव से जीव सासादन सम्यग्दृष्टि होता है । यह सासादन परिणाम क्षायिक नहीं होता क्योंकि दर्शन मोहनीय के क्षय से उसकी उत्पत्ति नहीं होती । सासादन परिणाम क्षायोपशमिक भी नहीं है क्योंकि दर्शन मोहनीय के देशघाति स्पर्धकों के उदय से उसकी उत्पत्ति नहीं होती ।

सासादन परिणाम औपशमिक भी नहीं है, क्योंकि दर्शन मोहनीय के उपशम से उसकी उत्पत्ति नहीं होती । सासादन परिणाम औदायिक भी नहीं है क्योंकि दर्शन मोहनीय के उदय से उसकी उत्पत्ति नहीं होती । अतएव पारिशेष न्याय से परिणामिक भाव से सासादन परिणाम होता है ।

(ध.पु. 7 पृ. 109)

शंका - अनन्तानुबंधी के उदय से सासादन गुणस्थान होता है अतएव उसे औदयिक भाव क्यों नहीं कहते ?

समाधान - नहीं, क्योंकि दर्शन मोहनीय के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होता है इसलिये सासादन गुणस्थान का पारिणामिक भाव स्वीकार किया है ।

शंका - अनन्तानुबंधी चतु:दर्शन और चारित्र दोनों का मोहन कहने वाला है ?

समाधान - भले ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क उभय मोहनीय हो किन्तु यहाँ वैसी विवक्षा नहीं है । अनन्तानुबंधी चारित्र मोहनीय ही है, इसी विवक्षा से सासादन गुणस्थान को पारिणामिक कहा है ।

(ध.पु. 7 पृ. 110)

सम्यग्मिथ्या दृष्टि - क्षयोपशम लब्धि से जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है ।

शंका - सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय प्रकृति के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय से जीव सम्यग्मिथ्यात्व दृष्टि होता है इसलिये उसके क्षयोपशमिक भाव नहीं बनता है ?

समाधान - सम्यक्त्व की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व के स्पर्धकों में सर्वघातीपना भले ही हो किन्तु अशुद्ध नय की विवक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के स्पर्धकों में सर्वघातीपना नहीं होता क्योंकि उनका उदय रहने पर भी मिथ्यात्व मिश्रित सम्यक्त्व का कण पाया जाता है । सर्वघाति स्पर्धक तो उन्हें कहते हैं जिनका उदय होने से मूल (प्रतिपक्षी गुण) घात हो जाता है । किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व में तो हम सम्यक्त्व का निर्मूल विनाश नहीं देखते क्योंकि यहाँ सद्भूत और असद्भूत पदार्थों में समान श्रद्धान होता देखा जाता है इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व का क्षयोपशमिक भाव बन जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 111)*

सातिरेक का प्रमाण एक समय - उत्तरोत्तर उपरिम पृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति एक समय अधिक होकर नीचे-नीचे की पृथ्वीयों में जघन्य स्थिति होती है, इस आगम वचन से ही जाना जाता है कि उपर्युक्त पृथ्वियों की जघन्यायु में सातिरेक का प्रमाण केवल एक समय अधिक है । *(ध.पु. 7 पृ. 118)*

जघन्य से क्षुद्र भव ग्रहण काल तक - पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी अन्तर्मुहूर्त काल तक रहते हैं क्योंकि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का जघन्य काल क्षुद्र भव ग्रहण प्रमाण है कारण कि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में अपर्याप्तक जीवों का होना सम्भव है शेष तिर्यंचों का प्रमाण काल अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि उनमें अपर्याप्तक नहीं होते । पर्याप्तक जीवों में जघन्यायु स्थिति का प्रमाण क्षुद्रभव ग्रहण काल नहीं होता अर्थात् उससे अधिक होता है, क्योंकि यदि पर्याप्तक काल के जघन्य आयु प्रमाण भी क्षुद्रभव ग्रहण काल मात्र होता तो प्रस्तुत सूत्र में अन्तर्मुहूर्त काल के उपदेश निरर्थक होने का प्रसंग आ जाता । *(ध.पु. 7 पृ. 122)*

शंका - तिर्यंचों में दान कैसे सम्भव है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि जो तिर्यंच संयतासंयत जीव सचित्त भंजन के प्रत्याख्यान अर्थात् त्यागव्रत को ग्रहण कर लेते हैं उनके लिये शल्लकी के पत्तों आदि का दान करने वाले तिर्यंचों के दान देने में कोई विरोध नहीं आता । *(ध.पु. 7 पृ. 123)*

जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण काल तक पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्तक रहते हैं क्योंकि किन्हीं भी अविवक्षित पर्यायों से आकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्तकों में उत्पन्न होकर व सर्व जघन्य काल से भुज्यमान आयु को कदली घात से नष्ट करके क्षुद्र भव ग्रहण काल प्रमाण तक रहकर निकल जाने वाले जीव के सूत्रोक्त काल पाया जाता है । (ध.पु. 7 पृ. 124)

शंका - कदली घात से भुज्यमान आयु को नष्ट करने वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्तकों में क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण काल क्यों नहीं पाया जाता ?

समाधान - नहीं, क्योंकि पर्याप्तकों में बहुत अच्छी तरह आयु का घात करने वाले जीव के भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भुज्यमान आयु का इससे कम में पतन नहीं होता । *(ध.पु. 7 पृ. 124)*

शंका - देव और नारकी जीवों में क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण अथवा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु स्थिति क्यों नहीं पाई जाती ?

समाधान - नहीं, क्योंकि देव और नारकियों सम्बन्धी आयु का बंध दश हजार वर्ष से कम नहीं होता और उनकी भुज्यमान आयु का कदली घात नहीं होता है । *(ध.पु. 7 पृ. 124)*

1. उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्तक रहते हैं *(ध.पु. 7 पृ. 124)*
2. जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण काल तक जीव मनुष्य और अन्तर्मुहूर्त काल तक मनुष्य पर्याप्तक व मनुष्यिनी रहते हैं । उत्कृष्ट से पूर्व कोटि पृथक्त्व से अधिक तीन पल्योपम काल तक जीव मनुष्य, मनुष्य पर्याप्तक व मनुष्यिनी रहते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 125)*

जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण काल तक जीव अपर्याप्त मनुष्य रहते हैं, क्योंकि किन्हीं भी अन्य पर्यायों से आकर अपर्याप्तक मनुष्यों में उत्पन्न होकर कदली घात में भुज्यमान आयु के घात द्वारा क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण काल तक रहकर व वहाँ से निकलकर किसी भी अन्य पर्याय में उत्पन्न होने वाले जीव के सूत्रोक्त काल की प्राप्ति होती है । *(ध.पु. 7 पृ. 126)*

उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल तक अपर्याप्त मनुष्य रहते हैं क्योंकि अनेक बहुवार अपर्याप्त मनुष्यों में अति दीर्घायु होकर भी उत्पन्न हुए जीव के दो घड़ी प्रमाण काल तक भव स्थिति का होना असम्भव है । *(ध.पु. 7 पृ. 127)*

देव, नारकी, भोगभूमिज तिर्यंच और भोगभूमिज मनुष्य इनके मरने पर पुनः उसी पर्याय में अनन्तर उत्पत्ति नहीं पाई जाती । कारण कि उनके वहाँ उत्पन्न होने का अत्यन्त अभाव है । *(ध.पु. 7 पृ. 128)*

देवों की जघन्य व उत्कृष्ट आयु

उत्कृष्ट से क्रमशः सातिरेक एक सागरोपम-सातिरेक एक पल्योपम व सातिरेक एक पल्योपम काल तक जीव भवन वासी, वानव्यन्तर व ज्योतिषी देव रहते हैं ।

विशेष - भवन वासी देवों में उत्कृष्ट आयु स्थिति का प्रमाण अर्ध सागरोपम अधिक एक सागरोपम होता है तथा वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवों में अर्धपल्योपम अधिक एक पल्योपम होता है । इस प्रकार उत्कृष्ट आयु के प्रमाण के कथन का आयुबन्ध सम्बन्धी सूत्र में कहे गये प्रमाण से विरोध नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि ऊपर की आयु को अर्द्धवर्तना घात से घात करके उत्पन्न हुए भवनवासी आदि देवों में आयुओं का प्रमाण इसी प्रकार पाया जाता है । इन सब आयुओं जो किंचित हीन प्रमाण है उसका कथन जानकर करना चाहिये । **(देखो - जीवट्ठाण कालानुगम सूत्र 96, टीका भाग 4, पृ. 382)** ***(ध.पु. 7 पृ. 129)***

इन तीनों लोकों में जघन्यायु से लेकर उत्कृष्ट आयु पर्यन्त उत्तरोत्तर एक-एक समय अधिक क्रम से आयु बढ़ती है, क्योंकि यहाँ प्रस्तरों का अभाव है । ***(ध.पु. 7 पृ. 128)***

सौधर्म और ईशान स्वर्गों में डेढ़ पल्योपम जघन्य आयु है । सानत्कुमार स्वर्गों में अढाई सागरोपम, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गों में साढे सात सागरोपम, लातंव और कापिष्ठ स्वर्गों में साढ़े दश सागरोपम, शुक्र और महाशुक्र में साढ़े चौदह सागरोपम तथा शतार और सहस्त्रार स्वर्गों में साढे सोलह सागरोपम जघन्य आयु है । ***(ध.पु. 7 पृ. 130)***

उत्कृष्ट से सातिरेक दो, सात, दश, चौदह, सोलह व अठारह सागरोपम काल तक जीव सौधर्म ईशान आदि कल्पों में रहते हैं ।

विशेष - सातिरेक का अर्थ कुछ कम आधा सागर जानना, कुछ कम का प्रमाण जानकर कहना चाहिये । ***(ध.पु. 7 पृ. 130)***

जघन्य से सातिरेक 18-20-22-23-24-25-26-27-28-29-30-31 व 32 सागरोपम काल तक जीव क्रमशः आनत आदि स्वर्गों में व अपराजित तक विमानवासी देव रहते है ।

विशेष - आनत प्रानत कल्प में जघन्य आयु साढे अठारह सागरोपम व आरणअच्युत में एक समय अधिक 20 सागरोपम है, ऊपर नवगैवेयक के नव पटलों तक प्रत्येक पटलों में क्रमशः 22 सागर व आगे 1-1 सागर (23-24 आदि) वृद्धि संख्या को प्राप्त 30 सागर तक व अनुदिश में 31 सागर और विजय, वैजयन्त, जयन्त व अपराजित इन चार अनुत्तर विमानों में 32 सागरोपम जघन्य आयु वाले देव होते हैं । ***(ध.पु. 7 पृ. 133)***

उत्कृष्ट से 20-22-23-24-25-26-27-28-29-30-31-32 और 33 सागरोपम काल तक जीव आनत प्राणत आदि विमानवासी देव रहते हैं । जघन्य से और उत्कृष्ट से वहाँ 33 सागरोपम प्रमाण काल तक जीव सर्वार्थसिद्धि विमान वाली देव रहते हैं । **(ध.पु. 7 पृ. 135)**

एकेन्द्रियों में जघन्य व उत्कृष्ट आयु

जघन्य से क्षुद्र भव ग्रहण काल तक जीव एकेन्द्रिय रहते हैं । क्योंकि अन्य अविवक्षित इन्द्रियों वाले जीवों में से आकर एकेन्द्रियों में उत्पन्न होकर कदली घात से घातित क्षुद्रभव ग्रहण मात्र काल रहकर अन्य द्विइन्द्रियादि जीवों में गये हुए जीवों के सूत्रोक्त काल प्रमाण पाया जाता है । *(ध.पु. 7 पृ 136)*

उत्कृष्ट से असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अनन्त काल तक जीव एकेन्द्रिय रहते हैं ।

1. जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण मात्र काल तक वहाँ बादर एकेन्द्रिय जीव रहते हैं ।
2. उत्कृष्ट से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्याता संख्यात अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी प्रमाण काल तक वहाँ बादर एकेन्द्रिय जीव रहते हैं ।

   विशेष - कुम्हार के चक्के के समान उसी पर्याय में परिभ्रमण करके निकलने वाले जीव के सूत्रोक्त काल का होना सम्भव है । *(ध.पु. 7 पृ. 137)*
3. जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव वहाँ रहते हैं । क्योंकि पर्याप्तक जीवों में अन्तर्मुहूर्त के सिवाय अन्य जघन्य आयु कहीं नहीं जाती । *(ध.पु. 7, पृ. 137)*
4. उत्कृष्ट से संख्यात हजार वर्षों तक बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव वहाँ रहते हैं ।

   विशेष - केवल ज्ञान से निकले हुए व समस्त प्रमाणों से अधिक प्रमाणभूत इस जिन वचन के सम्बन्ध में विसंवाद नहीं हो सकता । *(ध.पु. 7 पृ. 137)*
5. जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण काल तक बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव वहाँ रहते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 138)*
6. उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल तक एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त जीव वहाँ रहते हैं । क्योंकि अनेक हजारों बार उसी पर्याय में पुनः पुनः उत्पन्न हुए जीव के भी अन्तर्मुहूर्त को छोड़कर ऊपर की आयु स्थितियाँ नहीं पायी जाती । *(ध.पु. 7, पृ. 138)*
7. जघन्य से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव क्षुद्र भव ग्रहण काल तक रहते हैं । **(ध.पु. 7, पृ. 138)**
8. उत्कृष्ट से २,न्तर्मुहूर्त काल तक एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्तक जीव वहाँ रहते हैं । अन्य इन्द्रियों वाले जीवों में से आकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होकर असंख्यात लोक प्रमाण काल तक तपाये हुए जल के समान उसी पर्याय में परिभ्रमण करके निकले हुए जीवों में सूत्रोक्त काल पाया जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 138)*

शंका -बादर एकेन्द्रिय जीवों की स्थिति से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की स्थिति अधिक क्यों नहीं हुई ?

समाधान -नहीं, क्योंकि बादर एकेन्द्रिय जीवों में जितनी बार आयुबन्ध होता है उनसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के असंख्यात गुणी अधिक बार आयु के बंध होते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 139)*

9. जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक रहते हैं ।

10. उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव वहाँ रहते हैं । क्योंकि अनेक सहस्रवार उसी-उसी पर्याय में उत्पन्न होने पर भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की भवस्थिति नहीं पाई जाती । *(ध.पु. 7 पृ. 140)*

11. जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण काल तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव रहते हैं ।

12. उत्कृष्ट से सूक्ष्म एकेन्द्री अपर्याप्तक जीव अन्तर्मुहूर्त काल तक वहाँ रहते हैं ।

शंका - सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट भव स्थिति का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त ही है । जबकि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की भव स्थिति असंख्यात लोक प्रमाण है । यह बात परस्पर विरुद्ध क्यों नहीं है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव असंख्यात लोक प्रमाण बार पर्याप्तक और अपर्याप्तकों में आवागमन करते हैं । इसलिये उनके अविच्छिन्न पर्याप्त व पर्याप्त काल के अन्तर्मुहूर्त होते हुए भी सूक्ष्म पर्याय सम्बन्धी काल के असंख्यात लोक प्रमाण होने में कोई विरोध नहीं आता । *(ध.पु. 7 पृ. 140)*

विकलत्रय जीवों में जघन्य व उत्कृष्ट आयु

13. जघन्य से क्षुद्भव ग्रहण मात्र काल व अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव विकलत्रय व विकलत्रय पर्याप्त होते हैं । यहाँ क्रमानुसार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों में उनके अपर्याप्तकों का भी अन्तर्भाव है अतएव उन्हीं अपर्याप्तकों की अपेक्षा इनका जघन्य काल क्षुद्र भव ग्रहण प्रमाण होता है । उन्हीं द्वीन्द्रियादिक जीवों में पर्याप्तकों का काल अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि उनमें अपर्याप्तकों का अभाव है ।

14. उत्कृष्ट से विकलत्रय व विकलत्रय पर्याप्त जीव संख्यात हजार वर्षों तक वहाँ रहते हैं । अविवक्षित इन्द्रिय वाले जीवों में से आकर 12 वर्ष, 49 दिन रात्रि तथा 6 मास की आयु वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जीवों में उपन्न होकर बहुत बार उन्हीं पर्यायों में परिभ्रमण करके निकलने वाले जीव के सूत्रोक्त काल का होना सम्भव है । *(ध.पु. 7 पृ. 141)*

15. जघन्य से विकलत्रय अपर्याप्तक जीव क्षुद्रभव काल तक वहाँ रहते हैं । उत्कृष्ट से विकलत्रय अपर्याप्तक जीव अन्तर्मुहूर्त काल तक वहाँ रहते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 142)*

पंचेन्द्रिय आयु

16. जघन्य से क्षुद्रभव ग्रहण काल व अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव पंचेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय पर्याप्तक रहते है ।

17. उत्कृष्ट से पूर्व कोटि पृथक्त्व से अधिक सागरोपम सहस्र व सागरोपम शत पृथक्त्व काल तक जीव क्रमशः पंचेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय पर्याप्तक रहते हैं ।

पंचेन्द्रिय जीवों का काल पूर्व कोटि पृथक्त्व से अधिक एक हजार सागरोपम प्रमाण होता है परन्तु पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का काल सागरोपम शत पृथक्त्व ही है । ***(ध.पु. 7 पृ. 143)***

18. जघन्य से क्षुद्र भव ग्रहण काल तक जीव पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक रहते हैं ।

19. उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक रहते हैं । **(ध.पु. 7 पृ. 143)**

सूक्ष्म पृथ्वीकायकादि आयु

20. सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म अप्कायिक, सूक्ष्म तेजकायिक, सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म वनस्पति कायिक और सूक्ष्म निगोद जीव तथा इन्हीं के पर्याप्त व अपर्याप्त जीवों के काल का निरूपण क्रम से सूक्ष्म एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त व सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों के समान है ।

सूक्ष्म वनस्पतिकायिकों का पृथक से कथन कर सूत्र में सूक्ष्म निगोद जीवों का निरूपण किया गया है अतः इसके पृथक प्ररूपण की अन्यथानुपपत्ती से सूक्ष्म वनस्पति कायिक और सूक्ष्म निगोद जीवों में भेद है । यह जाना जाता है । ***(ध.पु. 7 पृ. 148)***

21. वनस्पति कायिक जीवों के काल का कथन एकेन्द्रिय जीवों के समान अर्थात् जघन्य काल क्षुद्रभव ग्रहण और उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अनन्त काल है । ***(ध.पु. 7 पृ. 148)***

निगोद जीवों का काल

22. जघन्य से क्षुद्र भव ग्रहण काल तक निगोद जीव उस पर्याय में रहते हैं और उत्कृष्ट से $2\frac{1}{2}$ पुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल तक निगोद जीव उस पर्याय में रहते हैं क्योंकि जो निगोद पर्याय से भिन्न जीव निगोद जीवों मं उत्पन्न होता है उसका उत्कृष्ट से $2\frac{1}{2}$ पुद्गल परिवर्तनों से ऊपर परिभ्रमण नहीं होता है । ***(ध.पु. 7 पृ. 148-49)***

23. बादर निगोद जीवों का काल बादर पृथ्वी कायिकों के समान है ।

विशेष - जिस प्रकार बादर पृथ्वी कायिकों का जघन्य काल क्षुद्रभव ग्रहण और उत्कृष्ट काल कर्म स्थिति प्रमाण है उसी प्रकार बादर निगोद जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट काल है । जिस प्रकार बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तों का काल है उसी प्रकार बादर निगोद पर्याप्तों का काल होता है । विशेष इतना ही है कि बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्तों की उत्कृष्ट आयु स्थिति संख्यात हजार वर्ष है, परन्तु बादर

निगोदपर्याप्तों का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त ही है । तथा जिस प्रकार बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्तों का जघन्य काल क्षुद्रभव ग्रहण और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है उसी प्रकार बादर निगोद अपर्याप्तों का जघन्य और उत्कृष्ट काल होता है । ***(ध.पु. 7 पृ. 149)***

24. जघन्य से एक समय तक जीव औदारिक मिश्र काय योगी आदि रहता है । अर्थात् औदारिक काय योग के अविनाभावी दण्ड समुद्धात से कपाट समुद्धात को प्राप्त हुए संयोगी जिसमें औदारिक मिश्र का एक समय काल पाया जाता है । क्योंकि उस अवस्था में औदारिक मिश्र के बिना अन्य योग नहीं पाया जाता । मनोयोग या वचन योग से वैक्रियक काय योग को प्राप्त के द्वितीय समय में मृत्यु को प्राप्त हुए जीव के वैक्रियक काय योग का एक समय काल पाया जाता है । क्योंकि मर जाने के प्रथम समय में कार्माण काय योग, औदारिक मिश्र काय योग और वैक्रियिक मिश्र काय योग को छोड़कर वैक्रियिक काययोग पाया नहीं जाता । मनोयोग अथवा वचनयोग से आहारक काययोग को प्राप्त होने के द्वितीय समय में मृत्यु को प्राप्त हुए या मूल शरीर में प्रविष्ट हुए जीव के आहारक काय योग का एक समय पाया जाता है क्योंकि मृत्यु को प्राप्त और मूल शरीर में प्रविष्ट हुए जीवों के प्रथम समय में आहारक काय योग नहीं पाया जाता । ***(ध.पु. 7 पृ. 154)***

25. जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव वैक्रियक मिश्र काययोगी और आहारक मिश्र काय योगी रहता है ।

शंका - यहाँ एक समय जघन्य काल क्यों नहीं प्राप्त होता ?

समाधान - नहीं, क्योंकि यहाँ मरण और योग परावृत्ति का होना असम्भव है । ***(ध.पु. 7 पृ. 155)***

26. उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव वैक्रियक मिश्र काय योगी और आहारक मिश्र काय योगी रहता है । ***(ध.पु. 7 पृ. 155)***

27. जघन्य से एक समय तक जीव कार्माण काय योगी रहता है, क्योंकि एक विग्रह (मोड़ा) करके उत्पन्न हुए जीव के एक समय काल पाया जाता है । ***(ध.पु. 7 पृ. 156)***

28. उत्कृष्ट से तीन समय तक जीव कार्माण काय योगी रहता है, क्योंकि तीन समयों से अधिक विग्रह (मोडे) पाये नहीं जाते । ***(ध.पु. 7 पृ. 156)***

29. जघन्य से एक समय तक जीव स्त्री वेदी रहते हैं क्योंकि उपशम श्रेणी से उतरकर सवेद अर्थात् स्त्रीवेदी होकर द्वितीय समय में मृत्यु को प्राप्त होकर पुरुष वेद से परिणत हुए जीव के एक समय पाया जाता है । (ध.पु. 7 पृ. 156)

30. उत्कृष्ट से सौ पल्योपम पृथक्त्व काल तक जीव स्त्रीवेदी रहते हैं । ***(ध.पु. 7 पृ. 156)***

शंका - शत पृथक्त्व किसे कहते हैं ?

समाधान - तीन सौ से लेकर नौ सौ तक ये सब विकल्प (शत पृथक्त्व) कहे जाते हैं ।

31. जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव पुरुष वेदी रहते हैं । अर्थात् पुरुषवेद के उदय से उपशम श्रेणी पर चढ़कर अपगत वेदी होकर पुनः उपशम श्रेणी से उतरता हुआ सवेद होकर वेद का आदि करके सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त काल तक रहकर फिर उपशम श्रेणी पर चढ़कर अपगत वेदपने को प्राप्त हुए जीव से पुरुष वेद का जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल पाया जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 157)*

32. उत्कृष्ट से सौ सागरोपम पृथक्त्व काल तक जीव पुरुष वेदी रहते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 157)*

शंका - पुरुष वेद का जघन्य काल एक समय क्यों नहीं पाया जाता ?

समाधान - नहीं, क्योंकि अपगत वेद होकर और सवेद होने के द्वितीय समय में मरकर देवों में उत्पन्न होने पर भी पुरुष वेद को छोड़कर अन्य वेद के उदय का अभाव होने से एक समय काल नहीं पाया जाता । *(ध.पु. 7 पृ. 158)*

33. जघन्य से एक समय तक जीव नपुंसक वेदी रहते हैं । (खुलासा स्त्रीवेद वत् जानना) ।

34. उत्कृष्ट से अनन्त काल तक जीव नपुंसक वेदी रहते हैं । जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है । *(ध.पु. 7, पृ. 158)*

35. उपशम की अपेक्षा जघन्य से एक समय तक जीव अपगत वेदी रहते हैं । क्योंकि उपशम श्रेणी पर चढ़कर अपगत वेदी होकर और एक समय तक रहकर द्वितीय समय में मरकर सवेदपन को प्राप्त हुए जीव के एक समय काल पाया जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 159)*

36. उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव अपगत वेदी रहते हैं । क्योंकि स्त्रीवेद के उदय से या नपुंसक वेद के उदय से उपशम श्रेणी पर चढ़कर अपगत वेदी होकर और सर्वोत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल तक वहाँ रहकर वेदपने को प्राप्त हुए जीव के उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल पाया जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 159)*

37. क्षपक की अपेक्षा जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक अपगत वेदी रहते हैं । क्योंकि क्षपक श्रेणी पर चढ़कर और अपगत वेदी होकर सर्व जघन्य काल से मुक्ति को प्राप्त हुए जीव से सूत्रोक्त काल पाया जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 159)*

38. उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि वर्ष तक जीव अपगत वेदी रहते हैं । क्योंकि देव अथवा नारकी क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्व कोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न होकर आठ वर्ष बिताकर संयम को प्राप्त कर सर्व जघन्य काल से क्षपक श्रेणी पर चढ़कर अपगत वेदी होकर केवल ज्ञान को उत्पन्न कर और कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक विहार करके अबंधक अवस्था को प्राप्त हुए जीव के सूत्रोक्त काल पाया जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 160)*

39. मनुष्य अपर्याप्तक कदाचित् हैं और कदाचित् नहीं है । क्योंकि मनुष्य अपर्याप्तकों का कदाचित् अस्तित्व होता है और कदाचित नहीं होता, क्योंकि ऐसा स्वभाव है । *(ध.पु. 7 पृ. 238)*

40. **स्वभाव** - आभ्यंतर भाव को स्वभाव कहते हैं, अर्थात् वस्तु या वस्तु स्थिति की उस अवस्था को उसका स्वभाव कहते हैं जो उसका भीतरी गुण है और बाह्य स्थिति पर अवलम्बत नहीं है । *(ध.पु. 7 पृ. 238)*

41. मूल शरीर में जीव प्रदेशों का प्रवेश किये बिना उस अवस्था में उनके मरण का अभाव है । (ध.पु. 7 पृ. 430)

42. मन:पर्यय ज्ञानियों के उपपाद पद नहीं होता क्योंकि ऐसा स्वभाव है । *(ध.पु. 7 पृ. 430)*

43. केवल ज्ञानियों के मारणान्तिक पद नहीं होता क्योंकि केवल ज्ञानी में उसके अस्तित्व का विरोध है। *(ध.पु. 7 पृ. 454)*

44. मानुष क्षेत्र में ही मरण को प्राप्त होने वाले उपशम सम्यग्दृष्टि पाये जाते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 454)*

45. सासादन सम्यग्दृष्टियों की एकेन्द्रियों में उत्पत्ति नहीं है । क्योंकि मिथ्यात्व गुण स्थान को छोड़कर उक्त जीवों का सासादन गुणस्थान के साथ एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने का विरोध है । *(ध.पु. 7 पृ. 457)*

46. उपशम सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक रहते हैं । क्योंकि दृष्टिमार्गी जीवों के सम्यग्मिथ्यात्व और उपशम सम्यक्त्व को प्राप्तकर तथा सर्व जघन्य काल तक इन गुणस्थानों में रहकर अन्य गुणस्थान को प्राप्त होने पर अतिशय जघन्य अन्तर्मुहूर्त मात्र काल पाया जाता है । *(ध.पु. 7 पृ. 476)*

47. उक्त जीव उत्कृष्ट के पल्योपम में असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रहते हैं ।

48. सासादन सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य से एक समय रहते हैं क्योंकि उपशम समय्क्त्व काल में एक समय शेष रहने पर सासादन गुणस्थान को प्राप्त होकर और एक समय रहकर द्वितीय समय में मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर एक समय जघन्य काल देखा जाता है । सासादन सम्यग्दृष्टि उत्कृष्ट से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रहते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 476-477)*

49. मनुष्य अपर्याप्तकों का अन्तर जघन्य से एक समय है, जग श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र मनुष्य अपर्याप्तकों के मरकर अन्य गति को प्राप्त होने पर एक समय अन्तर होकर द्वितीय समय में अन्य जीवों के मनुष्य अपर्याप्तकों में उत्पन्न होने पर एक समय अन्तर प्राप्त होता है । *(ध.पु. 7 पृ. 481)*

50. मनुष्य अपर्याप्तकों का उत्कृष्ट अन्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल प्रमाण है । क्योंकि मनुष्य अपर्याप्तकों के मरकर अन्य गति को प्राप्त होने के पश्चात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल के बीत जाने पर पुन: नियम से मनुष्य अपर्याप्तकों में उत्पन्न होने वाले जीव पाये जाते हैं । *(ध.पु. 7 पृ. 481)*

51. वैक्रियक मिश्र काय योगियों का जघन्य अन्तर एक समय होता है । क्योंकि सब वैक्रियक मिश्र काय योगियों के पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेने पर एक समय का अन्तर होकर द्वितीय समय में देवों व नारकियों के उत्पन्न होने पर वैक्रियक मिश्र काययोगियों का अन्तर एक समय होता है । ***(ध.पु. 7 पृ. 485)***

52. वैक्रियक मिश्र काययोगियों का अन्तर उत्कृष्ट से बारह महूर्त होता है । देव अथवा नारिकयों में उत्पन्न होने वाले जीव यदि बहुत अधिक काल तक नहीं उत्पन्न होते हैं तो बारह मुहूर्त तक नहीं उत्पन्न होते हैं । ***(ध.पु. 7 पृ. 485)***

53. आहारक और आहारक मिश्र काय योगियों के बिना तीनों लोकों के जीव एक समय पाये जाते हैं । यह जघन्य अन्तर जानना तथा उक्त दोनों ही योगों के बिना समस्त प्रमत्त संयतों का वर्ष पृथक्त्व काल तक अवस्थान देखा जाता है । ***(ध.पु. 7 पृ. 486)***

54. सूक्ष्म साम्परायिक जीवों का अन्तर जघन्य से एक समय होता है तथा उक्त जीवों का उत्कृष्ट अन्तर छह मास का होता है । क्योंकि क्षपक श्रेणी आरोहण का छह मासों के ऊपर उत्कृष्ट अन्तर नहीं पाया जाता । ***(ध.पु. 7 पृ. 489)***

55. अनन्तवाँ भाग - असंख्यातवां भाग और संख्यातवाँ भाग भागहारों की 'भाग' संज्ञा है । तथा अनन्त बहुभाग - असंख्यात बहुभाग और संख्यात बहुभाग इनकी 'अभाग' संज्ञा है । 'भाग और अभाग' इस प्रकार द्वंद्व समास होकर 'भागाभाग पद' निष्पन्न हुआ । ***(ध.पु. 7 पृ. 495)***

56. संक्षेप में गतियाँ आठ होती है । यथा - मनुष्यनी, मनुष्य, नारक, तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी देव, देवियाँ और सिद्ध ये आठ गति जाननी । ***(ध.पु. 7 पृ. 522)***

धवल पुस्तक 8.

1. **सान्तर बन्धी** - एक समय बंधकर द्वितीय समय में जिनका बन्ध विश्रान्त हो जाता है वे सान्तर बन्धी प्रकृतियाँ है । (जो संख्या में 34 होती है । *(ध.पु. 8, विषय परिचय पृ,. 1)*

2. **निरन्तर बन्धी** - जो प्रकृतियाँ जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त काल तक निरन्तर रूप से बंधती है वे निरन्तर बंधी कहलाती है जो 54 होती है । *(ध.पु. 8, विषय परिचय पृ,. 2)*

3. **सान्तर निरन्तर बन्धी** - जो जघन्य से एक समय और उत्कर्षत एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के आगे भी बन्धती रहती है वे सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियाँ है जो 32 होती है ।

(ध.पु. 8, विषय परिचय पृ,. 2)

4. **सादि बन्ध** - विवक्षित प्रकृति के बन्ध का एक बार व्युच्छेद हो जाने पर जो उपशम श्रेणी से भ्रष्ट हुए जीव के पुन: उसका बन्ध प्रारम्भ हो जाता है वह सादि बन्ध है । जैसे - उपशान्त कषाय गुणस्थान से भ्रष्ट (पतित) होकर सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान को प्राप्त हुए जीव के 5 ज्ञानावरण का बन्ध । *(ध.पु. 8, विषय परिचय पृ,. 1)*

5. **अनादि बन्ध** - विवक्षित कर्म के बन्ध के व्युच्छित्ति स्थान को नहीं प्राप्त हुए जीव के जो उसका बन्ध होता है वह अनादि बन्ध है । जैसे - अपने बन्ध व्युच्छित्ति स्थान सूक्ष्म साम्पराय गुण के अन्तिम समय से नीचे सर्वत्र 5 ज्ञानावरण का बन्ध है ।

(ध.पु. 8, विषय परिचय पृ,. 2)

6. **ध्रुव बन्ध** - अभव्य जीवों के जो ध्रुव बन्धी प्रकृतियों का बन्ध होता है वह अनादि अनन्त होने से ध्रुव बन्ध कहलाता है । ये प्रकृति 47 होती है । *(ध. पु. 8, विषय प्रवेश पृ. 3)*

7. **अध्रुव बन्ध** - भव्य जीवों के जो कर्मबन्ध होता है वह विनश्वर होने से अध्रुव बन्ध है । ध्रुव बन्ध से शेष बची 73 प्रकृति अध्रुव बन्धी है । *(ध. पु. 8, विषय प्रवेश, पृ. 3)*

1. यह द्रव्यार्थिक नय के आश्रित व्यवहार है और वह एकान्त से अर्थात् सर्वथा चपल अर्थात् मिथ्या नहीं है क्योंकि उत्तर काल में विवक्षित पर्याय के विनाश से विशिष्ट द्रव्य पूर्व काल में भी पाया जाता है । *(ध.पु. 8, पृ. 5)*

शंका - द्रव्यार्थि नय की विवक्षा में विद्यमान पर्यायों का अभाव कैसे हो सकता है ?

समाधान - कौन यह कहता है कि उनका वहाँ अभाव है किन्तु वे वहाँ अप्रधान अविवक्षित अथवा अनर्पित है इसलिये उनके द्रव्यपना ही है, उसकी विवक्षा में पर्यायपना नहीं है ।

(ध.पु. 8, पृ. 6)

शंका - **अस्तित्व के वश से द्रव्य से भिन्न पर्यायों के द्रव्यत्व कैसे सम्भव है ?**

समाधान - यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि पर्यायें द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं पाई जाती किन्तु द्रव्य स्वरूप ही वे उपलब्ध होती है । ***(ध.पु. 8, पृ. 6)***

2. **तीर्थंकर** - नरकायु, देवायु, वैक्रियक शरीरादि छह और दोनों आहारक इन 11 प्रकृतियों का बन्ध परोदय से कहा गया है । ***(ध.पु. 8, पृ. 14)***

3. 5 ज्ञानावरणी, 5 अन्तराय, 4 दर्शनावरणी, 4 स्थिरादि (स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ) 2 तैजस द्विक, 4 वर्णादिक, 9 अगुरु लघु, 1 निर्माण और मिथ्यात्व ये सत्ताईस प्रकृति स्वोदय से बधती है ।

4. शेष बची 82 प्रकृति स्वोदय व परोदय दोनों से बंधती है । यथा - 5 दर्शनावरणी, 2 वेदनीय, 25 कषाय, 2 गोत्र, 2 आयु (तिर्यग्यायु, मनुष्यायु), शेष नाम कर्म की 46, 2 गति (तिर्यच व मनुष्य), 5 जाति, 2 औदारिक द्विक, 6 संस्थान, 6 संहनन, 2 गत्यानुपूर्वी, 2 उपघात द्विक, 2 आतप द्विक, 2 विहायोगति, 2 त्रस द्विक, 2 बादर द्विक, 2 पर्याप्त द्विक, 2 प्रत्येक द्विक, 2 सुभग द्विक, 2 सुस्वर द्विक, 2 आदेय द्विक, 2 यशकीर्ति द्विक, 1 उच्छवास इस प्रकार कुल 46 प्रकृति सब मिलकर 82 प्रकृति होती है । ***(ध.पु. 8, पृ. 15)***

5. सैतालिस ध्रुव प्रकृतियाँ, तीर्थंकर, आहारक शरीर द्विक 2, और चार आयु ये सबचौवन प्रकृतियाँ निरंतर बंधती है । ***(ध.पु. 8, पृ. 16)***

6. 5 ज्ञानावरण, 5 अन्तराय, 9 दर्शनावरण, 1 मिथ्यात्व, 16 कषाय, 1 भय कर्म, 1 जुगुप्सा, 2 तैजसद्विक शरीर, 4 वर्णादिक, 1 अगुरुलघु, 1 उपघात और निर्माण नाम कर्म ये सैतालीस ध्रुव बन्धी प्रकृति हैं ।

7. **ध्रुव बन्धी** - जिस प्रकृति का पद (स्थान) जिस किसी भी जीव में अनादि एवं ध्रुव भाव से पाया जाता है वह ध्रुव बन्धी प्रकृति है । ***(ध.पु. 8, पृ. 17)***

8. **निरन्तर बन्ध प्रकृति** - जिस प्रकृति का पद नियम से सादि एवं अध्रुव तथा अन्तर्मुहूर्त आदि काल तक अवस्थित रहने वाला है वह निरन्तर बन्ध प्रकृति है । ***(ध.पु. 8, पृ. 17)***

9. **सान्तर बन्ध** - जिस जिस प्रकृति का बन्धकाल के समाप्त होने से बन्ध व्युच्छेद सम्भव हैं वह सान्तर बन्ध प्रकृति है । ***(ध.पु. 8, पृ. 17)***

10. सप्तम पृथ्वी के सासादन सम्यग्दृष्टियों के तिर्यग्गति को छोड़कर अन्य गतियों का बन्ध ही नहीं होता है । ***(ध.पु. 8, पृ. 33)***

11. **अलिंजर** - घट विशेष को कहते हैं । ***(ध.पु. 8, पृ. 57)***

12. मनुष्यायु का पूर्व में बन्ध व्युच्छिन्न होता है । पश्चात् उदय व्युच्छिन्न होता है । क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मनुष्यायु के बन्ध के व्युच्छिन्न हो जाने पर अयोग केवली के अन्तिम समय में उसके उदय का व्युच्छेद पाया जाता है । ***(ध.पु. 8, पृ. 62)***

13. मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि स्वोदय और परोदय से भी मनुष्यायु को बांधते हैं क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं है । *(ध.पु. 8, पृ. 62)*

14. असंयत सम्यग्दृष्टि परोदय से ही मनुष्यायु को बांधते हैं, क्योंकि स्वोदय के साथ बन्ध होने का इस गुणस्थान में विरोध है । *(ध.पु. 8, पृ. 62)*

शंका - बंध के वियोग का नाम अन्तर है ऐसा क्यों नहीं ग्रहण करते हो ?

समाधान - ऐसा ग्रहण इसलिये नहीं करते कि यहाँ प्रतिपक्ष प्रकृति के बन्ध द्वारा किये गये अन्तर से प्रयोजन है । *(ध.पु. 8, पृ. 63)*

15. **तीर्थंकर** - आचार्य, बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन इनमें अनुराग करना आहार द्विक का कारण है । इसके अतिरिक्त प्रमाद का अभाव भी आहार द्विक का कारण है, क्योंकि प्रमाद सहित जीवों में आहारक द्विक का बन्ध पाया नहीं जाता । *(ध.पु. 8, पृ. 72)*

शंका - अणपूर्वकरण के उपरिय सप्तम भाग में आहारक द्विक का बन्ध क्यों नहीं होता ?

समाधान - नहीं होता, क्योंकि वहाँ तीर्थंकर, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन विषयक राग से उत्पन्न हुए संस्कारों का अभाव है । *(ध.पु. 8, पृ. 73)*

16. आहारक द्विक बन्ध देवगतिसे संयुक्त होता है क्योंकि अन्य गतियों के साथ उसके बन्ध होने का विरोध है । *(ध.पु. 8, पृ. 73)*

17. इनके बन्ध के मनुष्य ही स्वामी है, क्योंकि अन्यत्र तीर्थंकर, आचार्य और बहुश्रुत विषयक राग संयम सहित पाया नहीं जाता, आहारक द्विक दोनों प्रकृतियों का सादिक और अध्रुव बन्ध होता है क्योंकि आहार-द्विक का प्रत्यय सादि और सपर्यवसान देखा जाता है *(ध.पु. 8, पृ. 73)*

18. तीर्थंकर नाम कर्म का पूर्व में बन्ध व्युच्छिन्न होता है पश्चात् उदय क्योंकि अपूर्वकरण के छठे सप्तम भाग के अन्तिम समय में बन्ध के नष्ट हो जाने पर तीर्थंकर नामकर्म का संयोग केवली के प्रथम समय में उदय का प्रारम्भ करके अयोग केवली के अन्तिम समय में उदय का व्युच्छेद पाया जाता है ।

19. इसका बन्धपरोदय से ही होता है क्योंकि जहाँ तीर्थंकर कर्म का उदय सम्भव है उन संयोग केवली और अयोग केवली जिनों में तीर्थंकर का बन्ध नहीं पाया जाता है ।

20. तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध निरन्तर है क्योंकि अपने कारण के होने पर काल क्षय से बन्ध का विश्राम नहीं होता । *(ध.पु. 8, पृ. 74)*

21. असंयत सम्यग्दृष्टि इसे मनुष्य व देव इन दो गतियों से संयुक्त बांधते हैं क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का नरक व तिर्यंच गति के साथ विरोध है । उपरिय जीव देव गति से संयुक्त बांधते हैं । क्योंकि मनुष्य गति में स्थित जीवों के तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का देवगति को छोड़कर अन्य गतियों के साथ विरोध है । *(ध.पु. 8, पृ. 74)*

22. तीन गतियों के असंयत सम्यग्दृष्टि जीव इसके बन्ध के स्वामी है, क्योंकि तिर्यंचगति के साथ तीर्थंकर के बन्ध का अभाव है । *(ध.पु. 8, पृ. 74)*

23. जिन्होंने पूर्व में तिर्यंच या मनुष्यायु का बन्ध कर लिया है उन जीवों के बाधी गई नरक व देवायु के समान तीर्थंकर कर्म के बन्ध का अभाव है । *(ध.पु. 8, पृ. 74)*

24. तीर्थंकर प्रकृति को बांधने के भव से तृतीय भव में मोक्ष जाने का नियम है परन्तु यह बात उक्त जीवों में नहीं बनती, क्योंकि तिर्यंच आयु और मनुष्यायु को बांधने वाला जीव द्वितीय भव में तिर्यंच और मनुष्य होकर सम्यग्दृष्टि होने से तृतीय भव में देव ही होगा - मनुष्य नहीं । अतएव कोई भी दूसरे भव का तिर्यंच और मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का स्वामी नहीं हो सकता । *(ध.पु. 8, पृ. 75)*

25. तीर्थंकर प्रकृति का सादिक व अध्रुव बन्ध होता है क्योंकि उसके बन्ध कारणों के सादि सान्तता देखी जाती है । *(ध.पु. 8, पृ. 75)*

26. उच्च गौत्र के बन्ध का अविनाभावी होने से तीर्थंकर कर्म को भी गोत्रत्व सिद्ध है । *(ध.पु. 8, पृ. 76)*

27. तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध के प्रारम्भ का सहकारी कारण केवल ज्ञान से उपलक्षित जीव द्रव्य है अतएव मनुष्य गति के बिना उसके बन्ध प्रारम्भ की उत्पत्ति का विरोध है । *(ध.पु. 8, पृ. 78)*

28. देवायु मध्यम विशुद्धि निमित्तक है, क्योंकि अप्रमत्त काल का संख्यात्वां भाग बीत जाने पर अतिशय विशुद्धि के स्थान को न पाकर मध्यम विशुद्धि स्थान में ही देवायु का बन्ध व्युच्छेद देखा जाता है । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

29. आहारक द्विक - विशिष्ट राग से संयुक्त संयम के निमित्त से बंधता है क्योंकि संयम के बिना उसका बन्ध नहीं पाया जाता है । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

30. परभव निबन्धक सत्ताईस कर्म एवं हास्य रति भय जुगुप्सा पुरुष वेद और चार संज्वलन कषाय ये सब कर्म कषाय विशेष के निमित्त से बंधने वाले हैं क्योंकि इसके बिना उनके भिन्न स्थानों में बन्ध व्युच्छेद की उत्पत्ति नहीं बनती । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

31. सोलह कर्म कषाय सामान्य के निमित्त से बंधने वाले हैं क्योंकि अणुमात्र कषाय के भी होने पर उनका बन्ध पाया जाता है । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

32. साता वेदनीय योग निमित्तक है क्योंकि सूक्ष्म योग में भी उसका बन्ध पाया जाता है । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

विशेष - चूंकि सब कर्मों के प्रत्यय युक्ति बल से जाने जाते हैं अत: उनका यहाँ कथन नहीं किया गया है । किन्तु तीर्थंकर नाम कर्म का बंध प्रत्यय नहीं जाना जाता उसे कहते हैं ।

(ध. पु. 8, पृ. 78)

33. वह तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध मिथ्यात्व निमित्तक बंधता नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व के होने पर उसका बन्ध पाया नहीं जाता । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

34. असंयम निमित्तक भी नहीं बंधता, क्योंकि संयतों में भी उसका बन्ध देखा जाता है ।

(ध. पु. 8, पृ. 78)

35. कषाय सामान्य निमित्तक भी वह नहीं बंधता क्योंकि कषाय के होने पर भी उसका बन्ध व्युच्छेद देखा जाता है । अथवा कषाय के होने पर भी उसके बन्ध का प्रारम्भ नहीं होता । कषाय मन्दता निमित्तक भी वह नहीं बंधता, क्योंकि तीव्र कषाय वाले नारकियों के भी उसका बन्ध देखा जाता है । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

36. तीव्र कषाय भी इसके बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि मन्द कषाय वाले सर्वार्थसिद्धि विमान वासी देवों और अपूर्वकरण गुणस्थानववर्ती जीवों में भी उसका बन्ध देखा जाता है ।

(ध. पु. 8, पृ. 78)

37. सम्यक्त्व भी उसके बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टियों में भी तीर्थंकर कर्म का बन्ध नहीं पाया जाता । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

38. केवल दर्शन विशुद्धता भी उसका कारण नहीं है क्योंकि दर्शन मोह का क्षय कर चुकने वाले भी किन्हीं जीवों के उसका बन्ध नहीं पाया जाता । अत: बन्ध के कारणों को कहना चाहिये ।

(ध. पु. 8, पृ. 78)

39. वहाँ सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को बांधते हैं । मनुष्य गति में ही तीर्थंकर कर्म बन्ध का प्रारम्भ होता है । अन्यत्र नहीं, इसी बात के ज्ञापनार्थ सूत्र में 'वहाँ' ऐसा कहा गया है । *(ध. पु. 8, पृ. 78)*

40. **लब्धि संवेग** - रत्नत्रय जनित हर्ष का नाम लब्धि संवेग है । *(ध. पु. 8, पृ. 86)*

41. अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, विरति और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणों के जो साधक हैं वे साधु कहलाते हैं । जिससे आस्रव दूर हो गये है उसका नाम प्रासुक है अथवा जो निरवद्य है उसका नाम प्रासुक है, वे क्या है ? वे दर्शन ज्ञान व चारित्रादिक ही है उनके परित्याग या विसर्जन का नाम प्रासुक परित्याग और इसके भाव को प्रासुक परित्यागता कहते हैं। अर्थात् दया बुद्धि से साधुओं द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन और चारित्र के परित्याग या दान का नाम प्रासुक परित्यागता है । यह कारण गृहस्थों में सम्भव नहीं है । क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है । रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थों में नहीं है । क्योंकि दृष्टिवादादिक उपरिय श्रुत के उपदेश

देने में उनका अधिकार नहीं हैं । अतएव यह कारण महर्षियों के होता ही है । उसमें शेष कारणों की असम्भावना नहीं है क्योंकि अरिहंतादिकों में भक्तिसे रहित नौ पदार्थ विषयक श्रद्धान से उन्मुक्त सातिचार शील व्रतों से सहित और आवश्यकों की हीनता से संयुक्त होने पर निरवद्य ज्ञान, दर्शन व चारित्र का परित्याग विरोध होने से सम्भव ही नहीं है । *(ध. पु. 8, पृ. 87)*

42. साधुओं की समाधि संधारणता से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है । दर्शन, ज्ञान व चारित्र में सम्यक् अवस्थान का नाम समाधि है । सम्यक् प्रकार से धारण या साधना का नाम संधारणता है उससे तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है । किसी भी कारण से गिरती हुई समाधि को देखकर सम्यग्दृष्टि प्रवचन वत्सल प्रवचन प्रभावक विनय सम्पन्न-शील व्रतातिचार वर्जित और अरहंतादिकों में भक्तिमान् होकर चूंकि उसे धारण करता है इसलिये वह समाधि संधारण है । *(ध. पु. 8, पृ. 88)*

43. जिस गुण स्थान के साथ आयु बन्ध सम्भव है उसी गुणस्थान के साथ जीव मरता है, अन्य गुण स्थान के साथ नहीं ऐसा परम गुरु का उपदेश है । *(ध. पु. 8, पृ. 145)*

44. अपर्याप्तकों में देवों की उत्पत्ति नहीं होती । *(ध. पु. 8, पृ. 195)*

45. देवों की तेज कायिक और वायु कायिक जीवों में उत्पत्ति नहीं होती *(ध. पु. 8, पृ. 199)*

46. देव नारकियों के अपर्याप्त काल में आयुबन्ध का विरोध है । *(ध. पु. 8, पृ. 229)*

शंका - तृतीय पृथ्वी में नील लेश्या की भी सम्भावना होने से तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के मनुष्यों के समान नारकी भी स्वामी होते है । ऐसा क्यों नहीं कहते हो ?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ नील लेश्या युक्त अधस्तन इन्द्रक में तीर्थंकर प्रकृति के सत्व वाले मिथ्यादृष्टियों की उत्पत्ति का अभाव है, इसका कारण यह है कि वहाँ इस पृथ्वी की उत्कृष्ट आयु देखी जाती है और उत्कृष्ट आयु वाले जीवों में तीर्थंकर संतकर्मिक मिथ्यादृष्टियों का उत्पाद है नहीं क्योंकि वैसा उपदेश नहीं है अथवा नारकियों में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर सत्कार्मिक मिथ्यादृष्टि जीवों के सम्यग्दृष्टियों के समान कापोत लेश्या को छोड़कर अन्य लेश्याओं का अभाव होने से नील और कृष्ण लेश्या में तीर्थंकर की सन्ता वाले जीव नहीं होते ।

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 9.

1. शास्त्र के आदि में मंगल इसलिये किया जाता है कि शिष्य शीघ्र ही शास्त्र के पारगामी हों, मध्य में मंगल करने से शास्त्र के स्वाध्याय आदि की व्युच्छित्रि नहीं होती और अन्त में मंगल करने से विद्या व विद्या के फल की प्राप्ति होती है । *(ध. पु. 9, पृ. 4)*

2. मानुष क्षेत्र की अवधि (मर्यादा) मानुषोत्तर पर्वत है । और लोक की अवधि तनुवात पर्यन्त है। *(ध. पु. 9, पृ. 12)*

3. सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देव प्रथम पृथ्वी तक, सनत्कुमार और माहेन्द्र के देव द्वितीय पृथ्वी तक ब्रह्म और लान्तव कल्पों के देव तृतीय पृथ्वी तक तथा शुक्र और सहस्रार स्वर्गों के देव चतुर्थ पृथ्वी तक देखते हैं । आनत-प्रानत और आरण अच्युत कल्पों में रहने वाले देव जो है वे पंचम पृथ्वी तक तथा गैवेयकों में उत्पन्न हुए देव छठी पृथ्वी तक देखते हैं । नौ अनुदिश और पांच अनुत्तरों के जो देव हैं वे सब लोक नाली अर्थात् कुछ कम चौदह राजु लम्बी और एक राजु विस्तृत लोकनाली को देखते हैं । *(ध. पु. 9, पृ. 26)*

4. जिस स्थान में चारों की युगपत वृद्धि होती है उसकी समान वृद्धि संज्ञा है । उसमें चरम समान वृद्धि को छोड़कर उससे नीचे की वृद्धि द्विचरम समान वृद्धि है । *(ध. पु. 9, पृ. 84)*

5. आहार वर्गणा के द्रव्य स्तोक हैं, तैजस वर्गणा के द्रव्य उससे अनन्त गुणे हैं, भाषा वर्गणा के द्रव्य उससे अनन्त गुणे हैं । मनोवर्गणा के द्रव्य अनन्त गुणे हैं । कार्माण वर्गणा के द्रव्य अनन्त गुणे हैं । *(ध. पु. 9, पृ. 37)*

6. रत्नत्रय सहित अवधिज्ञानी अवधि जिन है । *(ध. पु. 9, पृ. 40)*

7. परम शब्द का अर्थ ज्येष्ठ है । परम ऐसा जो अवधि वह परमावधि है ।

   विशेष - चूंकि यह परमावधि ज्ञान देशावधि की अपेक्षा महा विषय वाला है, मनःपर्यय ज्ञान के समान संयत मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है, अपने उत्पन्न होने के भव में ही केवल ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है और अप्रतिपाती है अर्थात् सम्यक्त्व व चारित्र से च्युत होकर मिथ्यात्व एवं असंयम को प्राप्त होने वाला नहीं है इसलिये इसे ज्येष्ठपना सम्भव है । *(ध. पु. 9, पृ. 41)*

8. जो जिसका भक्त होता है अथवा मित्र होता है वह उसके विरोधियों की भक्ति नहीं करता है क्योंकि ऐसा करने में विरोध है। *(ध. पु. 9, पृ. 53)*

9. बीज बुद्धि सहित जीव में न तो अनुसारी बुद्धि सम्भव है और न प्रतिसारी बुद्धि सम्भव है । *(ध. पु. 9, पृ. 57)*

10. एक अक्षौहिणी में 9 हजार हाथी, एक हाथी के आश्रित 100 रथ, 1-1 रथ के आश्रित सौ घोड़े और 1-1 घोड़े के आश्रित सौ मनुष्य होते हैं । *(ध. पु. 9, पृ. 67)*

यह एक अक्षौहिणी का प्रमाण है, ऐसी चार अक्षौहिणी अक्षर-अनक्षर स्वरूप अपनी-अपनी भाषाओं से यदि युगपत बोले तो भी संभिन्न श्रोता युगपत सब भाषाओं को ग्रहण करके प्रतिपादन करता है, इनसे संख्यात गुणी भाषाओं से भरी हुई, तीर्थंकर के मुख से निकली हुई ध्वनि के समूह को युगपत ग्रहण करने में समर्थ ऐसे संभिन्न श्रोता के विषय में यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है । यह बहु-बहुविधि और क्षिप्र ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होती है । अवग्रह ईहा से आवाय और धारणा रूप जिनों का चूंकि इन्हीं में अन्तर्भाव होता है *(ध. पु. 9, पृ. 62)*

11. ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञानियों को नमस्कार हो, दूसरे की मति अर्थात् मन में स्थित अर्थ उपचार से मति कहा जाता है, ऋजु का अर्थ वक्रता रहित है ।

ऋजुता का कारण - यथार्थ मति का विषय होने से, यथार्थ वचनगत होने से और यथार्थ अभिनय होने से अर्थात् शारीरिक चेष्ठागत होने से उक्त मति में ऋजुता है । *(ध. पु. 9, पृ. 62)*

उक्त ज्ञान उत्कृष्ट से एक समय सम्बन्धी इन्द्रिय निर्जरा को जानता है *(ध. पु. 9, पृ. 63)*

12. जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य से मध्यम द्रव्य विकल्पों को तद्व्यलिखित ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी जानता है । क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से वह गव्यूति पृथक्त्व और उत्कृष्ट विपुल मति जिनों को योजन पृथक्त्व को जानता है, जघन्य व उत्कृष्ट क्षेत्र के मध्यम विकल्पों को तद्व्यति रिक्त ऋजु मति मनःपर्यय जानता है । काल की अपेक्षा जघन्य से 2-3 भव ग्रहणों को जानता है । अतीत और अनागत दो ही भव ग्रहणों को जानता है, वर्तमान भव के साथ तीन भवों को जानता है, किन्तु इसमें वर्तमान भव का ग्रहण नहीं है क्योंकि अतीत और अनागत आयु सम्पृत् असम्यत् मुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदि नाना सूक्ष्म अर्थों सेआकीर्ण भव के अच्छी तरह जानपने में विरोध आता है । उत्कृष्ट से सात-आठ भवों को (अतीत और अनागत सात तथा वर्तमान भव के साथ आठ भवों को) जानता है । जघन्य और उत्कृष्ट काल के मध्यम विकल्प को तद्व्यतिरिक्त ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है । भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यों में उसके योग्य असंख्यात पर्यायों को जघन्य व उत्कृष्ट ऋजुमति जानते हैं । *(ध. पु. 9, पृ. 65)*

13. दशपूर्वी जिनों को नमस्कार हो । यहाँ भिन्न और अभिन्न के भेद से दशपूर्वी दो प्रकार का है । उनमें ग्यारह अंगों को पढ़कर पश्चात् परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अधिकारों में निबद्ध दृष्टिवाद के पढ़ते समय उत्पाद पूर्व से लेकर पढ़ने वालों के दशम पूर्व विद्यानुप्रवाद के समाप्त होने पर अंगुष्ठ प्रसेनादि सात सौ क्षुद्र विद्याओं से अनुगत रोहिणी आदि पाँच सौ महा विद्यायें 'भगवान क्या आज्ञा है' ऐसा कहकर उपस्थित होती हैं । इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओं के जो लोभ को प्राप्त होता है वह भिन्न दशपूर्वी है । किन्तु जो कर्म क्षय का अभिलाषी होकर उनमें लोभ नहीं करता है वह अभिन्न दशपूर्वी कहलाता है । *(ध. पु. 9, पृ. 69)*

14. जिन वचनों पर प्रत्यय स्थान (विश्वास उत्पादन) द्वारा दशपूर्वियों के त्याग की महिमा दिखलाने के लिये पूर्व में उन्हें नमस्कार किया है अथवा श्रुत परिपाटियों की अपेक्षा पहिले (चौदह पूर्वियों से पहिले) दश पूर्वियों को नमस्कार किया है । *(ध. पु. 9, पृ. 30)*

15. विद्यानुप्रवाद की समाप्ति के समान चौदह पूर्वों की समाप्ति में भी जिन वचनों पर विश्वास देखा जाता है । अर्थात् चौदह पूर्वों को समाप्त करके रात्रि में कार्योत्सर्ग से स्थित साधु की प्रभात समय में भवनवासी, वान व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों द्वारा शंख का हला और तूर्प के शब्द से व्याप्त महापूजा की जाती है । इन दो स्थानों में जिनेन्द्र वचनों पर विश्वास पाया जाता है ।

16. जिन वचन रूप से सब अंग और पूर्वों में सदृशता के होने पर भी विद्यानुप्रवाद और लोकबिन्दुसार का महत्त्व है । क्योंकि इनमें ही देवपूजा पाई जाती है, चौदह पूर्व का धारक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता और उस भव में असंयम को भी नहीं प्राप्त होता यह इसकी विशेषता है । *(ध. पु. 9, पृ. 71)*

17. अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष इन आठ निमित्तों से आराधनीय साधु जन समुदाय के शुभाशुभ को जानते हैं ।

(1) **अंग निमित्त** - मनुष्य और तिर्यंचों के सत्य, स्वभाव, वात, पित्त व कफ तथा रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि मज्जा एवं शुक्र तथा शरीर के निम्न व उन्नत वर्ण गन्ध रस और स्पर्श को देखकर जीवित मरण सुख दु:ख लाभ अलाभ और प्रवासादि विषय का ज्ञान 'अंग गत' कहा निमित्त है ।

(2) **स्वर निमित्त** - खर पिंगल (नेवला, बंदर या सर्प विशेष) उल्लू, काक, शिवा श्रगाल, नर और नारी के स्वर को सुनकर लाभालाभ सुख दु:ख और जीवित मरणादि को जानना 'स्वर' महानिमित्त कहा जाता है ।

(3) **व्यंजन महा निमित्त** - तिल आनुअ और मशा आदि को देखकर उन सुख दु:खादिक का जानना 'व्यञ्जन' महानिमित्त है ।

(4) **लक्षण महानिमित्त** - उर, ललाट, हस्त, तल और पाद तलादिक में यथाक्रम से एक सौ आठ, चौसठ व बत्तीस स्वस्तिक, नद्यावर्त, श्रीवृक्ष, शंख, चक्र, अंकुश, चन्द्र, सूर्य एवं रत्नाकर आदि लक्षणों को देखकर तीर्थंकरत्व-चक्रवर्तित्व एवं बलेदवत्व व वासुदेवत्व का जानना 'लक्षण' नामक महानिमित्त है ।

(5) **छिन्न महानिमित्त** - शरीर छाया की विपरीतता, वस्त्र व अलंकारादि छेद तथा मनुष्य और तिर्यंचादिकों की चेष्टा व आकार को देखकर शुभाशुभ का जानना 'छिन्न' महानिमित्त जाना जाता है ।

(6) **भौम महानिमित्त** - भूमिगत लक्षणों को देखकर ग्राम, नगर, खेडा, कर्वट, घर व आराम आदिकों की वृद्धि हानि को कहना 'भौम' नामक महानिमित्त है ।

(7) **स्वप्न** - छिन्न स्वप्नऔर माला स्वप्न के स्वरूप को देखकर भावी कार्य को जानना 'स्वप्न' नामक महानिमित्त है । उनमें जिन जननी को वृषभ, हाथी, सिंह, समुद्र, चन्द्र, सूर्य, जल से परिपूर्ण कलश, लक्ष्मी का अभिषेक, अग्नि, तालाब, भवन, विमान, रत्नराशि, सिंहासन क्रीडा करती मछलियों का युगल और पुष्प मालाओं का युगल इन परस्पर के सम्बन्ध से रहित सोलह स्वप्नों का जो दर्शन होता है वह छिन्न स्वप्न महानिमित्त है । तथा पूर्वापर से सम्बन्ध से रहने वाले भावों का स्वप्नान्तर से देखना माला स्वप्न महानिमित्त है ।

(8) **अन्तरिक्ष महानिमित्त** - चन्द्र सूर्य एवं ग्रह के उदय व अस्त मन तथा जय पराजय ग्रह घर्षण बिजली का कड़कता इन्द्रधनुष, चन्द्र व सूर्य के परिवेष, उपराग एवं बिम्ब भेदादि को देखकर शुभाशुभ जानना अन्तरिक्ष नामक महानिमित्त है ।

(ध. पु. 9, पृ. 72-73-74)

18. चारित्र की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता बताने के लिये ज्ञान विशिष्ट जिनों को पहिले ही नमस्कार किया है क्योंकि बिना ज्ञान के चारित्र नहीं होता अत: ज्ञान प्रधान है ।*(ध. पु. 9, पृ. 75)*

19. अणिमादि आठ ऋद्धि निर्देश -

(1) **अणिमा** - महा परिणाम युक्त शरीर को संकुचित करके परमाणु प्रमाण शरीर से स्थित होना 'अणिमा' नामक विक्रिया ऋद्धि है ।

(2) **महिमा** - परमाणु प्रमाण देह रूप अर्ध का अथवा देहस्थ वस्तु को सुमेरु पर्वत के सदृश करने को 'महिमा' ऋद्धि कहते हैं ।

(3) **लघिमा** - मेरु प्रमाण शरीर से मकड़ी के तंतुओं पर चलने से निमित्त भूत शक्ति का नाम 'लघिमा' है ।

(4) **प्राप्ति** - भूमि में स्थित रहकर हाथ से चन्द्र व सूर्य के बिम्ब को छूने की शक्ति का नाम 'प्राप्ति' ऋद्धि है ।

(5) **प्राकाम्य** - कुलाचल और मेरु पर्वत के पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर उनमें तपश्चरण के बल से उत्पन्न हुई गमन शक्ति को 'प्राकाम्य' ऋद्धि कहते हैं ।

(6) **ईशित्व** - सब जीवों तथा ग्राम नगर एवं खेडे आदिकों के भोगने की तप से उत्पन्न हुई शक्ति 'ईशत्व' ऋद्धि कही जाती है ।

(7) **वशित्व** - मनुष्य, हाथी, सिंह एवं घोड़े आदिक से अपनी इच्छा से वर्ताने की शक्ति का नाम 'वशित्व' ऋद्धि है ।

(8) **कायरुपित्व** - इच्छित रूप के ग्रहण करने की शक्ति का नाम 'काय रूपित्व' है ।

विशेष - नाना प्रकार गुण व ऋद्धि युक्त होने का नाम विक्रिया है । *(ध. पु. 9, पृ. 76)*

शंका - आठ गुण ऋद्धियों से युक्त देवों को यह नमस्कार क्यों नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति आने से उनका निराकरण हो जाता है । कारण कि देव जिन नहीं होते, क्योंकि उनमें संयम का अभाव है ।

(ध. पु. 9, पृ. 77)

20. विद्या तीन प्रकार है - 1. जाति विद्या - जातियों में विद्या जाति विद्या है । 2. कुल विद्या, तप विद्या ।

विशेष - इन विद्याओं में स्वकीय मातृपक्ष से प्राप्त हुई विद्यायें जाति विद्यायें और पितृपक्ष से प्राप्त हुई कुल विद्यायें कहलाती हैं । षष्ठ और अष्टम आदि उपवासों के करने से सिद्ध की गई तप विद्यायें हैं । इस प्रकार ये तीनों प्रकार की विद्यायें विद्याधरों के होती हैं । इससे वैताढ्य पर्वत पर निवास करने वाले मनुष्य भी विद्याधर होते हैं । सब विद्याओं को छोड़कर संयम को ग्रहण करने वाले विद्याधर भी विद्याधर होते हैं क्योंकि विद्या विषयक विज्ञान उनमें पाया जाता है । जिन्होंने विद्यानुवाद को पढ़ लिया है वे भी विद्याधर हैं । क्योंकि उनके भी विद्या विषयक विज्ञान पाया जाता है । **(ध. पु. 9, पृ. 78)**

विशेष - वैताढ्य पर्वत पर उत्पन्न असंयतों का यहाँ ग्रहण नहीं है । क्योंकि उनके जिनपना नहीं पाया जाता पारिशेष न्याय से शेष दो प्रकार के विद्याधरों का यहाँ ग्रहण करना चाहिये । सिद्ध हुई समस्त विद्याओं के कार्य के परित्याग से उपलक्षित जिनों को विद्याधर स्वीकार किया है जो सिद्ध हुई विद्याओं से काम लेने की इच्छा नहीं करते, केवल अज्ञान की निवृत्ति के लिये उन्हें धारण ही करते हैं । वे विद्याधर जिन है । ***(ध. पु. 9, पृ. 78)***

शंका - आकाश चारण और आकाश गामी में क्या भेद है ?

समाधान - जीव पीड़ा के बिना पैर उठाकर आकाश में गमन करने वाले आकाश चारण है । तथा पल्यंकासन, कायोत्सर्गासन, शयनासन और पैर उठाकर इत्यादि सब प्रकारों से आकाश में गमन करने से समर्थ ऋषि आकाशगामी कहे जाते हैं । ***(ध. पु. 9, पृ. 80)***

विशेष - परिणाम के भेद से नाना प्रकार चारित्र होने के कारण चारणों के बहुत होने में कोई विरोध नहीं है । ***(ध. पु. 9, पृ. 81)***

21. जन्मान्तर में चार प्रकार की निर्मल बुद्धि के बल से विनयपूर्वक बारह अंगों का अवधारण करके देवों में उत्पन्न होकर पश्चात् अविनष्ट संस्कार के साथ मनुष्यों में उत्पन्न होने पर इस भव में पढ़ने सुनने व पूछने आदि के व्यापार से रहित जीव की प्रज्ञा औत्पत्तिकी कहलाती है ।

22. प्रज्ञा चार प्रकार की होती है - औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी ।

23. विनय से अधीत श्रुत ज्ञान यदि किसी प्रकार प्रमाद से विस्मृत हो जाता है तो उसे (औत्पत्तिकी प्रज्ञा) पर भव में उपस्थित करती है और केवलज्ञान को बुलाती है । यह औत्पत्ति प्रज्ञा श्रमण छह मास के उपवास से कृष होता हुआ भी उस बुद्धि के माहात्म्य को प्रगट करने के लिये पूछने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए चौदह पूर्वी को भी उत्तर देता है ।

विनय से बारह अंगों को पढ़ने वाले के उत्पन्न हुई प्रज्ञा का नाम वैनयिकहै अथवा परोपदेश से उत्पन्न बुद्धि भी वैनयिक कहलाती है ।

गुरु उपदेश के बिना तपश्चरण केवल से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा है । अथवा औषध सेवा केवल से उत्पन्न बुद्धि भी 'कर्मजा' है ।

अपनी-अपनी जाति विशेष से उत्पन्न बुद्धि पारिणामिक कही जाती है ।(ध. पु. 9, पृ. 82)

24. तीर्थंकर के मुख से निकले हुए बीजपदों के अर्थ का निश्चय करने वाले वृषभ सेनादि गणधरों की प्रज्ञा का पारिणामिकी प्रज्ञा में अन्तर्भाव होता है क्योंकि वह विनय उत्पत्ति और कर्म के बिना उत्पन्न होती है । *(ध. पु. 9, पृ. 83)*

25. जाति विशेष में उत्पन्न कर्म क्षयोपशम से आविर्भूत हुई प्रज्ञा पारिणामिक है और जन्मान्तर में विनय जनित संस्कार से उत्पन्न प्रज्ञा औत्पत्तिकी है यही दोनों में भेद है *(ध. पु. 9, पृ. 83)*

26. गुरु के उपदेश से निरपेक्ष ज्ञान की हेतुभूत जीव की शक्ति का नाम प्रज्ञा है और उसका कार्य ज्ञान है इस कारण दोनों में भेद है । *(ध. पु. 9, पृ. 84)*

27. आकाशगामी जिनों को नमस्कार हो । आकाश में इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत से घिरे हुए इच्छित प्रदेश में गमन करने वाले आकाशगामी है । (यहाँ देव और विद्याधरों का ग्रहण नहीं है क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति है ।) *(ध. पु. 9, पृ. 84)*

28. **आकाश चारण और आकाशगामी** - चरण, चारित्र, संयम व पाप क्रिया निरोध इनका एक ही अर्थ है इसमें जो कुशल (निपुण) है वह चारण कहलाता है । तप विशेष से उत्पन्न हुई आकाश स्थित जीवों के परिहार की कुशलता से जो सहित है वह आकाश चारण है और आकाश में गमन करने मात्र से संयुक्त आकाशगामी कहलाता है (सामान्य आकाश गामित्व की अपेक्षा जीवों के वध परिहार की कुशलता से विशेषित आकाश गामित्व के विशेषता पायी जाने से दोनों में भेद है) *(ध. पु. 9, पृ. 85)*

29. आशिर्विष जिनों को नमस्कार हो ! अविद्यमान अर्थ की इच्छा का नाम आशिष् है, आशिष् है विषजिन का वे आशीर्विष कहे जाते हैं. । 'मर जाओ' इस प्रकार जिसके प्रति निकला हुआ वचन उसके मारने में निमित्त होता है, 'भिक्षा के लिये भ्रमण करो' ऐसा वचन भिक्षार्थ भ्रमण करने में निमित्त है 'शिर का छेद हो' ऐसा वचन शिर के छेदन से निमित्त होता है वे आशीर्विष नामक साधु है ।

शंका - वचन के विष संज्ञा कैसे ?

समाधान - विष के समान विष है इस प्रकार उपचार से वचन को विष संज्ञा प्राप्त है । आशिष् है अविष जिनका (अमृत जिनका) वे आशीर्विषहै ।

स्थावर अथवा जंगम विष से पूरित जीवों के प्रति निर्विष से हों इस प्रकार निकला हुआ जिनका वचन उन्हें जिलाता है व्याधि, वेदना और दारिद्रय के विनाश हेतु निकला हुआ जिनका वचन उस-उस कार्य को करता है वे भी आशीर्विष है यह सूत्र का अभिप्राय है । तप के प्रभाव से जो इस प्रकार की शक्ति युक्त वचनों से संयुक्त हो करके जीवों के निग्रह व अनुग्रह को नहीं करते हैं वे

आशीर्विष हैं ऐसा ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जिन शब्द की अनुवृत्ति है और निग्रह व अनुग्रह द्वारा क्रमशः क्रोध व हर्ष को दिखलाने वालों के जिनत्व सम्भव नहीं है क्योंकि विरोध है इन शुभ व अशुभ लब्धि सहित आशीर्विष जिनों को नत होता हुआ पृथ्वी तल पर गिर पर वन्दना करता हूँ यह कहने का तात्पर्य है । **(ध. पु. 9, पृ. 85 व 86)**

30. उग्र तप -

शंका - ऐसा हो जाने पर छह मासों से अधिक उपवास हो जाते हैं इस कारण यह घटित नहीं होता?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि घातायुष्क मुनियों के, छह मासों के उपवास का नियम स्वीकार किया है । अघातायुष्क मुनियों के नहीं, क्योंकि उनका अकाल में मरण नहीं होता।

(ध. पु. 9, पृ. 88)

शंका - अघातायुष्क भी छह मास तक उपवास करने वाले ही होते हैं क्योंकि इसके आगे संक्लेश भाव उत्पन्न हो जाता है ?

समाधान - संक्लेश सहित और **सोपक्रमायुष्क** मुनियों के लिये यह नियम भले ही हो किन्तु संक्लेश भाव से रहित निरुपक्रमायुष्क और तप के बल से उत्पन्न हुए वीर्यन्तराय के क्षयोपशम से संयुक्त तथा उसके बल से ही असाता वेदनीय को उदय को मन्द कर चुकने वाले साधुओं के लिये यह नियम नहीं है क्योंकि उनमें इनका विरोध है ।

छह वासों से ऊपर **उव्वास** का अभाव मानने पर उग्रोग्र तप नहीं बन सकता ।

(ध. पु. 9, पृ. 89)

दीक्षा के लिये एक उपवास कर पारणा करें, पश्चात् एक दिन के अन्तर से ऐसा करते हुए किसी निमित्त से षष्ठोपवास हो गया, फिर उस षष्ठोपवास से विहार करने वाले के अष्टमोपवास हो गया, इस प्रकार दशम-द्वादशम आदि के क्रम से नीचे न गिरकर जो जीवन पर्यंत विहार करता है वह अवस्थित उग्रतप ऋद्धि का धारण कहा जाता है, यह भी तप का अनुष्ठान वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होता है इन दोनों ही तपों का उत्कृष्ट फल मोक्ष है अन्य अनुत्कृष्ट फल है । **(ध. पु. 9, पृ. 89 व 90)**

31. घोर तप ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो ! उपवासों में छह मास का उपवास, अवमोदर्य तपों में एक ग्रास, वृत्ति परिसंख्याओं में चत्वर (चौराहे में भिक्षा की परितज्ञा), रस परित्यागों में उष्ण जल युक्त ओदून का भोजन, विविक्त शय्यासनों में वृक, व्याघ्र, तरक्ष, छवल्ल आदि खापद अर्थात् हिंस्र जीवों से सेवित सत्य और विन्ध्य आदि अटवियों में निवास, काय क्लेशों में जहाँ तीव्र ठंडक हो तथा तीव्र गर्मी पड़ती हो ऐसे प्रदेश में तथा वृक्ष के खुले आकाश अथवा वृक्ष मूल में (अभ्रावकाश, आतापन व वृक्ष मूल योग में ग्रहण करना । इस प्रकार आभ्यन्तर तपों में भी उत्कृष्ट तप की प्ररूपणा करना चाहिये, यह बारह प्रकार का ही तप कायर जनों को भयोत्पादक है इसी कारण घोर तप कहलाता है । ***(ध. पु. 9, पृ. 92)***

32. घोर पराक्रम ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो ! तीनों लोकों का उपसंहार करने, पृथ्वी तल को निगलने, समस्त समुद्र के जल को सुखाने तथा जल अग्नि एवं शिला पर्वतादि के वरसाने की शक्ति का नाम घोर पराक्रम है । घोर है पराक्रम जिनका वे घोर पराक्रम कहलाते हैं उन्हें नमस्कार हो । *(ध. पु. 9, पृ. 93)*

33. घोर गुण जिनों को नमस्कार हो ! घोर (रौद्र) है गुण जिनके वे घोर गुण कहलाते हैं । घोर कार्यकारी शक्ति को उत्पन्न करने के कारण उनके घोरत्व सम्भव है । गुण और पराक्रम के एकत्व नहीं है, क्योंकि गुण से उत्पन्न हुई शक्ति की पराक्रम संज्ञा है *(ध. पु. 9, पृ. 93)*

34. अघोर गुण ब्रह्मचारी जिनों को नमस्कार हो ! ब्रह्म का अर्थ पांच व्रत, पांच समिति, तीन गुप्तिस्वरूपचारित्र है क्योंकि वह शान्ति के पोषण का हेतु है अघोर अर्थात् शान्त है गुण जिसमें वह अघोर गुण है, अघोर गुण ब्रह्म का आचरण करने वाले अघोर गुण ब्रह्मचारी कहलाते हैं । जिनके तप के प्रभाव से डमरी ईति, रोग दुर्भिक्ष, वैर, कलह, वध, वन्धन और रोध आदि को शान्त करने की शक्ति उत्पन्न हुई है वे अघोर गुण ब्रह्मचारी है । *(ध. पु. 9, पृ. 94)*

35. आमर्षौषधि प्राप्त ऋषियों को नमस्कार हो । जिनका आमर्ष (स्पर्श) औषधपने को प्राप्त है वे आमर्षौपधि प्राप्त है । तप के प्रभाव से जिनका स्पर्श समस्त औषधों के स्वरूप को प्राप्त हो गया है उनकी आमर्षौषधि प्राप्त ऐसी संज्ञा है क्योंकि इनके केवल व्याधि के नष्ट करने में ही शक्ति देखी जाती है । *(ध. पु. 9, पृ. 96)*

36. क्षीरश्रवी जिनों को नमस्कार हो ! क्षीर का अर्थ दूध है । विष सहित वस्तु से भी दूध बहाने वाला क्षीरश्रवी कहलाता है । हाथ रूपी पात्रों में गिरे हुए सब आहारों को क्षीर स्वरूप उत्पन्न करने वाली शक्ति भी कारण में कार्य के उपचार से क्षीरस्रवी कही जाती है । *(ध. पु. 9, पृ. 99)*

शंका - अन्य रसों में स्थित द्रव्यों का तत्काल ही क्षीर स्वरूप से परिणमन कैसे सम्भव है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि जिस प्रकार अमृत समुद्र में गिरे हुए विष का अमृत रूप परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्तियों के समूह से घटित अंजलिपट में गिरे हुए सब आहारों का क्षीर स्वरूप परिणमन करने में कोई विरोध नहीं है । *(ध. पु. 9, पृ. 100)*

37. अमृतस्रवी जिनों को नमस्कार हो ! जिनके हाथ को प्राप्त हुआ आहार अमृत स्वरूप से परिणत होता है वे अमृतस्रवी जिन है । यहाँ अवस्थित हुए जो देवाहार को ग्रहण करने वाले है उन अमृतस्रवी जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र का अर्थ है । *(ध. पु. 9, पृ. 101)*

38. अक्षीणमहानस जिनों को नमस्कार हो ! जिनको भात, घृत व भिगोया हुआ अन्न स्वयं परोस देने के पश्चात् चक्रवर्ती की सेना को भोजन कराने पर भी समाप्त नहीं होता है वह अक्षीण महानस ऋद्धिधारक कहलाता है जिसके चार हाथ प्रमाण भी गुफा में रहने पर चक्रवर्ती का सैन्य भी उस गुफा में रह सकता है वह अक्षीण वास ऋद्धिधारक है *(ध. पु. 9, पृ. 101 व 102)*

39. वर्धमान बुद्ध ऋषि को नमस्कार हो ! जिसके समीप धर्मपथ प्राप्त हो उसके निकट विनय का व्यवहार करना चाहिये । तथा उनका शिर आदि पाँच अंग एवं काय, वचन और मन से नित्य ही सत्कार करना चाहिये । इस आचार्य परम्परागत नियम को बतलाने के लिए पुनः नमस्कार किया गया है । *(ध. पु. 9, पृ. 103)*

40. जिन गुणों के परस्पर में कोई विरोध नहीं रहता वे उस द्रव्य के यावद्द्रव्यभावी गुण कहलाते हैं । जैसे - पुद्गल के रूप, रस, गन्ध व स्पर्श । इस कारण चेतना के समान ज्ञान भी यावद्द्रव्यभावी गुण है, क्योंकि चेतना के साथ ज्ञान का कोई विरोध नहीं है और भी ज्ञान जीव का यावद्रद्रव्यभावी गुण है । चेतना की अपेक्षा उपयोग के प्रति उसकी एकता है । और उपयोग का प्रमेय के भेद से द्वित्व को प्राप्त होकर भिन्न द्रव्य में रहना उचित नहीं है क्योंकि वैसा होने में विरोध आता है । *(ध. पु. 9, पृ. 116)*

41. कषायें ज्ञान की विरोधी है, क्योंकि कषायों की वृद्धि और हानि से क्रमशः ज्ञान की प्राप्ति और वृद्धि पायी जाती है । कषायें जीव के गुण नहीं है क्योंकि यावद्द्रव्यभावी ज्ञान के साथ उनका विरोध अन्यथा घटित नहीं होगा । प्रमाद व असंयम भी जीव गुण नहीं है क्योंकि वे कषायों के कार्य है । अज्ञान भी जीव का गुण नहीं है क्योंकि वह ज्ञान का प्रतिपक्षी है । मिथ्यात्व भी जीव का गुण नहीं है क्योंकि वह सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी एवं अज्ञान का कार्य है । इस कारण ज्ञान, दर्शन, संयम, सम्यक्त्व, क्षमा, मृदुता, आर्जव, सन्तोष और विराग आदि स्वभाव जीव है यह सिद्ध हुआ । *(ध. पु. 9, पृ. 117)*

42. **शंका - कर्म पूर्ण ज्ञान का आवरण करते है क्योंकि आवरण का तारतम्य पाया जाता है जैसे चन्द्रमण्डल को राहु मण्डल । ऐसा भी यहां कहा जा सकता है ?**

समाधान - ऐसा अनुमान योग्य नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर यावद्द्रव्यभावी ज्ञान दर्शन के अभाव से जीव द्रव्य के भी अभाव होने का प्रसंग आता है और द्रव्य का अभाव होता नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर तीन लोक के अभाव का प्रसंग आता है इसलिये यह बात घटित नहीं होती । *(ध. पु. 9, पृ. 118)*

43. वह इस प्रकार से - पन्द्रह दिन और आठ मास अधिक पचहत्तर वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहने पर (65 वर्ष, 6 मास 15 दिन) पुष्पोत्तर विमान से आषाढ़ शुक्ल षष्ठी के दिन बहत्तर वर्ष प्रमाण आयु से युक्त और तीन ज्ञान के धारक महावीर भगवान गर्भ में अवतीर्ण हुए । इसमें तीस वर्ष कुमार काल, बारह वर्ष उनका छद्मस्थ काल, केवलि काल भी तीस वर्ष, इस प्रकार इन तीन कालों का प्रयोग बहत्तर वर्ष होते है । इनकी पचहत्तर वर्षों में से कम करने पर वर्धमान जिनेन्द्र को मुक्त होने पर जो शेष चतुर्थ काल रहता है उसका प्रमाण होता है । इसमें छयासठ दिन कम केवलिकाल के जोड़ने पर नौ दिन और छः मास अधिक तैतीस वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहते हैं । *(ध. पु. 9, पृ. 120)*

शंका - केवलिकाल में छयासठ दिन कम किसलिये किये जाते हैं ?

समाधान - क्योंकि केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर भी उनमें तीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई ।

शंका - इन दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति किसलिए नहीं हुई ?

समाधान - गणधर का अभाव होने से उक्त दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृति नहीं हुई।

(ध. पु. 9, पृ. 120)

शंका - सौधर्म इन्द्र ने उसी क्षण में ही गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया ?

समाधान - नहीं किया क्योंकि, काल लब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र के उनको उपस्थित करने की शक्ति का उस समय अभाव था । (ध. पु. 9, पृ. 121)

शंका - अपने पादमूल में महाव्रतों को स्वीकार करने वाले को छोड़ अन्य का उद्देश्य कर दिव्य ध्वनि क्यों नहीं प्रवृत होती ?

समाधान - नहीं होती क्योंकि ऐसा स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के प्रश्न के योग्य नहीं होता क्योंकि ऐसा होने पर अवस्था होती है । *(ध. पु. 9, पृ. 121)*

44. तत्पश्चात् कुण्डपुर रूप उत्तम पुर के नरपति सिद्धार्थ क्षत्रिय के नाथ कुल में सैकड़ों देवियों से सेव्यमान त्रिशल देवी के (गर्भ में) नौ मास और आठ दिन रहकर चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में त्रयोदशी की रात्रि में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुये *(ध. पु. 9, पृ. 122)*

45. वर्धमान स्वामी अट्ठाईस वर्ष सात मास और बारह दिन देवकृत क्षेपठ मानुषिक सुख का सेवन करके आभिनिबोधिक ज्ञान से प्रबुद्ध होते हुए षष्ठोपवास के साथ मगसिर कृष्ण दशमी के दिन गृह त्याग करके सुरकृत महिमा का अनुभव कर तप कल्यद्रण द्वारा पूज्य हुए ।

(ध. पु. 9, पृ. 123)

46. उक्त दो उपदेशों में कौनसा उपदेश यथार्थ है ? इस विषय में ऐलाचार्य का शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीव नहीं चलाता अर्थात् कुछ नहीं कहता क्योंकि न तो इस विषय का कोई उपदेश प्राप्त है और न दो में से एक में कोई बाधा उत्पन्न होती है । किन्तु दोनों में से एक ही सत्य होना चाहिए । *(ध. पु. 9, पृ. 126)*

अब ग्रंथ कर्ता की प्ररूपणा करते है -

शंका - वचन में बिना अर्थ का व्याख्यान सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थों को संज्ञा अर्थात् संकेत द्वारा प्ररूपणा नहीं बन सकती । यदि कहा जाये कि अनरक्षात्मक ध्वनि द्वारा अर्थ की प्ररूपणा हो सकती है, सो यह भीयोग्य नहीं है । क्योंकि अनक्षर भाषा युक्त तिर्यंचों को छोड़कर अन्य जीवों को उससे,अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता और दिव्य ध्वनि अनक्षरात्मक ही हो, सो भी नहीं है क्योंकि वह अठारह एवं सात सौ कुभाषा स्वरूप में है इसी कारण चूंकि अर्थ का प्ररूपक ही ग्रन्थ का प्ररूपक है अत: ग्रन्थ कर्ता की प्ररूपणा नहीं करना चाहिए ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि संक्षिप्त ग्रन्थ रचना से सहित व अनन्त अर्थों का ज्ञान के हेतुभूत अनेक चिन्हों से संयुक्त बीजपद कहलाता है । अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीज पदों का प्ररूपक अर्थ कर्ता है, तथा बीज पदों में लीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता गणधर भट्टारक ग्रन्थकर्ता है, ऐसा किया गया है । अभिप्राय यह है कि बीज पदों का जो व्याख्याता है वह ग्रन्थ कर्ता कहलाता है । ***(ध. पु. 9, पृ. 126 व 127)***

47. पाँच महाव्रतों के धारक तीन गुप्तियों से रक्षित, पाँच समितियों से युक्त आठ मदों से रहित, सात भयों से मुक्त, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व साम्भिन्नक्षोतृत्व बुद्धियों से उपलक्षित, प्रत्यक्षभूत उत्कृष्ट अवधिज्ञान से असंख्यात लोक मात्र काल में अतीत, अनागत एवं वर्तमान परमाणु पर्यन्त समस्त मूर्त द्रव्य व उनकी पर्यायों को जानने वाले, तप्ततप लब्धि के प्रभाव से मलमूत्र रहित, दीप्त तप लब्धि के बल से सर्वकाल उपवास युक्त होकर भी शरीर के तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले, सर्वोषधि लब्धि के निमित्त से समस्त औषधियों स्वरूप, अनन्त बल युक्त होने से हाथ की कनिष्ठ अंगुलि द्वारा तीनों लोकों को चलायमान करने में समर्थ, अमृतस्त्रव आदि ऋद्धियों के बल से हष्ट पुष्ट में गिरे हुए सब आहारों को अमृत स्वरूप से परिणमाने में समर्थ, महालब्धि रूप तप गुण से कल्पवृक्ष के समान, अक्षीण महानस लब्धि के बल से अपने हाथों में गिरे हुए आहारों की अक्षयता के उत्पादक, अघोर तप ऋद्धि के माहात्म्य से जीवों के मन, वचन एवं काय गत समस्त कष्टों को दूर करने वाले, सम्पूर्ण विद्याओं के द्वारा सेवित चरणमूल से संयुक्त आकाश चारण गुण से सब जीव समूहों की रक्षा करने वाले वचन एवं मन से समस्त पदार्थों के सम्पादन करने मे जो समर्थ आणिमादिक आठ गुणों के द्वारा सब देव समूहों को जीतने वाले, तीनों लोकों के जनों में श्रेष्ठ परोपदेश के बिना अक्षर व अनक्षर रूप सब भाषाओं में कुशल, समवशरण में स्थित जिन मात्र से रूप के धारी होने से, हमारी, हमारी भाषाओं से हम हमको ही कहते है । इस प्रकार सबका विश्वास कराने वाले तथा समवसरणस्थ जनों के कर्ण इन्द्रियों में अपने मुँह से निकली हुई अनेक भाषाओं के सम्मिक्षित प्रवेश के निवारक ऐसे गणधर देव ग्रंथकर्ता है क्योंकि ऐसे स्वरूप के बिना ग्रन्थ की प्रमाणता का विरोध होने से धर्म-रसायन द्वारा समवसरण के जनों का पोषण बन नहीं सकता ।

48. प्रश्नों का व्याकरण अर्थात् उत्तर जिसमें हो वह प्रश्न व्याकरण है 9316000 (तिरानवै लाख, सोलह हजार) पद युक्त उसमें प्रश्न किये गये आश्रय से नष्ट मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दु:ख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु व सांख्यिकी तथा लौकिक एवं वैदिक अर्थों के निर्णय की प्ररूपणा की जाती है । इसके अतिरिक्त आक्षेपणी विक्षेपणी और संवेदनी निर्वेदनी, इन चार प्रथाओं की भी प्ररूपणा की जाती है। ***(ध. पु. 9, पृ. 202)***

49. जो प्रदेशाग्र उदय में देने के लिये अथवा अन्य प्रकृति रूप परिणमाने के लिये शक्य नहीं है वह निधत्त कहलाता है । ***(ध. पु. 9, पृ. 235)***

50. जो प्रदेशापुंज अपकर्षण के लिऐ (उत्कर्षण के लिये) अन्य प्रकृति रूप परिणमाने के लिए और उदय में देने के लिए शक्य नहीं है वह अनकाचित कहलाता है इससे विपरीत अनिकाचित है । *(ध. पु. 9, पृ. 236)*

51. जो कर्म उदय में नहीं दिया जा सकें वह उपशान्त कहलाता है जो कर्म संक्रमण व उदय में नहीं दिया जा सके उसे निधत्त कहते है जो कर्म उदय, संक्रमण, उत्कर्षण व अपकर्षण इन चारों में ही नहीं दिया जा सकता है वह निकाचित कहा जाता है । *(ध. पु. 9, पृ. 236)*

52. हेतु एवं प्रकार आदि व्यक्च्छेद, विपर्यय, प्रादुर्भाव और समाप्ति इन अर्थों में इति शब्द कहा गया है । *(ध. पु. 9, पृ. 237)*

53. कृति इन शब्दों का वह अर्थ है वह भी कृति है क्योंकि अर्थ, अभिधान और प्रत्यय ये तुल्य नाम है इस न्याय में स्वरूप की अवधारणा में इति शब्द का ग्रहण सिद्ध है । *(ध. पु. 9, पृ. 237)*

54. पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते है और व्यय को प्राप्त होते है किन्तु द्रव्ययार्थिक नय की अपेक्षा सब पदार्थ सदा उत्पाद और विनाश से रहित है। *(ध. पु. 9, पृ. 244)*

55. शिष्यों के पढ़ाने का नाम वाचना है वह चार प्रकार की है - नन्दा, भद्रा, जया, सौम्या । अन्य दर्शनों को पूर्वपक्ष करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्ष को स्थापित करने वाली व्याख्या नन्दा कहलाती है । आगम और युक्तियों द्वारा समाधान करके पूर्वा पर विरोध का परिहार करते हुए सिद्धान्त में स्थित समस्त पदार्थों की व्याख्या का नाम भद्रा है पूर्वा पर विरोध के परिहार के बिना सिद्धान्त के अर्थों का कथन करना जया वाचना कहलाती है कहीं-कहीं स्खलनपूर्ण वर्जन रूप जो व्याख्या की जाती है वह सौम्या वाचना कही जाती है इन चार प्रकार की वाचनाओं को प्राप्त वाचनोपगत कहलाता है । जो दूसरों को ज्ञान कराने के लिये समर्थ है वह वाचनोपगत है । (ध. पु. 9, पृ. 252)

56. यहाँ व्याख्यान करने वालों और सुनने वालों को भी द्रव्य, शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि और भाव शुद्धि से व्याख्यान करने या पढ़ने में प्रवृति करना चाहिये उसमें ज्वर, कुक्षि रोग, शिरो रोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, लेप, अतिसार और पीव का बहना इत्यादिकों का शरीर में न रहना द्रव्य शुद्धि कही जाती है । व्याख्या से अधिष्ठित प्रदेश से चारों भी दिशाओं में अठाईस हाथ आयत क्षेत्र में विष्ठा, मूत्र, हड्डी, केश, नख और चमड़े आदि के अभाव को तथा छठी अतीत वाचना से समीप में (या दूरी तक) पंचेन्द्रिय शरीर सम्बन्धी गीली हड्डी, चमड़ा, मांस और रुधिर के सम्बन्ध की अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते है । बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य, चन्द्र का ग्रहण, अकाल वृष्टि, मेघ गर्जन, मेघों के समूह से अच्छादिक, दिशा, दिशादाह धूमिकापात (कुहरा) संन्यास महोपवास नन्दीश्वर महिमा और जिन महिमा इत्यादि के अभाव को काल शुद्धि कहते है । *(ध. पु. 9, पृ. 253)*

57. अवधिज्ञानी, मन:पर्यय ज्ञानी समस्त अंग सूत्र के धारक आकाश स्थित चारण तथा मेरु व कुलाचलों के मध्य में स्थित चारण ऋषियों की अपरात्रिक वाचना भी है, क्योंकि वे क्षेत्रशुद्धि से रहित है अर्थात् भूमि पर न रहने से उन्हें क्षेत्र शुद्धि करने की आवश्यकता नहीं होती । राग, द्वेष, अहंकार, आर्त व रौद्र ध्यान से रहित पाँच महाव्रतों से युक्त तीन गुप्तियों से रक्षित तथा ज्ञान, दर्शन व चारित्र आदि आचार से ऋद्धि को प्राप्त भिक्षु को भावशुद्धि होती है ।*(ध. पु. 9, पृ. 254)*

58. प्राणी के तीव्र दु:ख से मरणासन होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निवर्तन (एक वीघा या गुंठा) मात्र से तिर्यंचों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिये । उतने भाग में स्थावर काय जीवों के घात् रूप कार्य में प्रवर्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा सड़ी गन्ध आने पर ठीक अर्थ समझने में न आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्धि से रहित होने पर मोक्ष सुख के चाहने वाले व्रती पुरुषों को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिए । *(ध. पु. 9, पृ. 255 व 256)*

59. मल छोड़ने की भूमि सेआरत्नि प्रमाण दूर तनु सलिल अर्थात् मूत्र के क्षोभने में भी इस भूमि से पचास अरत्नि दूर, मनुष्य शरीर के लेश मात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष तथा तिर्यंचों के शरीर सम्बन्धी अवयव के स्थान से उससे आधी मात्र तथा पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए । *(ध. पु. 9, पृ. 256)*

60. व्यन्तरों के द्वारा भेरीताडन करने पर उनकी पूजा का संकट होने पर कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालकों के समीप में झाडा बुहारी करने पर, अग्नि जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवों के मांस व हड्डियों को निकाले जाने पर क्षेत्रकी विशुद्धि नहीं होती जैसा कि सर्वज्ञों ने कहा है । *(ध. पु. 9, पृ. 256)*

61. क्षेत्रों की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होकर वाचा को ग्रहण करें । *(ध. पु. 9, पृ. 256)*

62. पर्व दिनों (अष्टमी और चतुर्दशी) आदि नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिम दिवसों अर्थात् अष्टान्हिक दिनों में और सूर्य चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए । *(ध. पु. 9, पृ. 257)*

63. अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनों के वियोग को करता है पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन किया गया अध्ययन विघ्नों को दूर करता है । *(ध. पु. 9, पृ. 257)*

64. यदि साधुजन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते है तो विद्या एवं उपवास विधि सब विनाश वृद्धि को प्राप्त होते है ।

65. माध्यान काल में किया गया अध्ययन जिन रूप को नष्ट करता है । दोनो संध्या कालों में किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरुक्त जन भी द्वेष को प्राप्त होते है । *(ध. पु. 9, पृ. 257)*

66. अतिशय तीव्र दु:ख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए । *(ध. पु. 9, पृ. 258)*

67. विनय से पढ़ा गया श्रुत यदि किसी प्रकार भी प्रमाद से विस्मृत हो जाता है तो पर भव में वह उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है । *(ध. पु. 9, पृ. 259)*

68. जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, सन्देह से रहित हो, परमार्थ सहित हो, गूढ़ पदार्थों का निर्णय करने वाला हो, निर्दोष हो, युक्ति-युक्त हो और यथार्थ हो उसे पण्डितजन सूत्र कहते है । *(ध. पु. 9, पृ. 259)*

69. इस वचन के अनुसार तीर्थंकर के मुख से निकला बीजपद सूत्र कहलाता है, उस सूत्र के साथ चूंकि रहता अर्थात् उत्पन्न होता है अत: गणधरं देव में स्थित श्रुत ज्ञान, सूत्र सम कहा गया है। *(ध. पु. 9, पृ. 259)*

70. जो उन नौ आगमों में वाचना अर्थात् अन्य भव्य जीवों के लिये शक्त्यानुसार ग्रन्थ के अर्थ की प्ररूपणा की जाती है, वह वाचना उपयोग है वहाँ आगम में नहीं जाने हुए अर्थ के विषय में पृच्छना भी उपयोग है । आचार्य भट्टारको द्वार कहे जाने वाले अर्थ के निश्चय करने का नाम प्रतीच्छना है, वह भी उपयोग है, यहाँ सब जगह वा शब्द को समुच्चय यथार्थ ग्रहण करना चाहिये, ग्रहण किया हुआ अर्थ विस्मृत न हो जावे अतएव बार-बार भावागमन चिन्तवन करना चाहिये । ग्रहण किया हुआ अर्थ विस्मृत न हो जावे एवं यह भी उपयोग है । कर्मों की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जानुगत अर्थात् पूर्ण रूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षणा है, यह भी श्रुतज्ञान का उपयोग है । सब अंगों के विषयों की प्रधानता बारह अंगों में फैलने से स्तव कहा जाता है । उसमें जो वाचना पृच्छना परिवर्तना और अनुपृक्षणा स्वरूप उपयोग है । वह भी उपचार से स्तव कहा जाता है । बारह अंगों में एक अंग के उपसंहार का नाम स्तुति है । उसमें जो उपयोग है वह भी स्तुति है । ऐसा ग्रहण करना चाहिये एक अंग के एक अधिकार के उपसंहार का नाम धर्मकथा है । इनको आदि लेकर और जो वे अन्य है इस प्रकार कहने पर कृति व वेदना आदि के उपसंहार विषयक उपयोगों को ग्रहण करना चाहिये । उपयोग शब्द यद्यपि सूत्र में नहीं है तो भी अर्थापत्ति से उनका अध्याहार करना चाहिये इस प्रकार ये आठ श्रुत ज्ञानोपयोग कहे गये हैं । *(ध. पु. 9, पृ. 263)*

71. अब कृति के विषय में आठ प्रकार से उपयोगों की प्ररूपणा करते हैं -*(ध. पु. 9, पृ. 263-264)*

(1) **वाचना** - अन्य जीवों के लिये कृति के अर्थ की प्ररूपणा करना वाचना कहलाती है।

(2) **पृच्छना** - अज्ञान अर्थ के विषय में पूछना पृच्छना है ।

(3) **प्रतीच्छना** - प्ररूपित किये जाने वाले अर्थ का निश्चय करने को प्रतीच्छना कहते हैं।

(4) **परिवर्तना** - विस्मरण न होने देने के लिये बार-बार कृति के अर्थ का परिशीलन करना परिवर्तना है ।

(5) **अनुप्रेक्षणा** - सांगीभूत कृति का कर्म निर्जरा के लिये अनुस्मरण (विचार) करना अनुप्रेक्षणा है ।

(6) **स्तव** - समस्त अनुयोगों में कृति के उपसंहार विषयक उपयोग का नाम स्तव है ।

(7) **स्तुति** - कृति के एक अनुयोग द्वार विषयक उपंयोग का नाम स्तुति है ।

(8) **धर्मकथा** - एक मार्गणा विषयक उपयोग धर्मकथा कहलाता है ।

72. जो ज्ञायक शरीर द्रव्यकृति है उसके ये अर्थाधिकार हैं -

(1) **स्थित**-उनमें से धीरे-धीरे अपने विषय में वर्तमान कृति अनुयोग 'स्थित' कहलाता है।

(2) **जित** - बिना रुकावट के मन्द गति से अपने विषय में संचार करने वाला कृति अनुयोग जित कहलाता है ।

(3) **परिजित** - रुकावट के बिना अति शीघ्र गति से घुमाये हुए कुम्हार के चक्र के समान अपने विषय में जो संचार करने में समर्थ है वह कृति अनुयोग 'परिजित' है ।

(4) **वाचनोपगत**-नन्दा आदि के स्वरूप को प्राप्त कृति श्रुत ज्ञान का नाम वाचनोपगत है।

(5) **सूत्रसम** - अनन्त पदार्थों का ग्रहण करने और अक्षर निर्देशन से रहित होने के कारण सूत्र नाम को प्राप्त हुए जिन भगवान के मुख से निकले बीज पद से गणधर देवों में उत्पन्न हुआ कृति अनुयोग सूत्र के साथ रहने से 'सूत्र सम' कहा जाता है ।

(6) **अर्थ सम** - ग्रन्थ और बीज पदों के बिना संयम के प्रभाव से केवलज्ञान के समान स्वयंबुद्धों में उत्पन्न कृति अनुयोग अर्थ के साथ रहे से 'अर्थसम' कहा जाता है ।

(7) **ग्रन्थ सम** - अरिहन्त देव के द्वारा जिसका अर्थ कहा गया है तथा जो गणधरों से गूथित है ऐसे शब्द कलाप को ग्रन्थ कहते हैं उससे उत्पन्न हुआ भद्रबाहु आदि स्थविरों में रहने वाला कृति अनुयोग ग्रन्थ के साथ रहने से 'ग्रन्थसम' कहलाता है ।

(8) **नाम सम** - बुद्धिविहीन पुरुषों के भेद से 1-2 अक्षर आदि को हीनकृति अनुयोग ''नाना सिनोति'' अर्थात् जो नाना अर्थों को ग्रहण करता है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार नाम कहा जाता है उसके साथ रहने वाला भावकृति अनुयोग को 'नाम सम' कहते हैं ।

(9) **घोषसम्** - उस कृति अनुयोग द्वार का एक अनुयोग घोष कहलाता है उससे उत्पन्न कृति अनुयोग को और उससे न उत्पन्न होकर उसके समान भी कृति अनुयोग को 'घोषसम्' कहते हैं । इस प्रकार 9 प्रकार कृति अनुयोग की प्ररूपणा की है । ***(ध. पु. 9, पृ. 268-269)***

73. जो वह ज्ञायक शरीर और भावी से भिन्न द्रव्य कृति है वह अनेक प्रकार की है -

(1) **ग्रन्थिम** - गूंथने रूप क्रिया से सिद्ध हुए फूल माला आदि द्रव्य को 'ग्रन्थिम' कहते हैं ।

(2) **वाइम** - बुनना क्रिया से सिद्ध हुए सूप, टिपारी, चंगेर (एक प्रकार की बड़ी टोकरी), किदय (कृतक) चालनी, कम्बल और वस्त्र आदि द्रव्य 'वाइम' कहलाते हैं ।

(3) **वेदिम** - बेधन क्रिया से सिद्ध हुए सूति (सोम निकालने का स्थान), इंधुव (संघी - भट्टी) कोश और पल्य आदि द्रव्य बेधिम कहे जाते हैं ।

(4) **पूरिम** - पूरण क्रिया से सिद्ध हुए तालाब का बांध व जिनगृह का चबूतरा आदि द्रव्य का नाम 'पूरिम' है ।

(5) **संघातिम** - काष्ठ ईंट और पत्थर आदि की संघातन क्रिया से सिद्ध हुए कृत्रिम जिन भवन, गृह, प्राकार और स्तूप आदि द्रव्य 'संघातिम' कहलाते हैं ।

(6) **अधोधिम** - नीम, आम, जामुन और जंबीर आदि द्रव्य अधोधिम क्रिया से सिद्ध हुए द्रव्य को 'अधोधिम' कहते हैं । सचित्त और अचित्त द्रव्यों की रोपण क्रिया का नाम अधोधिम है, यह तात्पर्य है ।

(7) **णिक्खोदिम** - पुष्करिणी, वापी, कूप, तडाग, लयन, सुरंग आदि निष्खनन क्रिया से सिद्ध हुए द्रव्य 'णिक्खोदिम' कहलाते हैं । णिक्खोदन से अभिप्राय खोदना क्रिया से है ।

(8) **ओवेल्लिम** - उपवेल्लन क्रिया से सिद्ध हुए एकगुणे, दुगुणे एवं तिगुने डोरा-सूत्र व वेत आदि द्रव्य 'उपवेल्लन' कहलाते हैं ।

(9) **उद्वल्लिम** - ग्रन्थिम व वाइम आदि द्रव्यों के उद्वेल्लन से उत्पन्न द्रव्य 'उद्वेल्लिम' कहे जाते हैं ।

(10) **वर्ण** - चित्रकार एवं वर्णों के उत्पादन में निपुण दूसरों की क्रिया से सिद्ध मनुष्य व तुरंग आदि अनेक आकार रूप द्रव्य वर्ण कहे जाते हैं ।

(11) **चूर्ण** - चूर्णन क्रिया से सिद्ध हुए पिष्ट, पिष्टिका और कणिका आदि द्रव्य कोचूर्ण कहते हैं ।

(12) **गन्ध** - बहुत द्रव्यों के संयोग से उत्पादित गन्ध की प्रधानता रखने वाले द्रव्य का नाम 'गन्ध' है ।

(13) **विलेपन** - घोटे गये व पीसे गये चन्दन और कुमकुम आदि द्रव्य विलेपन कहे जाते हैं ।

विशेष - इनको आदि लेकर जो वे द्रव्य हैं, इस वचन से अवधान व सुरण (जोड़कर व काटकर) बनाने व द्विसंयोगादि द्रव्यों के अस्तित्व की प्ररूपणा होती है *(ध. पु. 9, पृ. 272 व 273)*

74. जो वह गणनकृति है वह अनेक प्रकार है - एक संख्या नो कृति है, दो संख्या अवक्तव्य कृति है अथवा नो कृति है, तीन को आदि लेकर संख्यात-असंक्यात व अनन्त कृति कहलाते हैं वह सब गणन कृति है ।

(1) **कृति** - जो राशि वर्गित होकर वृद्धि को प्राप्त होती है और अपने वर्ग में से अपने वर्ग के मूल को कम कर वर्ग करने पर वृद्धि को प्राप्त होती है उसे कृति कहते हैं।

(2) **नो कृति** - एक संख्या का वर्ग करने पर वृद्धि नही होती तथा उसमें से वर्गमूल के कम कर देने पर वह निर्मूल नष्ट हो जाती है इस कारण एक संख्या 'नो कृति' है ।

(3) **अवक्तव्य कृति** - दो रूपों का वर्ग करने पर चूंकि वृद्धि देखी जाती है अत: दो को नो कृति नहीं कहा जा सकता और चूंकि उसके वर्ग में से मूल को कम करके वर्गित करने पर वह वृद्धि को प्राप्त नहीं होती किन्तु पूर्वोक्त राशि ही नहीं रहती है अत: 'दो' कृति भी नहीं हो सकता, इस बात को मन में निश्चित कर दो संख्या अवक्तव्य है । यह द्वितीय गणना की जाति है । तीन लेकर जो संख्या वर्गित करने पर चूंकि बढ़ती है और उसमें से मूल को कम करके पुन: वर्ग करने पर भी वृद्धि को प्राप्त होती है इसी कारण उसे कृति ऐसा कहा है, यह तृतीय गणन कृतिक विधान है । चतुर्थ कोई गणन कृति नही है । ***(ध. पु. 9, पृ. 274 व 275)***

75. एक को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक 'गणना' कही जाती है । दो को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक की गणना संख्यात कहलाती है । तीन को आदि करके उत्कृष्ट अनन्त तक की गणना 'कृति' कहलाती है । ***(ध. पु. 9, पृ. 276)***

76. पुरुष वेदियों में रहने का काल शत पृथक्त्व है (सागरोपम) प्रमाण है । असुर कुमारों में तीन बार उत्पन्न होता है । नौ गैवेयकों में तीन बार उत्पन्न होता है । स्वर्गों की स्थिति छह गुणी होती है । ***(ध. पु. 9, पृ. 300)***

77. देवगति में देवों, भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी देवों और सौधर्म ईशान कल्प के देवों की अन्तर प्ररूपणा नारकियों के समान है, इसी प्रकार सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के देवों के भी अन्तर प्ररूपणा करनी चाहिये । विशेषता यह है कि इनमें जघन्य अन्तर मुहूर्त पृथक्त्व मात्र होता है क्योंकि सनत्कुमार माहेन्द्र देवों में से गर्भोपक्रान्तिक तिर्यंच व मनुष्यों में उत्पन्न होकर मुहूर्त पृथक्त्व काल रहकर आयु को बांधकर पुन: सनत्कुमार माहेन्द्र देवों में उत्पन्न हुए जीव के मुहूर्त-पृथक्त्व मात्र अन्तर पाया जाता है ।

शंका - इससे स्तोक अन्तर क्यों नहीं ?

समाधान - नहीं क्योंकि तिर्यंच व मनुष्य गर्भोपक्रान्तिकों में आयु को बांधने वाले सनत्कुमार-माहेन्द्र देवों के मुहूर्त पृथक्त्व से नीचे आयु का बन्ध नहीं होता ।

शंका - उक्त प्रक्ता के मनुष्य और तिर्यंचों के उस भुज्यमान आयु का घात करके मुहूर्त पृथक्त्व से नीचे कर घातने से शेष रही आयु के प्रमाण जीवित रहकर सनत्कुमार माहेन्द्र देवों में उत्पन्न हुए जीव के जघन्य अन्तर क्यों नहीं किया जाता ?

समाधान - नहीं क्योंकि देवों द्वारा बांधी गई आयु का घात नहीं होता । यह अर्थ आगे सब जगह कहना चाहिये ।

ब्रह्म ब्रह्मोत्तर और लान्तव कापिष्ठ देवों के जघन्य आयु का बन्ध दिवस पृथक्त्व मात्र होता है ।

शुक्र-महाशुक्र और शतार सहस्रार कल्पों में जघन्य आयु का बन्ध पक्ष पृथक्त्व मात्र होता है। आनत प्रानत और आरण अच्युत कल्पों में जघन्य आयु का बन्ध मास पृथक्त्व मात्र होता है । नौ गैवेयक विमानवासी देवों में जघन्य आयु का बन्ध वर्ष पृथक्त्व मात्र होता है ।

अनुदिशों से लेकर अपराजित विमानवासी देवों में जघन्य आयु का बन्ध वर्ष पृथक्त्व मात्र होता है । इन जघन्य आयुओं को बांधकर तिर्यंच व मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः विवक्षित देवों में उत्पन्न हुए जीवों के जघन्य अन्तर होता है विशेषता इतनी है कि आनत प्रानत और आरण अच्युत देवों के जघन्य अन्तर की प्ररूपणा करते समय मनुष्यों में मास पृथक्त्व मात्र आयु को बांधकर मनुष्यों में उत्पन्न होकर मास पृथक्त्व काल जीवित रहकर पुनः सम्मूर्च्छिम में उत्पन्न हुए जीव के जघन्य अन्तर कहना चाहिये, क्योंकि संयमासंयम अथवा संयम के बिना उन देवों में उत्पत्ति सम्भव नहीं है ।

(ध. पु. 9, पृ. 306-307)

शंका - सम्यक्त्व को ही ग्रहण कराकर क्यों नहीं उत्पन्न कराया ?

समाधान - नहीं कराया, क्योंकि मनुष्यों में वर्ष पृथक्त्व के बिना मास पृथक्त्व के भीतर ही सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम के ग्रहण का अभाव है ।

शंका - सम्मूर्च्छियों में सम्यक्त्व को ही ग्रहण कराकर देवों में क्यों नहीं उत्पन्न कराया ?

समाधान - यह भी सम्भव है क्योंकि संयमासंयम के बिना तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टियों की आनतादिकों में उत्पत्ति देखी जाती है । *(ध. पु. 9, पृ. 307)*

यह तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टियों के मारणान्तिक समुद्धात की अपेक्षा 6/14 भाग मात्र स्पर्शन की प्ररूपणा करने से जाना जाता है ।

शंका - द्रव्य लिंगी मिथ्यादृष्टि को क्यों नहीं वहाँ उत्पन्न कराया ?

समाधान - नहीं कराया, क्योंकि वर्ष पृथक्त्व के बिना मास पृथक्त्व के भीतर द्रव्य लिंग का ग्रहण करना सम्भव नहीं है ।

शंका - आनतादि देवों में से सम्यग्दृष्टियों को मनुष्यों में अवतार लिवाकर जघन्य अन्तर क्यों नहीं बतलाया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि वर्ष पृथक्त्व के भीतर सम्यग्दृष्टियों के आयु का बन्ध नहीं होता, अतः उनके उस प्रकार से अन्तर बन नहीं सकता था । *(ध. पु. 9, पृ. 308)*

78. सर्वार्थ सिद्धि विमान में जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर नहीं है क्योंकि वहाँ से च्युत जीवों की फिर से वहाँ उत्पत्ति सम्भव नहीं है । *(ध. पु. 9, पृ. 310)*

79. असंज्ञी पर्याय में से वापिस आकर देव और नारकियों में उत्पन्न होता है उसके योग्य जघन्य उपपाद योग का ग्रहण करने के लिये उक्त पद का ग्रहण किया है । *(ध. पु. 9, पृ. 337)*

80. आठ वर्ष से पहिले ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, इस बात को जतलाने के लिये सर्व लघु काल में सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ है ऐसा कहा है । परन्तु संयम आठ वर्ष के नीचे नहीं होता, इस बात को जतलाने के लिये आठ वर्ष का होकर संयम को प्राप्त हुआ ऐसा कहा है ।

(ध. पु. 9, पृ. 341)

81. परिणाम योग से संचित पुद्गल स्कन्धों के गलाने के लिये एकान्तानुवृद्धि से स्वामित्व कहा है।

(ध. पु. 9, पृ. 343)

82. त्रसों में सूक्ष्म नहीं होते, उनमें पर्याप्त और अपर्याप्त भेद अवश्य होते हैं *(ध.पु.9, पृ.343)*

83. अन्तिम स्थिति में एक समय कम पूर्व कोटि काल तक संचय होकर गलने वाला द्रव्य परिशातन कृति कहलाता है और उसी अन्तिम स्थिति में पूर्व कोटि काल तक संचित निषेक संघातन परिशातन कृति कहलाते हैं । *(ध. पु. 9, पृ. 348)*

84. ओघ की अपेक्षा औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरों के संघातन कृति और परिशातन कृति और संघातन परिशातन कृति होती है । तैजस व कार्माण शरीरों के परिशातन कृति और संघातन परिशातन कृति होती है । *(ध. पु. 9, पृ. 354)*

85. नरकादि में नारकियों में वैक्रियिक शरीर को संघातन कृति और संघातन परिशातन कृति होती है । तैजस और कार्मण शरीरों के संघातन परिशातन कृति होती है । नारकियों में वैक्रियक शरीर की परिशातन कृति नहीं होती क्योंकि उसके विक्रिया का अभाव है । इस प्रकार सात पृथ्वियों में कहना चाहिये । सब देवों के भी इसी प्रकार ही कहना चाहिये । *(ध. पु. 9, पृ. 355)*

86. मूल शरीर को न छोड़कर विक्रिया करने वाले देवों के शुद्ध परिशातन कृति नहीं पाई जाती । *(ध. पु. 9, पृ. 355)*

87. तिर्यंग्गति में तिर्यंचों के और तीनों पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के औदारिक व वैक्रियक शरीर के तीन-तीन पद है और तैजस व कार्माण शरीर के संघातन परिशातन कृति है । पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्तों में औदारिक शरीर की संघातन कृति व संघातन परिशातन कृति होती है और तैजस व कार्माण शरीर की संघातन परिशातन कृति होती है । *(ध. पु. 9, पृ. 355)*

88. संघातन कृति में काययोग को छोड़कर दूसरा योग नहीं होता । *(ध. पु. 9, पृ. 356)*

89. आहारक काय योगियों में औदारिक शरीर की परिशातन कृति तथा आहारक, तैजस व कार्माण शरीर की संघातन परिशातन कृति होती है। इसी प्रकार आहारक मिश्र काय योगियों में समझना चाहिये । विशेष केवल इतना है कि इनमें आहारक शरीर की संघातन कृति भी होती है । कार्माण काय योगियों में औदारिक शरीर की परिशातन कृति होती है, क्योंकि लोक पूरण समुद्धात को प्राप्त हुए केवलियों में उक्त कृति पाई जाती है । उनमें तैजस व कार्माण शरीर की संघातन परिशातन कृति भी होती है । *(ध. पु. 9, पृ. 357)*

शंका - कृति शब्द जीवों का वाचक कैसे हो सकता है ?

समाधान - एक तो जिसमें पुद्गलों के परिशातनारिक किये जाते हैं, ऐसी कृति शब्द की व्युत्पत्ति है, इसलिये कृति शब्द से जीव लिये गये हैं । दूसरे करणों का मूल अर्थात् कारण होने से जीव मूल करण है इसलिये भी कृति शब्द का उपयोग जीवों के लिये किया गया है । *(ध. पु. 9, पृ. 359)*

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 10.

1. एक एक समय प्रबद्धों का नाम अनन्तर बन्ध है, नाना समय प्रबद्धों का नाम परम्परा बन्ध है और इन दोनों ही का नाम तदुभय बन्ध है । *(ध. पु. 10 पृ. 4)*

2. भाव वेदना आगम और नौ आगम के भेद से दो प्रकार की है ।

   (1) **आगम भाव वेदना** - उनमें से जो वेदनानुयोग द्वार का जानकार होकर उसमें उपयोग युक्त है वह आगम भाव वेदना है । (नो आगम भाव वेदना - 1. जीवभाव वेदना और 2. अजीव भाव वेदना 2 भेद) जीव भाव वेदना के 5 भेद कहे गये हैं -

   1. **औदायिक वेदना** - आठ प्रकार के कर्मों के उदय से उत्पन्न हुई वेदना औदयिक वेदना है ।
   2. **औपशमिक वेदना** - कर्मों के उपशम से उत्पन्न हुई वेदना औपशमिक वेदना है।
   3. **क्षायिक वेदना** - कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुई वेदना क्षायक वेदना है ।
   4. **क्षयोपशमिक वेदना** - कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई अवधिज्ञानादिस्वरूप वेदना क्षयोपशमिक वेदना है ।
   5. **पारिणामिक वेदना** - जीवत्व, भव्यक्त्व व उपयोग आदि स्वरूप पारिणामिक वेदना है ।

   विशेष - सुवर्ण, पुत्र व सुवर्ण सहित कन्या आदि से उत्पन्न हुई वेदनाओं का इन पाँचों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अत: उन्हें अलग से नहीं कहा है ।

   (2) **अजीव भाव वेदना** - औदयिक और पारिणामिक भेद से अजीव भाव वेदना दो प्रकार की है । उनमें प्रत्येक पांच रस, पांच वर्ण, दो गंध और आठ स्पर्श आदि के भेद से अनेक प्रकार की है । *(ध. पु. 10, पृ. 8)*

3. **सद्भाव स्थापना वेदना** - जो पदार्थ वेदना से लगभग मिलता जुलता है उसमें 'वेदना' ऐसी स्थापना करना सद्भाव स्थापना वेदना है ।

   असद्भाव स्थापना वेदना - जो पदार्थ वेदना से मिलता जुलता नहीं है उसमें 'वेदना' ऐसी स्थापना करना असद्भाव स्थापना वेदना है । *(ध. पु. 10, पृ. 9)*

4. जो जाना जाये वह पद है, भेद रूप ही पद भेद पद कहलाता है । यहाँ उत्कृष्ट आदि रूप भेद पद का अधिकार है । उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, ओज, युग्म, ओमविशिष्ट और नो ओम, नो विशिष्ट पद के भेद से यहाँ 13 पद हैं ।

5. पदों की मीमांसा अर्थात् परीक्षा जिस अधिकार में की जाती है वह **पद मीमांसा अनुयोग द्वार** है ।

6. पद मीमांसा, संख्या, गुणकार, स्वामित्व, ओज, अल्प, बहुत्व, स्थान और जीव समुदाहार ये आठ अनुयोग द्वार हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 19)*

7. युग्म और सम ये एकार्थवाचक शब्द हैं । वह कृत युग्म और बादर युग्म के भेद से 2 प्रकार है ।

कृत युग्म - जो राशि चार से अबद्धत होती है वह कृत युग्म कहलाती है । 16÷4 = 0 कृत युग्म।

बादर युग्म - जिस राशि को चार से अवहृत करने पर दो रूप शेष रहते हैं वह बादर युग्म कही जाती है । जैसे - 14 ÷ 4 = 3 शेष 2 बादर युग्म है ।

कलि ओज राशि - जिसको चार से अवहृत करने पर 1 अंक शेष रहते हैं वह कलि ओज राशि है यथा 13 ÷ 4 = 3 शेष 1. *(ध. पु. 10, पृ. 23)*

तेजोज राशि - जिसको चार से अवहृत करने पर 3 अंक शेष रहते हैं वह तेजोज राशि है यथा 15 ÷ 4 = 3 शेष 3. *(ध. पु. 10, पृ. 23)*

8. पद मीमांसा का अर्थ है पदों का विचार करना । जिसमें उत्कृष्ट आदि पदों का विचार किया जाता है उसे पद मीमांसा अनुयोग द्वार कहते हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 29)*

9. उत्पत्ति के वारों का नाम भव और पर्याप्तों के भव पर्याप्त भव कहलाते हैं । वे बहुत हैं । पर्याप्तों में उत्पन्न होने की वार शलाकायें बहुत है । *(ध. पु. 10, पृ. 35)*

10. क्षपित कर्मांशिक, क्षपित घोलमान और गुणित घोलमान जीवों के पर्याप्त भवों की अपेक्षा गुणित कर्मांशित जीवों के पर्याप्त भव बहुत है । *(ध. पु. 10, पृ. 35)*

11. क्षपित कर्मांशिक, क्षपित धोलमान और गुणित धोलमान जीवों के अपर्याप्त भवों से थोड़े हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 35)*

12. पर्याप्तकों में उत्पन्न होता हुआ दीर्घ आयु वालों में ही उत्पन्न होता है और अपर्याप्तों में उत्पन्न होता हुआ अल्प आयु वालों में ही उत्पन्न होता है यह उक्त सूक्त का अभिप्राय है । *(ध. पु. 10, पृ. 37)*

13. जब-जब आयु को बांधता है तब सब उसके योग्य जघन्य योग से बांधता है । *(ध. पु. 10, पृ. 38)*

14. सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग मात्र काल के बीतने पर प्रकृत समय प्रबद्ध के सब कर्म स्कन्ध नहीं गलते, क्योंकि उत्कर्षण द्वारा उनका स्थिति सत्व बढ़ा लिया जाता है । *(ध. पु. 10, पृ. 41)*

15. तीर्थंकरादिकों की असादना रूप मिथ्यात्व के बिना तीव्र कषाय होती नहीं, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता तथा इस प्रकार की कषाय स्थिति उत्कर्षण और स्थिति बन्ध की निमित्त न हो सो भी नहीं हैं, क्योंकि वैसा होने पर उनके निष्कारण होने का प्रसंग आता है । इसलिये तीव्र संक्लेश विलोम रूप से प्रदेश विन्यास का कारण है और मन्द संक्लेश अनुलोम रूप से प्रदेश विन्यास का कारण है ऐसा ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 10, पृ. 44)*

16. इस प्रदेश रचना का फल - बहुत कर्म स्कन्धों का संचय करना ही इसका फल है । *(ध. पु. 10, पृ. 44)*

शंका - एकेन्द्रियों में बांधे हुए समय प्रबद्धों का अबाधा को छोड़कर उसके ऊपर उत्कर्षण करता हुआ क्या सबका एक साथ उत्कर्षण करता है अथवा अन्य प्रकार से ?

समाधान - कर्म स्थिति के प्रथम समय में बांधे हुए कर्म पुद्गल स्कन्धों का अन्तर्मुहूर्त कम त्रस स्थिति काल प्रमाण उत्कर्षण किया जाता है । क्योंकि इनकी इतनी शक्ति स्थिति शेष है, द्वितीय समय में बांधे हुए समय प्रबद्ध का उससे एक समय अधिक त्रस स्थिति काल प्रमाण उत्कर्षण किया जाता है क्योंकि उसकी एक समय अधिक शक्ति स्थिति शेष है । इस प्रकार आगे के सब समय प्रबद्धों का एक-एक समय अधिक के क्रम से उत्कर्षण किया जाता है जिस समय प्रबद्ध की शक्ति स्थिति वर्तमान में बंधे हुए कर्म की स्थिति के समान है उस समय प्रबद्ध का वर्तमान में बंधे हुए कर्म की अन्तिम स्थिति तक उत्कर्षण किया जाता है।

(ध. पु. 10, पृ. 49)

17. पर्याप्त काल दीर्घ होता है और अपर्याप्त काल थोड़ा होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 50)*

18. जब-जब आयु को बांधता है तब-तब उसके योग्य जघन्य योग से बांधता है ।

(ध. पु. 10, पृ. 50)

19. उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थिति को बांधने के लिये और उत्कृष्ट उत्कर्षण कराने के लिये वहाँ उत्पन्न कराया है । *(ध. पु. 10, पृ. 52)*

20. कर्म प्रदेशों की स्थिति को बढ़ाना उत्कर्षण कहलाता है । उदयावलि की स्थिति के प्रदेशों का उत्कर्षण नहीं किया जाता है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है तथा उदयावलि के बाहर की सभी स्थितियों का उत्कर्षण (नहीं) किया जाता है । किन्तु चरम स्थिति के आवली के असंख्यात भाग को अति स्थापना रूप से स्थापित करके आवली के असंख्यात बहुभाग का उत्कर्षण होता है क्योंकि ऊपर स्थिति बन्ध का अभाव है । यह जघन्य उत्कर्षण है ।

पुनः उपरिमस्थितियों में अति स्थापना को आवलि मात्र प्राप्त होने तक बढ़ाना चाहिये फिर ऊपर निक्षेप की ही वृद्धि होती है । अति स्थापना और निक्षेप का अभाव होने से नीचे उत्कर्षण नहीं होता है । उत्कृष्ट अति स्थापना एक समय अधिक आवली से न्यून अबाधा प्रमाण है और जघन्य अति स्थापना आवलि प्रमाण है । *(ध. पु. 10, पृ. 52-53)*

21. कर्मप्रदेशों की स्थितियों के अपवर्तन का नाम अपकर्षण है । *(ध. पु. 10, पृ. 53)*

22. नारकियों में उत्पन्न होता हुआ बहुत बार सप्तम पृथ्वी के नारकियों में ही उत्पन्न होता है क्योंकि दूसरी पृथ्वियों में तीव्र संक्लेश और दीर्घ आयु स्थिति का अभाव है *(ध. पु. 10, पृ. 53)*

23. उनमें जो समय प्रबद्ध कर्म स्थिति काल तक रहकर निर्जीण होने वाला है उसके उदय स्थिति को प्राप्त हुए पुद्गल स्कन्धों की अग्र स्थिति प्राप्त संज्ञा है । *(ध. पु. 10, पृ. 113)*

24. जो कर्म जिस स्थिति में निषक्त हैं वह अपकर्षण और उत्कर्षण द्वारा अधस्तन व उपरिय स्थिति को प्राप्त होकर फिर से अपकर्षण व उत्कर्षण द्वारा उसी स्थिति को प्राप्त होकर यथा निपिक्त परमाणुओं के साथ उदय में दिखता है वह निषेक स्थिति प्राप्त कहलाता है । *(ध. पु. 10, पृ. 113)*

25. जो कर्म जिस स्थिति में निषिक्त होकर अपकर्षण व उत्कर्षण के बिना उसी स्थिति मं उदय में दिखता है वह अद्धा निषेक स्थिति प्राप्त कहलाता है । *(ध. पु. 10, पृ. 113)*

26. **शंका - क्षपित कर्मांशिक के केवल दो ही हानियाँ क्यों होती है ?**

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्षपित कर्मांशिक और गुणित कर्मांशिक जीव में एक समय प्रबद्ध के परमाणुं के बराबर ही प्रदेश स्थान पाये जाते हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 216)*

27. जिस प्रकार ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट द्रव्य की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों की उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट द्रव्य की प्ररूपणा करना चाहिये । विशेष इतना है कि मोहनीय की त्रस स्थिति से हीन 40 कोडाकोडी सागरोपम और नाम व गोत्र की उक्त स्थिति से हीन 20 कोडाकोडी सागरोपम स्थिति प्रमाण बादर एकेन्द्रियों में घुमाना चाहिये तथा गुणहानि शलाकाओं और अन्योन्याभ्यस्त राशियों के विशेष को भी जानना चाहिये । *(ध. पु. 10, पृ. 225)*

28. जो जीव पूर्ण प्रमाण आयु से युक्त होकर जलचर जीवों में परभव सम्बन्धी पूर्व कोटि प्रमाण आयु के बांधता हुआ दीर्घ आयु बन्धक काल में तत्प्रायोग संक्लेश से उत्कृष्ट योग में बांधता है, उसके द्रव्य की अपेक्षा आयु कर्म की उत्कृष्ट वेदना होती है । *(ध. पु. 10, पृ. 25)*

29. जो जीव आगे कहे जाने वाले लक्षणों से सहित हो वह आयु कर्म की उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी होता है । वे लक्षण कौन से हैं ? पूर्व कोटि प्रमाण आयु वाला हो, वह एक लक्षण है । *(ध. पु. 10, पृ. 25)*

30. **शंका - पूर्व कोटि प्रमाण आयु वाले को छोड़कर अन्य का ग्रहण क्यों नहीं करते ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि पूर्वकोटि के त्रिभाग को अबाधा करके परभव सम्बन्धी आयु को बांधने वाले जीवों के ही उत्कृष्ट बन्ध काल है। *(ध. पु. 10, पृ. 226)*

31. जलचरों में परभव सम्बन्धी पूर्वकोटि प्रमाण आयु को बांधता है यह द्वितीय विशेषण है । जिस प्रकार ज्ञानावरणादिकों का बांधने के भव में ही बन्धावली को बिताकर उदय होता है । उस प्रकार बांधे गये आयु कर्म का उसी भव में उदय नहीं होता, किन्तु उसका परभव में ही उदय होता है, इस प्रकार का ज्ञान कराने के लिये आयु का 'परभविक' विशेषण दिया है । *(ध. पु. 10, पृ. 227)*

32. **शंका - यहाँ पूर्वकोटि के सिवाय ऐसी दीर्घ आयु का बन्ध क्यों नहीं कराया जिससे उसके प्रथमादि गोपुच्छों को प्राप्त होने वाला द्रव्य स्तोक होने से उसकी निर्जरा भी कम होती है ।**
समाधान - नहीं, क्योंकि एक समय अधिक पूर्वकोटि आदि उपरिम आयु विकल्पों का घात नहीं होता । जो जीव ऐसी आयु का बन्ध करता है वह परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध किये बिना ही छह महिने के सिवाय सब भुज्यमान आयु को गला देता है । इसके केवल भुज्यमान आयु में छह महीना शेष रहने पर ही परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है । इसलिए इसके आयु द्रव्य का बहुत संचय नहीं होता । *(ध. पु. 10, पृ. 227)*

33. स्तोक आयु की गोपुच्छायें स्थूल होती है, इसलिए उनके अन्तर्मुहूर्त काल तक घटिका जल की धारा के समान निरन्तर गलते रहने पर बहुत द्रव्य की निर्जरा प्राप्त होती है । यही कारण है कि यहां पूर्व कोटि से नीचे की आयु के स्थिति विकल्पों का बन्ध नहीं कराया ।

(ध. पु. 10, पृ. 227)

34. **शंका - जलचरों में ही आयु किसलिए बंधाई ?**

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जलचर जीव विवेकहीन होने से संक्लेश रहित और सात बहुत होते है । इसलिए उनके अवलम्बन करण के द्वारा नष्ट होने वाला द्रव्य बहुत नहीं पाया जाता ।

(ध. पु. 10, पृ. 228)

35. **शंका - एक समय अधिक पूर्वकोटि आदि रूप आगे के आयु विकल्पों का कदलीघात नहीं होता है, किन्तु पूर्व कोटि से नीचे के विकल्पों का ही होता है, यह किस प्रमाण से माना जाता है ?**

समाधान - एक समय अधिक पूर्व कोटि आदि रूप आगे की सब आयु असंख्यात वर्ष प्रमाण मानी जाती है, ऐसा अतिदेश है, इससे जाना जाता है और कारण के बिना अतिदेश किया नहीं जाता, क्योंकि कारण के बिना अतिदेश करने पर अनवस्था दोष आता है ।

(ध. पु. 10, पृ. 228)

36. दीर्घ आयुबन्धक काल में यह तृतीय विशेषण है । पूर्वकोटि के तृतीय भाग को आबाधा करके आयु को बांधने वाला जीवों की बध्यमान आयु जघन्य भी होती है और उत्कृष्ट भी होती है । उसमें जघन्य बन्धककाल का निराकरण करने के लिए 'उत्कृष्ट बन्धक काल में' यह कहा है । उत्कृष्ट बन्धककाल भी प्रथम अपकर्ष में ही होंता है । अन्यत्र नहीं होता ।

(ध. पु. 10, पृ. 228)

37. उत्कृष्ट आयुबन्धक काल प्रथम अपकर्ष में ही होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए ।

(ध. पु. 10, पृ. 233)

38. जो जीव सांपक्रमायुष्क है वे अपनी-अपनी भुज्यमान आयु स्थिति के जो त्रिभाग बीत जाने पर वहां से लेकर असंक्षेपाद्धा काल तक पर सम्बन्धी आयु को बांधने के योग्य होते है । उनमें आयु बन्ध के योग्य काल के भीतर कितने ही जीव आठ बार, कितने ही सात बार, कितने ही छह बार, कितने ही पांच बार, कितने ही चार बार, कितने ही तीन बार, कितने ही दो बार, कितने ही एक बार आयुबन्ध के परिणामों से परिणत होते है क्योंकि, ऐसा स्वभाव है । उसमें जिन जीवों ने तृतीय त्रिभाग के प्रथम समय में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध प्रारम्भ किया है वे अन्तर्मुहूर्त में आयु कर्म के बन्ध को समाप्त कर फिर समस्त आयु स्थिति के नौवें भाग के शेष रहने पर फिर से भी आयु बन्ध के योग्य होते है । तथा समस्त आयु स्थिति का सत्ताइसवां भाग शेष रहने पर पुनरपि बन्ध केयोग्य होते है । इस प्रकार उत्तरोत्तर जो त्रिभाग शेष रह जाता है उसका त्रिभाग शेष रहने पर यहाँ आठवें अपकर्ष के प्राप्त होने तक आयुबन्ध के योग्यहोते है । ऐसा ग्रहण करना चाहिये । परन्तु त्रिभाग के शेष रहने परआयु नियम

से बंधती है ऐसा एकान्त नहीं है । किन्तु उस समय जीव आयु बन्ध के योग्य होते हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है और जो निरुपक्रमायुष्क जीव होते हैं वे अपनी भुज्यमान आयु में छह मास शेष रहने पर आयु बन्ध के योग्य होते हैं । यहाँ भी इसी प्रकार आठ अपकर्षों को कहना चाहिये । *(ध. पु. 10, पृ. 234)*

39. यहाँ जीवों के अल्प बहुत्व को कहते हैं -

आठ अपकर्षो द्वारा आयु को बांधने वाले जीव सबसे स्तोक हैं ।
सात अपकर्षो द्वारा आयु को बांधने वाले जीव उनसे संख्यात गुणे हैं ।
छह अपकर्षो द्वारा आयु को बांधने वाले जीव उनसे संख्यात गुणे हैं ।
पाँच अपकर्षो द्वारा आयु को बांधने वाले जीव उनसे संख्यात गुणे हैं ।
चार अपकर्षो द्वारा आयु को बांधने वाले जीव उनसे संख्यात गुणे हैं ।
तीन अपकर्षो द्वारा आयु को बांधने वाले जीव उनसे संख्यात गुणे हैं ।
दो अपकर्षो द्वारा आयु को बांधने वाले जीव उनसे संख्यात गुणे हैं ।
एक अपकर्षो द्वारा आयु को बांधने वाले जीव उनसे संख्यात गुणे हैं ।

विशेष - चूंकि आठ अपकर्षों द्वारा संचित द्रव्य की अपेक्षा प्रथम अपकर्ष द्वारा संचित हुआ द्रव्य संख्यात गुणा है अतएव प्रथम अपकर्ष में ही आयु को बंधाया है । जो दीर्घ आयु बन्धक काल में आयु को बांधता है वह उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी होता है । अन्य नहीं होता । इसलिये यह तीसरा विशेषण है । *(ध. पु. 10, पृ. 234)*

शंका - 'उसके योग्य संक्लेश से' यह चतुर्थ विशेषण किसलिये किया है ?

समाधान - जैसे उत्कृष्ट संक्लेश और उत्कृष्ट विशुद्धि से शेष कर्म बंधते है वैसे-वैसे आयु कर्म नहीं बंधता, किन्तु अपने योग्य मध्यम संक्लेश से बंधता है, इसके ज्ञापनार्थ 'उसके योग्य संक्लेश से' यह विशेषण किया है । *(ध. पु. 10, पृ. 235)*

शंका - 'उसके योग्य उत्कृष्ट योग से' यह पांचवाँ विशेषण किसलिये किया है ?

समाधान - बहुत द्रव्य का ग्रहण करने के लिये उक्त विशेषण किया है । *(ध. पु. 10, पृ. 235)*

शंका - यदि ऐसा है तो फिर 'उत्कृष्ट योग से' इतना ही क्यों नहीं कहा ?

समाधान - नहीं, क्योंकि दो समयों को छोड़कर उत्कृष्ट आयु बन्धक काल प्रमाण समय तक जीव का उत्कृष्ट योग रूप से परिणमन नहीं हो सकता । इसलिये जहाँ तक शक्य हो, वहाँ तक उत्कृष्ट ही योग स्थानों को प्राप्त होकर जो जीव आयु को बांधता है वह उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी होता है । यह कहा है । *(ध. पु. 10, पृ. 235)*

40. यहाँ योग यव मध्य के दो अर्थ लिये गये हैं - प्रथम तो आठ समय के योग्य जो श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र योग स्थान होते हैं उनकी 'योग यव मध्य' संज्ञा है । क्योंकि स्थिति से उस स्थिति वाले योगों का कथंचित अभेद है । इसलिये यहाँ 'योग ही यव मध्य योग यव मध्य' ऐसा कर्म धारय समास करना युक्त है । दूसरे जो योग यव का मध्य आठ समय काल है वह योग यव मध्य कहलाता है । उसके ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा क्योंकि वहाँ के योग अधस्तन योगों की अपेक्षा असंख्यातगुणे होते हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 236)*

शंका - अन्तर्मुहूर्त को छोड़कर वहाँ बहुत काल तक क्यों नहीं रहता ?

समाधान - नहीं, क्योंकि एक तो वहाँ रहने का काल ही अन्तर्मुहूर्त मात्र है और दूसरे आयु बन्धक काल भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं पाया जाता । यदि कहा जाय कि योग यव मध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहना सम्भव नहीं है सो भी बात नहीं है, क्योंकि असंख्यात गुण वृद्धि रूप स्थान में अन्तर्मुहूर्त काल तक रहने को असम्भव मानने में विरोध आता है ।

41. अन्तिम जीव गुण हानि स्थानान्तर में आवली के असंख्यातवें भाग काल तक रहा ।

शंका - आवली के असंख्यातव भाग प्रमाण काल को छोड़कर बहुत काल तक वहाँ क्यों नहीं रहता ?

समाधान - नहीं, क्योंकि तीन वृद्धियों और तीन हानियों में उत्कृष्ट रूप से भी रहने का काल आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । इसको छोड़कर वहाँ उपरिम संख्या नहीं पायी जाती और अन्तिम जीव गुण हानि स्थानान्तर असंख्यात भाग वृद्धि और असंख्यात भाग हानि के सिवा अन्य वृद्धियां व अन्य हानियां नहीं जाती, क्योंकि, ऐसा मानने में विरोध आता है ।

(ध. पु. 10, पृ. 237)

42. परभव संबंधी आयु के बंधने के पश्चात् भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता, किन्तु वह जितनी थी उतनी का ही वेदन करता है, इस का ज्ञान कराने के लिए 'क्रम से काल को प्राप्त होकर' यह कहा है । *(ध. पु. 10, पृ. 237)*

43. **शंका - परभविक आयु को बांधकर भुज्यमान आयु का घात मानने में कौनसा दोष है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि जिसकी भुज्यमान आयु की निर्जरा हो चुकी है, किन्तु अभी तक जिसके परभविक आयु का उदय नहीं प्राप्त हुआ है उस जीव का चतुर्गति के बाह्य हो जाने से अभाव प्राप्त होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 237)*

44. **शंका - हे भगवन् ! आयु में कितने भाग शेष रहने पर जीव परभविक आयु कर्म को बांधते हुए बांधते हैं ? हे गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गये है - संख्यातवर्षायुष्क और असंख्यातवर्षायुष्क । उनमें जो असंख्यात वर्षायुष्क है वे आयु के अंशों में छह मास शेष रहने पर परभविक आयु को बांधते हुए बांधते है । और जो संख्यात जीव है वे दो प्रकार के कहे गये है - सांप क्रमायुष्क और निरुपक्रमायुष्क । उनमें जो निरूपक्रमायुष्क है वे आयु में त्रिभाग शेष रहने पर परभविक आयु कर्म को बांधते है औरजो सापक्रमायुष्क जीव है वे कथचित् त्रिभाग (कथचित् त्रिभाग का त्रिभाग और कथचित त्रिभाग-त्रिभाग का त्रिभाग) शेष रहने पर परभव सम्बन्धी आयु कर्म को बांधते है । इस व्याख्याप्रज्ञाप्ति सूत्र के साथ कैसे विरोध न होगा ?**

समाधान - नहीं, क्योंकि इस सूत्र से उक्त सूत्र भिन्न आचार्य के द्वारा बनाया हुआ होने के कारण पृथक् है अत: उससे इसका मिलान नहीं हो सकता । बांधी हुई परभविक आयु का अपवर्तनाघात न करके उत्पन्न हुआ इस बात का ज्ञान कराने के लिए 'पूर्व कोटि आयुवालों में उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा है । *(ध. पु. 10, पृ. 237)*

45. जिस प्रकार देव गति आदि कर्मों को बांधकर फिर वहाँ उत्पन्न न होकर अन्यत्र भी उत्पन्न होना सम्भव है उस प्रकार यहां नहीं है । किन्तु जिस गति की आयु बांधी गयी है वहां ही निश्चय से उत्पन्न होता है, ऐसा बतलाने के लिए, तथा थलचर आदि तिर्यंचों को प्रतिषेध करने के लिए 'जलचरों में उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा है । *(ध. पु. 10, पृ. 239)*

46. आयुबन्ध और गति बन्ध में यही अन्तर है कि आयु बन्ध के पश्चात् वह जीव नियम से उसी गति में जन्म लेता है जिस गति की आयु का वह बन्ध करता है किन्तु गति बन्ध के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि एक ही पर्याय में काल भेद से परिणामों के चारों गति कर्म और उनसे सम्बद्ध अन्य कर्मों का बन्ध होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 239)*

47. एक दो समयों द्वारा पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं करता है, यह बतलाने के लिए अन्तर्मुहूर्त का ग्रहण किया है । पर्याप्तियों को पूर्ण करने का काल जघन्य भी है और उत्कृष्ट भी है । उसमें उत्कृष्ट काल का प्रतिषेध करने के लिये 'सर्वलघु' पद का ग्रहण किया है ।*(ध. पु. 10, पृ. 239)*

48. एक दो पर्याप्तियों के पूर्ण होने पर पर्याप्त हुआ जीव आयु बन्ध के योग्य नहीं होता, किन्तु सब पर्याप्तियों से पर्याप्तक हुआ' ऐसा कहा है । *(ध. पु. 10, पृ. 240)*

49. पर्याप्तियों के पूर्ण कर चुकने के समय से लेकर जब तक अन्तर्मुहूर्त नहीं बीतता है तब तक कदली-घात नहीं करता, इस बात को ज्ञात कराने के लिए 'अन्तर्मुहूर्त पद' का निर्देश किया है। *(ध. पु. 10, पृ. 240)*

50. **शंका - इसके नीचे भुज्यमान आयु का कदली घात क्यों नहीं करता ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है । *(ध. पु. 10, पृ. 240)*

51. **शंका - कदली घात के बिना अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा परभविक आयु क्यों नहीं बांधी जाती है?**
समाधान - नहीं, क्योंकि जीवित रहकर जो आयु व्यतीत हुई है उसकी आधी से अधिक आबाधा के रहते हुए परभविक आयु का बन्ध नहीं होता । *(ध. पु. 10, पृ. 240)*

52. **शंका - जीवित रहकर जो आयु व्यतीत हुई है उसकी आधी या उससे भी कम आबाधा के रहने पर आयु बँधती है, यह किस प्रमाण से बाँधा जाता है ?**
समाधान - पूर्व कोटि के तृतीय भाग मात्र ही आयु की उत्कृष्ट आबाधा होती है । इस काल विधान रूप से जाना जाता है । *(ध. पु. 10, पृ. 241)*

53. सातावेदनीय के बन्ध योग्य काल का नाम साता काल है । असातावेदनीय के बन्ध के योग्य संक्लेशकाल का नाम असाताकाल है ।

54. **शंका - उपसंहार किसे कहते हैं ?**
समाधान - पूर्वकोटि के त्रिभाग में उत्कृष्ट आयुबन्धक काल के भीतर उसके योग्य उत्कृष्ट के योग से परभव सम्बन्धी आयु को बांधकर जलचरों में उत्पन्न होकर छह पर्याप्तियों को पूर्ण करके अन्तर्मुहूर्त बिताकर जीवित रहते हुए जो अन्तर्मुहूर्त काल गया है उससे अर्धमात्र आगे का

अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि प्रमाण उपरिम सब आयु को एक समय में सदृश खण्डपूर्वक कदलीघात से घातकर घात करने के समय में ही पुनः जलचर सम्बन्धी अन्य एक परभविक पूर्वकोटि प्रमाण आयु का बन्ध प्रारम्भ करके उत्कृष्ट आयुबन्ध काल में उसके योग्य उत्कृष्ट योग से बन्ध करके अनन्तर समय में बन्ध की समाप्ति होगी, अतः स्थित हुए जीव के आयु द्रव्य के प्रमाण की परीक्षा को उपसंहार कहते हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 244)*

55. आशय यह है कि जिसने उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त बाद पूर्वकोटि प्रमाण उत्कृष्ट संचय वाली भुज्यमान आयु का जिस समय मे कदली-घात किया उसी समय से लेकर वह पुनः एक पूर्वकोटि प्रमाण आयु का उत्कृष्ट बन्धककाल द्वारा उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध करने लगा । उसके नवीन बन्ध के अन्तिम समय में आयु कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश संचय पाया तो अवश्य जाता है, पर वह कितना होता है, इस उपसंहार प्रकरण द्वारा इसी बात का विचार किया गया है ।

56. एक साथ आयु कर्म का उत्कृष्ट संचय कितना होता है, यह बात यहाँ दिखलाई गयी है । युगपत दो आयुओं का सत्व पाया जा सकता है एक भुज्यमान आयु का और दूसरी बध्यमान आयु का । एक ऐसा जीव लो जिसने पूर्वभव में सबसे बड़े बन्धक काल द्वारा तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योग से जलचरों का एक पूर्वकोटि प्रमाण आयुबन्ध किया था । पुनः वह मरकर जलचर हुआ । फिर उसके अति स्वल्प काल द्वारा पर्याप्त होने पर एक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् वह जिस समय में कदलीघात पूर्व का आयु की अपवर्तन करता है उसी समय में आगामी आयु के बन्ध का प्रारम्भ भी करता है और इस प्रकार आयु बन्ध के अन्तिम समय में उसके आयु कर्म का उत्कृष्ट संचय देखा जाता है । यहां दो उत्कृष्ट बन्धककालों के भीतर जो तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट योग द्वारा दो आयु कर्मों का संचय हुआ उसमें से केवल भुज्यमान आयु की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रकृति और विकृति स्वरूप गोपुच्छाओं का गलन होता है, शेष सब द्रव्य नवीन बन्ध के अन्तिम समय में सत्व रूप में पाया जाता है । यही आयु कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश संचय है ।

57. कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यंच आयु का उत्कृष्ट स्थिति बंध एक पूर्वकोटि से अधिक नहीं होता। *(ध. पु. 10, पृ. 246)*

58. जितनी खण्डशलाकायें हो उतने मात्र गोपुच्छ समूहों का नाम विकृति गोपुच्छा है । *(ध. पु. 10, पृ. 250)*

59. आयु का उत्कृष्ट आबाधकाल भुज्यमान आयु के तृतीय भाग प्रमाण होता है । प्रकृत में कदलीघात और आयुबन्ध का समय एक है अर्थात् जिस समय कदलीघात होता है उसी समय से आयु बन्ध का प्रारम्भ होता है, अतः आयुबन्ध के समय से लेकर जो तृतीय भाग प्रमाण आयु शेष रही, उतने प्रमाण वाले अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि प्रमाण आयु स्थिति के खण्ड करना चाहिए । इस प्रकार जितने खण्ड हो उन्हें एक के सामने दूसरे को स्थापित करना चाहिए । ऐसा करने से जो गोपुच्छा बनेगी वह विकृति गोपुच्छा का प्रमाण होगा । *(ध. पु. 10, पृ. 251)*

60. सूक्ष्म निगोद जीवों में जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार के योग स्थान है ! उनमें से प्राय: आगम में जो विधि बतलाई है उसके अनुसार जघन्य योगस्थानों में ही रहकर ज्ञानावरण कर्म बांधता है । उनकी सम्भावना न होने पर एक बार उत्कृष्ट योग स्थान को भी प्राप्त होता है ।
(ध. पु. 10, पृ. 274)

61. **शंका - जघन्य योग से ही ज्ञानावरण कर्म को किसलिए बंधाया गया है ?**
समाधान - स्तोक कर्म प्रदेशों के आने के लिए जघन्य योग से ज्ञानावरण कर्म को बंधाया गया है । *(ध. पु. 10, पृ. 274)*

62. **शंका - स्तोक योग से थोड़े कर्म आते है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?**
समाधान - चूंकि द्रव्य विधान में योग स्थानों की प्ररूपणा अन्यथा बन नहीं सकती, इससे जाना जाता है कि स्तोक योग से थोड़े कर्म आते है । यदि कहा जाये कि भूतवलि भट्टारक असम्बद्ध अर्थ की प्ररूपणा करते है, सो वह बात भी नहीं है, क्योंकि महाकर्म प्रकृति प्राभृतरूपी अमृत के पान से उनका समस्त राग, द्वेष और मोह दूर हो गया है । इसलिए वे असम्बद्ध अर्थ की प्ररूपणा नहीं कर सकते । इस प्रकार सूक्ष्म निगोद जीवों में योगावास की प्ररूपणा की । *(ध. पु. 10, पृ. 274)*

63. बहुत-बहुत बार मंद संक्लेश रूप परिणामों से युक्त होता है । जब तक शक्य हो तब तक मंद संक्लेश रूप परिणामों से ही युक्त होता है । मंद संक्लेश रूप परिणामों की सम्भावना न होने पर उत्कृष्ट संक्लेशों को भी प्राप्त होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 275)*

64. मंद संक्लेश के सम्भव न होने पर वह उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त होता है ।
(ध. पु. 10, पृ. 275)

65. **शंका - यह जीव बहुत बार संक्लेश को किसलिए प्राप्त कराया गया है ?**
समाधान - ज्ञानावरण कर्म की अल्प स्थिति प्राप्त करने के लिए बहुत बार मंद संक्लेश को प्राप्त कराया गया है । *(ध. पु. 10, पृ. 275)*

66. स्थितियों के स्तोक होने पर गोपुच्छाएं स्थूल पायी जाती है, जिससे बहुत प्रदेशों की निर्जरा देखी जाती है । यही यहां जघन्य स्थिति कहने का प्रयोजन है । *(ध. पु. 10, पृ. 275)*

67. बहुत द्रव्य का अपकर्षण कराने के लिए मंद संक्लेश को प्राप्त कराया गया है । इस प्रकार संक्लेशावास की प्ररूपणा की । *(ध. पु. 10, पृ. 276)*

68. संक्लेश परिणामों को मन्द होने से ज्ञानावरण कर्म का स्थितिबंध कम होता है और उपरितन स्थिति में स्थित निशेकों को अपकर्षण भी होता है । यही कारण है कि प्रकृत में मंद संक्लेश के कथन के दो प्रयोजन बतलाये है । *(ध. पु. 10, पृ. 276)*

69. **शंका - सूक्ष्म निगोद जीवों में से निकलकर मनुष्यों में ही क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि सूक्ष्म निगोद जीवों में से अन्यत्र न उत्पन्न होकर मनुष्यों में उत्पन्न हुए जीव के संयमासंयम और सम्यक्त्व के ही ग्रहण की योग्यता पायी जाती है ।
(ध. पु. 10, पृ. 276)

70. **शंका - यदि ऐसा है तो सम्यक्त्वकाण्डक और संयमासंयम काण्डों को करने के लिए मनुष्यों में उत्पन्न होने वाला जीव बादर पृथिवीकायिकों में उत्पन्न न होकर मनुष्यों में ही क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि सूक्ष्म निगोदों में से निकले हुए जीव के सर्वलघु काल द्वारा संयमासंयम का ग्रहण नहीं पाया जाता । *(ध. पु. 10, पृ. 276)*

71. **शंका - बादर पृथिवीकायिक पर्याप्तकों में किसलिए उत्पन्न कराया है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि अपर्याप्तकों में से निकले हुए जीव के सर्वलघु काल द्वारा संयमासंयम के ग्रहण का अभाव है ।

72. **शंका - बादर पृथिवी-कायिकों में किसलिए उत्पन्न कराया है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि अप्कायिक पर्याप्तों में से मनुष्य में उत्पन्न हुए जीव के सर्वलघु काल तक संयमादि का ग्रहण सम्भव नहीं है । *(ध. पु. 10, पृ. 276)*

विशेषार्थ - क्षपित कर्मांशिक अवस्था निकट संसारी के ही सम्भव है यह तो स्पष्ट है । फिर भी वह जिस क्रम से इस अवस्था को प्राप्त होता है, उस क्रम का यहां निर्देश किया गया है। पहले यह जीव पल्य का असंख्यातवां भाग कम उत्कृष्ट कर्म स्थिति प्रमाण काल तक सूक्ष्म निगोद अवस्था में परिभ्रमण करता रहता है । फिर वहां से निकल कर वह बादर पृथिवीकायिक पर्याप्तक होता है । यह सीधा मनुष्य क्यों नहीं होता, इसका निर्देश टीका में किया ही है।
(ध. पु. 10, पृ. 277)

73. अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अति शीघ्र सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ । पर्याप्तियों की पूर्णता का काल जघन्य भी एक समय आदिक नहीं है, किन्तु अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है *(ध. पु. 10, पृ. 277)*

74. **शंका - अतिशीघ्र पर्याप्ति को क्यों पूर्ण कराया ?**
समाधान - सूक्ष्म निगोद जीवों के योग से असंख्यात गुणे बादर पृथिवीकायिक अपर्याप्त जीवों के योग द्वारा संचित होने वाले द्रव्य का प्रतिषेध करने के लिए सर्वलघु काल में पर्याप्ति को पूर्ण कराया है । जो सर्वलघु काल द्वारा पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं करता है उसका एकान्तानुवृद्धि योग काल महान होता है और इसलिए वहां द्रव्य का संचय भी बहुत होता है । अत: इस बात का निषेध करने के लिये सर्वलघु काल द्वारा पर्याप्तियों को पूर्ण करता है, यह कहा है ।
(ध. पु. 10, पृ. 277)

75. पर्याप्तियों को पूर्ण कर अन्तर्मुहूर्त काल तक विश्राम करता है, तथा परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध कर जब तक पुन: विश्राम आदि क्रिया को नहीं प्राप्त होता तब तक मरण को प्राप्त नहीं

होता, इसलिए 'अन्तर्मुहूर्त में मृत्यु को प्राप्त होकर' ऐसा कहा है । बहुत काल तक संयम गुण श्रेणि के द्वारा संचित कर्मों की निर्जरा कराने के लिए 'पूर्वकोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा है । *(ध. पु. 10, पृ. 278)*

76. गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर कोई सात मास गर्भ में रहकर उससे निकलते है, कोई आठ मास, कोई नौ मास, कोई दस मास रहकर गर्भ से निकलते है । उसमें चूंकि सर्वलघु काल में गर्भ से निकलने रूप जन्म का कथन अन्य प्रकार से बन नहीं सकता, अत: 'सात मास गर्भ में रहा' ऐसा ग्रहण करना चाहिये । **गर्भ से निष्क्रमण गर्भ निष्क्रमण गर्भ निष्क्रमण रूप जन्म गर्भनिष्क्रमण जन्म** (इस प्रकार यहां तत्पुरुष और कर्मधारय समास है) उस गर्भनिष्क्रमण रूप जन्म से उत्पन्न होकर आठ वर्ष का हुआ । *(ध. पु. 10, पृ. 278)*

77. गर्भ से निकलने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष बीत जान पर संयम ग्रहण के योग्य होता है, इसके पहिले संयम ग्रहण के योग्य नहीं होता, यह इसका भावार्थ है । गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्षों के बीतने पर संयम ग्रहण के योग्य होता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते है । किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर योनि निष्क्रमण रूप जन्म से 'यह सूत्र वचन नहीं बन सकता ! यदि गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष ग्रहण किये जाते तो है' गर्भ पतन रूप जन्म से आठ वर्ष का हुआ 'ऐसा सूत्रकार कहते ! किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा है। इसलिए सात मास अधिक आठ वर्ष का होने पर संयम को प्राप्त करता है, यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्यथा सूत्र में 'सर्वलघु पद का निर्देश घटित नहीं होता !' *(ध. पु. 10, पृ. 279)*

78. **शंका - दस हजार वर्ष से कम आयु वालों में क्यों नहीं उत्पन्न कराया ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि देवो में इससे नीचे के आयु विकल्प नहीं पाये जाते अर्थात् उनमें दस हजार वर्ष से कम आयु सम्भव ही नहीं है । *(ध. पु. 10, पृ. 287)*

79. वहाँ कुछ कम दस हजार वर्ष, भवास्थिति तक सम्यक्त्व का पालन कर जीवित के थोड़ा शेष रहने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ । *(ध. पु. 10, पृ. 289)*

80. **शंका - सम्यक्त्व के साथ दस हजार वर्ष तक किसलिए घुमाया ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जितना स्थिति सत्व होता है उसे स्थितिबन्ध कम होता है अत: उसके स्तोक स्थितियों में स्थित बहुत कर्म प्रदेशों की निर्जरा पायी जाती है । इसलिए उसे दस हजार वर्ष तक सम्यक्त्व के साथ घुमाया है । *(ध. पु. 10, पृ. 289)*

81. बाह्यर्थ अशेष पदार्थों के परिज्ञान को केवलज्ञान कहते है । *(ध. पु. 10, पृ. 319)*

82. तीनों काल विषयक अनन्त पर्यायों सहित आत्म स्वरूप के संवेदन को केवलदर्शन कहते है । *(ध. पु. 10, पृ. 319)*

83. अवलम्बन करण द्वारा बहुत द्रव्य की निर्जरा कराने के लिए पूर्व कोटि आयु वाले को नारकायु का बंध कराया है । *(ध. पु. 10, पृ. 330)*

84. परभव सम्बन्धी आयु की उपरिम स्थिति में स्थित द्रव्य का अपकर्षण द्वारा नीचे पतन करना अवलम्बना करण कहा जाता है । *(ध. पु. 10, पृ. 330)*

85. **शंका - इसकी अपकर्षण संज्ञा क्यों नहीं की ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि परिभविक आयु उदय नहीं होने से उसका उदयावलि के बाहर पतन नहीं होता इसलिए इसकी अपकर्षण संज्ञा करने का विरोध आता है । (आशय यह है कि परभव सम्बन्धी आयु का उपकर्षण होने पर भी उसका पतन आबाधाकाल के भीतर न होकर आबाधा से ऊपर स्थित स्थिति निषेकों में भी होता है इसी से इसे अपकर्षण से जुदा बतलाया है ।) *(ध. पु. 10, पृ. 331)*

86. **शंका - जघन्य योग सेआयु को किसलिये बंधाया है ?**
समाधान - थोड़े कर्म प्रदेशों के आक्रमण के लिये जघन्य योग से आयु को बंधाया है । *(ध. पु. 10, पृ. 331)*

87. जिसने परभविक आयु को बांध लिया है वह भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं करता है । ऐसा ज्ञान करके अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि के त्रिभाग में अवलम्बना करण करके अपवर्तनाघात से परभव सम्बन्धी आयु का घात न करके नारकियों में उत्पन्न हुआ, इस बातके ज्ञापनार्थ सूत्र में 'क्रम से मृत्यु को प्राप्त हुआ' इत्यादि वाक्य कहा है । *(ध. पु. 10, पृ. 332)*

88. पर्याप्त काल में जो आयु का अपकर्षण किया जाता है उसकी अपेक्षा अपर्याप्तकाल में जघन्य योग से किया गया अपकर्षण बहुत होता है, इसके ज्ञापनार्थ अपर्ताप्त काल को बढ़ाया है । *(ध. पु. 10, पृ. 333)*

89. **शंका - एक अंक के प्रति प्राप्त इस कर्म-पिण्ड की प्रक्षेप संज्ञा कैसे है ?**
समाधान - चूंकि वह योग प्रक्षेप का कर्ता है, अत: उसकी प्रक्षेप संज्ञा उचित है । *(ध. पु. 10, पृ. 337)*

90. यहाँ एक सकल प्रक्षेप का तैतीस सागरोपमों में प्रक्षेपण करने वाले जीव के द्वारा अंगुल के असंख्यातवें भाग से खण्डित करके जो नारक के अन्तिम समय में दिया गया है उसकी विकल प्रक्षेप संज्ञा है । *(ध. पु. 10, पृ. 337)*

91. सूत्रसूचित अर्थ के प्रकाशित करने का नाम चूलिका है । *(ध. पु. 10, पृ. 395)*

92. **शंका - परस्थान किसे कहते है ?**
समाधान - बादर, सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मध्य में लब्ध्यपर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व निवृत्तिपर्याप्त के भेद से भेद को प्राप्त हुए प्रत्येक जीव के जघन्य व उत्कृष्ट भेद से भिन्न उपपाद एकान्तानुवृद्धि एवं परिणाम योग स्थानों का जो अल्पबहुत्व है वह परस्थान अल्प बहुत्व कहलाता है । *(ध. पु. 10, पृ. 406)*

93. **शंका - उपपाद योग कहां पर होता है ?**
समाधान - वह उत्पन्न होने के प्रथम समय से ही होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 420)*

94. **शंका - उसका काल कितना है?**
समाधान - उसका जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय मात्र है । *(ध. पु. 10, पृ. 420)*

95. उत्पन्न होने के द्वितीय समय से लेकर शरीर पर्याप्ति से अपर्याप्त रहने के अन्तिम समय तक एकान्तानुवृद्धियोग होता है । विशेष इतना है कि लब्ध्यपर्याप्तकों को आयु बन्ध के योग्य काल में अपने जीवित के त्रिभाग में परिणाम योग होता है । उससे नीचे एकान्तानुवृद्धियोग ही होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 420)*

96. एकान्तानुवृद्धियोग को जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय मात्र है । पर्याप्त होने के प्रथम समय से लेकर आगे सब जगह परिणाम योग ही होता है । निर्वृत्यपर्याप्तकों के परिणाम योग नहीं होता । *(ध. पु. 10, पृ. 421)*

97. **शंका - वह जघन्य उपपादयोग किसके होता है ?**
समाधान - विग्रहगति में वर्तमान जीव के तद्भवस्थ होने के प्रथम समय में जघन्य उपपादयोग होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 421)*

98. **शंका - वह जघन्य उपपाद योग कितने काल होता है ?**
समाधान - वह जघन्य व उत्कर्ष से एक समय रहता है क्योंकि द्वितीयादि समयों में एकान्तानुवृद्धि योग प्रवृत्त होता है । शरीर ग्रहण कर लेने पर चूंकि योग वृद्धि को प्राप्त होता है अतएव विग्रह गति में जघन्य स्वामित्व दिया गया है । सूक्ष्म व बादर निवृत्ति पर्याप्तकों के ये जघन्य परिणाम योग है । *(ध. पु. 10, पृ. 422)*

99. **शंका - वह जघन्य परिणाम योग उनके कहाँ पर होता है ?**
समाधान - वह शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने के प्रथम समय में ही होता है।
(ध. पु. 10, पृ. 422)

100. **शंका - वह जघन्य से कितने काल होता है ?**
समाधान - वह जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से चार समय रहता है । उससे आगे उनके ही उत्कृष्ट परिणाम योग होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 422)*

101. **शंका - वह किसके होता है ?**
समाधान - वह परम्परा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 422)*

102. **शंका - वह कितने काल होता है ?**
समाधान - वह जघन्य से एक समय व उत्कर्ष से दो समय होता है उसके आगे सूक्ष्म व बादर लब्ध्य पर्याप्तकों के उत्कृष्ट परिणाम योग होते हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 422)*

103. **शंका - वे कहाँ होते हैं ?**
समाधान - वे आयुबन्ध के योग्य प्रथम समय से लेकर भवस्थिति के अन्तिम समय तक इस उद्देश्य से होते हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 422)*

104. **शंका - आयु बन्ध के योग्य काल कितना है ?**
समाधान - अपने जीवित के तृतीय भाग के प्रथम समय से लेकर विश्रमण काल के अनन्तर अधस्तन समय तक आयुबन्ध के योग्य काल माना गया है । *(ध. पु. 10, पृ. 422)*

105. **शंका - परिणाम योग कितने काल होता है ?**
समाधान - वह जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से दो समय होता है । द्वीन्द्रिय को आदि लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय निर्वृत्ति पर्याप्तक तक इनके ये जघन्य परिणाम योग होते हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 423)*

106. **शंका - वह कहाँ पर होता है?**
समाधान - वह पर्याप्त होने के प्रथम समय में होता है ।

107. **शंका - वह कितने काल होता है ?**
समाधान - वह जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से चार समय होता है । द्विइन्द्रिय को आदि लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक इन निवृत्यपर्याप्तकों के ये उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योग होते हैं । *(ध.पु. 10, पृ. 423)*

108. **शंका - वहउत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योग कहाँ पर ग्रहण किया जाता है ?**
समाधान - वह शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होगा, इस प्रकार स्थिति जीव में ग्रहण किया जाता है । *(ध. पु. 10, पृ. 423)*

109. **शंका - एकान्तानुवृद्धि योग कितने काल होता है ?**
समाधान - वह जघन्य व उत्कर्ष से एक समय होता है । *(ध. पु. 10, पृ. 423)*

110. सूक्ष्म से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक लब्ध्य पर्याप्तकों के ये जघन्य उपपाद योग होते हैं । *(ध. पु. 10, पृ. 424)*

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 11.

1. **शंका - स्वयंभूरमण समुद्र के भीतर स्थित महामत्स्य जलचर जीव उसके बाह्य तट को कैसे प्राप्त होता है ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्व के वैरी किसी देव के प्रयोग से उसका वहाँ गमन सम्भव है । *(ध. पु. 11, पृ. 18)*

2. वेदना समुद्घात से समुद्घात को प्राप्त हुआ ! वेदना के वश से जीव प्रदेशों के विष्कम्भ और उत्सेध की अपेक्षा तिगुणे प्रमाण में फैलने का नाम वेदना समुद्घात है । परन्तु सबके जीव प्रदेश वेदना वश से तिगुणे ही फैलते हो, ऐसा नियम नहीं है । किन्तु तरतम रूप से स्थित वेदना के वश से अपने विष्कम्भी की अपेक्षा एक दो प्रदेशादिकों से भी वृद्धि होती है । परन्तु उन वेदना समुद्घातों का यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि यहाँ उत्कृष्ट क्षेत्र का अधिकार है । *(ध. पु. 11, पृ. 18)*

3. उसकी अवगाहना बहुत अधिक है । दूसरे जलचर जीव को स्थल में रखने पर उष्णता के कारण अंगों के संतप्त होने से बहुत पापकर्मों के संचय को प्राप्त हुए उसके महावेदना की उत्पत्ति देखी जाती है । *(ध. पु. 11, पृ. 18)*

4. काक लेश्या का अर्थ तीसरा वातवलय है ! तनुवातवलय का काक के समान वर्ण होने से उसकी काकलेश्या है ।

5. पूर्व केबैरी किसी देव के द्वारा महामत्स्य स्वयंम्भूरमण समुद्र की बाह्य वेदिका के बाहरी भाग में लोकनालि के समीप पटका गया । वहाँ तीव्र वेदना के वश वेदना समुद्घात से समुद्घात को प्राप्त होकर लोकनाली के बाह्य भाग पर्यन्त वह संसक्त होता है, यह उसका अभिप्राय है । *(ध. पु. 11, पृ. 19)*

6. महामत्स्य लोकनाली की वायव्य दिशा में पूर्व के वैरी देव के सम्बन्ध में दक्षिण उत्तर आयाम स्वरूप से गिरा । वहाँ वह मारणान्तिक समुद्घात से समुद्घात को प्राप्त हुआ । वेदना समुद्घात के साथ मारणान्तिक समुद्घात को करने वाले उक्त महामत्स्य ने तीन विग्रह काण्डक किये । विग्रह का अर्थ वक्रता है, उससे तीन काण्डक किये । वे इस प्रकार से है - लोकनाली की वायव्य दिशा से वाण के समान ऋजुगति साधिक अर्ध राजु मात्र दक्षिण दिशा में आयम । वह एक काण्डक हुआ । फिर वहाँ से मुड़कर वाण जैसी सीधी गति से एक राजू मात्र पूर्व दिशा में आया । यह द्वितीय काण्डक हुआ फिर वहाँ से मुड़कर नीचे छह राजु मात्र मार्ग ऋजुगति से गया । वह तृतीय काण्डक हुआ । इस प्रकार तीन काण्डकों को करके मारणान्तिक-समुद्घात को प्राप्त हुआ । *(ध. पु. 11, पृ. 20)*

7. निगोद जीवों में उत्पन्न होने वाले जीव के अतिशय तीव्र वेदना का अभाव होने से विवक्षित शरीर से तिगुना वेदना समुद्घात सम्भव नहीं है । *(ध. पु. 11, पृ. 21)*

8. उसके वृद्धिगत क्षेत्र की अपेक्षा हानि को प्राप्त क्षेत्र साधिक आठ गुणा पाया जाता है । *(ध. पु. 11, पृ. 21)*

9. यद्यपि पश्चिम दिशा से एक राजु मात्र पूर्व दिशा में जाकर, फिर नीचे सात राजु अध्वान जाकर, फिर पश्चिम दिशा से एक राजु मात्र पूर्व दिशा में जाकर, फिर नीचे सात राजु अध्वान जाकर, फिर दक्षिण से साढ़े तीन राजु जाकर सूक्ष्म निगोद जीवों में उत्पन्न होता है तो भी पूर्व के क्षेत्र से इसका क्षेत्र विशेष हीन ही है, क्योंकि इसमें विष्कम्भ और उत्सेध तिगुणे नहीं है । *(ध. पु. 11, पृ. 21)*

10. मारणान्तिक समुद्घात को फिर मूल शरीर में प्रवेश कर मृत्यु को प्राप्त होने वाले जीवों सम्बन्धी मारणान्तिक क्षेत्रों के आयामों के अनेक विकल्प रूप होने में कोई विरोध नहीं है । *(ध. पु. 11, पृ. 25)*

11. उत्पत्ति क्षेत्र को न पाकर मारणान्तिक समुद्घात को करने वाले जीव पलटकर मूल शरीर में प्रविष्ट होते है, यह कैसे जाना जाता है? यह परम्परागत उपदेश से जाना जाता है । *(ध. पु. 11, पृ. 25)*

12. वेदना समुद्घात के बिना मूल आयाम के साथ नौ हजार योजन मारणान्तिक समुद्घात को करता है, उस वेदना समुद्घात का क्षेत्र इस क्षेत्र के सदृश है । *(ध. पु. 11, पृ. 26)*

13. **शंका - तो फिर कौनसे केवली शरीर से तिगुणे बाहल्य से दण्डसमुद्घात को करते है ?**
समाधान - पल्यक आसन से स्थित केवली उक्त प्रकार से दण्डसमुद्घात को करते है । *(ध. पु. 11, पृ. 31)*

14. अपर्याप्त की जघन्य अवगाहना से चूंकि पर्याप्त की जघन्य अवगाहना बहुत पायी जाती है । *(ध. पु. 11, पृ. 34)*

15. अन्यतर पंचेन्द्रिय जीव के - जो संज्ञी, मिथ्यादृष्टि है, सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज अथवा कर्मभूमि प्रतिभागोत्पन्न है, संख्यात वर्षायुष्क अथवा असंख्यात वर्षायुष्क है; देव, मनुष्य, तिर्यंच व नारकी है, स्त्रीवेद पुरुष वेद अथवा नपुंसकवेद में से किसी भी वेद से संयुक्त है, जलचर अथवा नभचर है, साकार उपयोग वाला है, जागृत है । श्रुतोपयोग से युक्त है, उत्कृष्ट स्थिति के बन्धयोग्य उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश में वर्तमान है, अथवा कुछ मध्यम संक्लेश परिणाम से युक्त है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म की वेदनाकाल की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । *(ध. पु. 11, पृ. 88)*

विशेषार्थ - सूत्र में अन्यतर पद का निर्देश अवगाहना आदिकों के प्रतिषेध के अभाव को सूचित करता है । पंचेन्द्रिय पद का निर्देश विकलेन्द्रिय का प्रतिषेध करता है । इससे यह फलित होता है कि ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट स्थिति को पंचेन्द्रिय जीव ही बांधते है, विकलेन्द्रिय नहीं बांधते । वे पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के है - संज्ञी और असंज्ञी उनमें असंज्ञी पंचेन्द्रिय उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधते है, इस बात के ज्ञापनार्थ संज्ञी पद का निर्देश किया है । वे संज्ञी पंचेन्द्रिय गुण स्थानों के भेद से चौदह प्रकार

है । उनमें सासादन सम्यग्दृष्टि आदिक उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधते है इस बात के ज्ञापनार्थ मिथ्यादृष्टि पद का निर्देश किया है । वे मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार है । उनमें अपर्याप्तक उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधते है, इस बात के ज्ञापनार्थ 'सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ' ऐसा कहा है । पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज इस तरह दो प्रकार के है । उनमें अकर्मभूमिज उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधते है, किन्तु पन्द्रह कर्म भूमियों में उत्पन्न हुए जीव ही उत्कृष्ट स्थिति को बांधते हैं, इस बात के ज्ञापनार्थ 'कर्मभूमिज' पद का निर्देश किया है । भोगभूमियों में उत्पन्न हुए जीवों के समान देव नारकियों के तथा स्वयं प्रभ पर्वत के बाह्य भाग से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तक इस कर्मभूमि प्रतिभाग में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के भी उत्कृष्ट स्थिति के बंध का प्रतिवेध प्राप्त होने पर उसका निराकरण करने के लिए 'अकर्मभूमिज के अथवा कर्मभूमिज प्रतिभागोत्पन्न जीव के' ऐसा कहा है । अकर्मभूमिज पद से देव-नारकियों को ग्रहण करना चाहिये । कर्मभूमि प्रतिभाग पद का निर्देश करने पर स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में उत्पन्न हुए जीवों का ग्रहण किया गया है । 'संख्यातवर्षायुष्क' कहने पर अढाई द्वीप समुद्रों में उत्पन्न हुए तथा कर्मभूमिप्रतिभाग में उत्पन्न हुए जीव का ग्रहण करना चाहिए । 'असंख्यात वर्षायुष्क' से देव नारकियों का ग्रहण किया गया है । इस पद से एक समय अधिक पूर्वकोटि आदि उपरिम आयु विकल्पों से संयुक्त तिर्यंचों व मनुष्यों का ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि पूर्व सूत्र से उनका प्रतिषेध किया जा सकता है ।

शंका - देव तथा नारकियों में जो संख्यात वर्षायुष्क है उनका फिर असंख्यात वर्षायुष्कपना कैसे बनेगा ?

समाधान - इस शंका के उत्तर में कहते है कि जो संख्यात वर्षायुष्क देव है, वे असंख्यात वर्षायुष्क नहीं है, परन्तु संख्यात वर्षायुष्क ही है परन्तु यहां पर एक समय अधिक आदि पूर्वकोटि को लेकर आगे के आयु विकल्पों को असंख्यात-वर्षायु के भीतर स्वीकार किया गया है।

शंका - एक समय अधिक पूर्वकोटि के संख्यातवर्ष रुपता होते हुए भी असंख्यात वर्ष रुपता कैसे सम्भव है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि राजवृक्ष (वृक्ष विशेष) के समान 'असंख्यात वर्ष' शब्द रूढिवश अपने अर्थ को छोड़कर आयु विशेष में रहने वाला यहां ग्रहण किया गया है ।

चारों गतियों के संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टियों के उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध का प्रतिषेध नहीं है इस बात के ज्ञापनार्थ देव के, मनुष्य के, तिर्यंच के अथवा नारकी के, ऐसा कहा है । तीनों ही वेदों में उत्कृष्ट स्थिति के बन्द का प्रतिषेध नही है, इस बात के ज्ञापनार्थ 'स्त्रीवेदी के' पुरुष वेदी अथवा नपुंसक वेदी के' ऐसा कहा है । चरण अर्थात् गमन विशेष का अभाव बतलाने के लिए 'जलचर के' 'थलचर के' अथवा 'नभचरके' ऐसा कहा है । उनमें मत्स्य और कच्छप आदि जीव जलचर, सिंह वृक और वाघ आदि वाघ थलचर तथा गृद्ध, ढेंक और श्येन आदि नभचर जीव है । दर्शनोपयोग से सहित जीव उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधते, किन्तु ज्ञानोपयोग युक्त जीव ही उसे बांधते है, इस बात के जतलाने के लिए 'साकार' पद का निर्देश किया गया है । सोया हुआ जीव उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधता, किन्तु जागृत जीव ही उसे बांधता है, इस ज्ञापनार्थ 'जागृत' पद का ग्रहण किया है । श्रुतोपयोग युक्त जीव ही

उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है, न कि मति उपयोग युक्त जीव इस बात के ज्ञापनार्थ श्रुतोपयोगी युक्त जीव के ऐसा कहा है । *(ध. पु. 11, पृ. 88)*

16.जो कोई मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी है, सम्यग्दृष्टि (अथवा मिथ्यादृष्टि) है, सब पर्याप्तियों से पर्याप्त है, कर्मभूमि या कर्मभूमि प्रतिभाग में उत्पन्न हुआ है, संख्यात वर्ष की आयु वाला है, स्त्रीवेद, पुरुषवेद या नपुंसक वेद से संयुक्त है, जलचर अथवा थलचर है, साकार उपयोग से सहित है, जागरूक है, तत्प्रायोग्य संक्लेश (अथवा विशुद्धि) से संयुक्त है, तथा जो उत्कृष्ट आबाधा के साथ देव व नारकियों की उत्कृष्ट आयु को बांधने वाला है, उसके बांधने के प्रथम समय में आयु कर्म की वेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । *(ध. पु. 11, पृ. 113)*

17. अवगाहना, कुल, जाति, वर्ण, विन्यास और संस्थान आदि के भेदों से निर्मित विशेषता काअभाव बतलाने के लिए सूत्र में 'अण्णदरस्स' यह कहा है । देवों की उत्कृष्ट आयु के बन्धक मनुष्य ही होते है तथा नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बन्धक मनुष्य अथवा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच होते है यह जतलाने के लिए 'मणुप्सस्स वा पचिंदिय तिरिक्खजोणियस्स वा सण्णिस्स' ऐसा कहा है, देवों की उत्कृष्ट आयु पन्द्रह कर्मभूमियों और कर्मभूमि प्रतिभागों में भी बाँधी जाती हैं, यह बतलाने के लिए ''कम्मभूमियस्स कम्मभूमिपडिभागस्स वा'' ऐसा कहा है । देवों व नारकियों की उत्कृष्ट आयु को सम्यग्दृष्टि ही बांधते है तथा नारकियों की उत्कृष्ट आयु को मिथ्यादृष्टि बांधते है, यह प्रकट करने के लिए 'सम्मादिट्ठिस्स वा मिच्छादिट्ठिस्स वा' ऐसा निर्देश किया गया है । जो छह पर्याप्तियों से पर्याप्त हो चुके है वे ही नारकियों की उत्कृष्ट आयु को बांधते है, यह जतलाने के लिए 'सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदस्स' यहकहा है । देवों की उत्कृष्ट आयु पन्द्रह कर्म भूमियों में ही बंधती है तथा नारकियों की उत्कृष्ट आयु को असंख्यातवर्षायुष्क तिर्यंच या मनुष्य नहीं बांधते है, किन्तु संख्यातवर्षायुष्क ही बांधते है यह जतलाने के लिए 'संखेज्जवासाउअस्स' ऐसा निर्देश किया है । देवों व नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बन्ध का तीनों वेदों के साथ विरोध नहीं है, ऐसा जतलाने के लिए 'इत्थिवेदस्य व पुरिस वेदस्य वा णवुंसय वेदस्स वा' ऐसा कहा है । *(ध. पु. 11, पृ. 113)*

18. यहाँ भाववेद का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यवेद का ग्रहण करने पर द्रव्य स्त्री वेद के साथ भी नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बन्ध प्रसंग आता है । परन्तु उसके साथ नारकियों की उत्कृष्ट आयु का बन्ध होता नहीं है, क्योंकि पाँचवी पृथ्वी तक सिंह और छठी पृथिवी तक स्त्रियां जाती है । इस सूत्र के साथ विरोध आता है । देवों की भी उत्कृष्ट आयु द्रव्य स्त्रीवेद के साथ नहीं बंधती, क्योंकि अन्यथा '(अच्युत कल्प से ऊपर) नियमत: निर्ग्रन्थ लिंग से ही उत्पन्न होते है ।' इस सूत्र के साथ विरोध होता है । और द्रव्य स्त्रियों के निर्गन्थता सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्त्रादि परित्याग के बिना उनके भाव निर्ग्रन्थता का अभाव है । द्रव्य स्त्री वेदी व नपुंसकवेदी वस्त्रादि का त्याग करकें निग्रंथ लिंग धारण कर सकते है । ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर छेद सूत्र के साथ विरोध होता है । *(ध. पु. 11, पृ. 115)*

37. **शंका - सब द्रव्यों व उनकी पर्यायों के अश्रद्धान से सम्बद्ध रखने वाली जीवविपाकी मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग की अपेक्षा पुद्गल विपाकी औदारिक शरीर का अनुभाग अनन्त गुणा कैसे हो सकता है ?**

समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि प्रकृति विशेष होने के कारण औदारिक शरीर की अपेक्षा मिथ्यात्व के अनन्तगुणे हीन होने में कोई विरोध नहीं आता *(ध. पु. 12, पृ. 469)*

38. **शंका - वह प्रकृति विशेष क्या है ?**

समाधान - औदारिक शरीर प्रशस्त है और मिथ्यात्व अप्रशस्त है । *(ध. पु. 12, पृ. 49)*

39. **शंका - औदारिक शरीर प्रशस्त है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?**

समाधान - जिस प्रकार मिथ्यात्व का बन्ध एक मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है इस प्रकार औदारिक शरीर का बन्ध केवल वहां ही नहीं होता । इसी से औदारिक शरीर की प्रशस्तता जानी जाती है । *(ध. पु. 12, पृ. 49)*

40. केवल ज्ञानावरणादिकों के उदय में मिथ्यात्व के बन्ध व सत्व का विनाश उपलब्ध होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 50)*

41. उपर्युक्त चारों प्रकृतियों की अपेक्षा इसकी दुर्बलता ही प्रकृतिगत विशेषता है । *(ध. पु. 12, पृ. 50)*

42. चारों का विसंयोजन उपलब्ध नहीं होता है, अतएव ज्ञात होता है कि अनन्तानुबन्धी लोभ उन चारों की अपेक्षा दुर्बल है । *(ध. पु. 12, पृ. 50)*

43. प्रकृति विशेष होने के कारण वैसा होना सम्भव है । यथा -' अनन्तानुबन्धि चतुष्क सम्यक्त्व और संयम का घातक है, परन्तु संज्वलनचतुष्क केवल चरित्र का ही घात करन वाला है । इसी में अनन्तानुबन्धी चतुष्क की शक्ति को अपेक्षा संज्वलन चतुष्क की शक्ति अल्पतर है यहजाना जाता है और इस कारण अनन्तानुबन्धी के अनुभाग के संज्वलन का अनुभाग अनन्तगुणा हीन है, यह जाना जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 51)*

44. संज्वलन चतुष्क यथाख्यात संयम का घातक है, परन्तु प्रत्याख्यानावरणीय सराग संयम का घातक है । इसी से प्रत्याख्यानावरण की अपेक्षा संज्वलन का अनुभाग अतिशय महान है यह जाना जाता है । दूसरे, प्रत्याख्यानावरण का उदय संयतासंयत गुणस्थान तक होता है । परन्तु संज्वलनों का उदय सूक्ष्म साम्परायिक शुद्धि संयत के अन्तिम समय तक रहता है । अथवा उपरिम अनन्तगुणी संयतासंयत परिणामों के द्वारा संज्वलन के उदय का विनाश नहीं उपलब्ध होता है । इससे भी जाना जाता है कि संज्वलन के अनुभाग की अपेक्षा प्रत्याख्यानावरणीय प्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणा हीन है । *(ध. पु. 12, पृ. 52)*

45. महर्षियों ने क्रोध का उपसंहार कर लिया है उनके भी लोभ और माया का उदय उपलब्ध होता है । (ध. पु. 12, पृ. 52)

25. **शंका - यहां संक्लेश स्थानों और विशुद्धि स्थानों में क्या भेद है ?**
समाधान - साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदिक परिवर्तमान शुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषाय उदय स्थानों को विशुद्धि स्थान कहतेहैं और असाता अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, (दुस्वर) और अनादेय आदिक परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियों के बन्धके कारण भूत कषायों के उदय स्थानों को संक्लेश स्थान कहते है। *(ध. पु. 11, पृ. 208)*

26. सातावेदनीय के बंध योग कषायोदय स्थानों को विशुद्धि और असाता वेदनीय के बन्धयोग्य कषायोदय स्थानों को संक्लेश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना उत्कृष्ट स्थिति में विशुद्धि स्थानों की स्तोकता का विरोध है । *(ध. पु. 11, पृ. 209)*

27. देशघाती संज्वलन कषाय के उदय की अपेक्षा सर्वघाति प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय अनन्तगुणा है । और कारण के स्तोक रहने पर कार्य का आधिक्य सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसा होने में विरोध है । *(ध. पु. 11, पृ. 235)*

28. प्रत्याख्यानावरण के उदय की अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरण का उदय अनन्त गुणा है । *(ध. पु. 11, पृ. 235)*

29. अपर्याप्त काल में सर्वविशुद्ध असंयत सम्यग्दृष्टि जीव के द्वारा बांधे जाने वाले स्थितिबन्ध की अपेक्षा अपर्याप्तकाल में ही सर्वोत्कृष्ट संक्लेश से संयुक्त असंयत सम्यग्दृष्टि के द्वारा बांधे जाने वाले स्थितिबन्ध के संख्यातगुणे होने में कोई विरोध नहीं है। *(ध. पु. 11, पृ. 236)*

30. इसका कारण यह है कि अपर्याप्त असंयत सम्यग्दृष्टि के सर्वोत्कृष्ट संक्लेश की अपेक्षा पर्याप्त असंयत सम्यग्दृष्टि का सर्वोत्कृष्ट संक्लेश अनन्तगुणा पाया जाता है *(ध. पु. 11, पृ. 236)*

31. कारण कि असंयत सम्यग्दृष्टि के सर्वोत्कृष्ट संक्लेश की अपेक्षा संज्ञी मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय पर्याप्तक का सर्वजघन्य संक्लेश अनन्तगुणा पाया जाता है और संक्लेश की वृद्धि ही स्थिति बन्धवृद्धि का निमित्त है । अथवा मिथ्यात्व के उदयवश असंयत सम्यग्दृष्टि के सर्वोत्कृष्ट स्थिति बन्ध की अपेक्षा संयम के अभिमुख हुए अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि का जघन्य स्थिति बन्ध संख्यातगुणा है । *(ध. पु. 11, पृ. 236)*

32. संयम के अभिमुख हुए अन्तिम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि की संक्लेश की अपेक्षा अपर्याप्त मिथम्यादृष्टि का सर्वजघन्य संक्लेश अनन्तगुणा पाया जाता है । *(ध. पु. 11, पृ. 237)*

33. अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यात गुणा है । पर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थिति बंध संख्यात गुणा है । कारण कि अपर्याप्तकालीन संक्लेश की अपेक्षा पर्याप्तकालीन सर्वोत्कृष्ट संक्लेश अनन्तगुणा पाया जाता है । *(ध. पु. 11, पृ. 237)*

34. कर्म परमाणुओं के स्कन्धों के निक्षेपण करने का नाम निषेक है । *(ध. पु. 11, पृ. 237)*

35. असंज्ञियों का प्रतिषेध करने के लिए सूत्र में 'सण्णीणं' पद का निर्देश किया गया है । सम्यग्दृष्टि जीवों में उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का निषेध करने के लिए 'मिच्छाइट्ठीणं' पद का उपादान किया है । अपर्याप्तकाल में उत्कृष्ट स्थिति बन्ध नहीं होता, इस बात के ज्ञापनार्थ

'पर्याप्तक' का ग्रहण किया है । शेष कर्मों का प्रतिषेध करने के लिए ज्ञानावरणादिकों का निर्देश किया है । उत्कृष्ट स्थिति को बांधने वाले जीव के तीन हजार वर्षों में प्रदेश का निक्षेप नहीं होता, इस बात को बतलाने के लिए 'तीन हजार वर्ष प्रमाण आबाधा को छोड़कर' ऐसा कहा है । *(ध. पु. 11, पृ. 239)*

36. पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक जीवों के मोहनीय कर्म की सात हजार वर्ष प्रमाण आबाधा को छोड़कर जो प्रदेशाग्र प्रथम समय में निषिक्त है वह बहुत है, जो प्रदेशाग्र द्वितीय समय में निषिक्त है वह उससे विशेष हीन है, जो प्रदेशाग्र तृतीय समय में निषिक्त है वह उससे विशेष हीन है, इस प्रकार उत्कर्ष से सत्तर कोडाकोडि सागरोपम तक विशेष हीन विशेष हीन होता गया हैं । *(ध. पु. 11, पृ. 242)*

37. दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति की आबाधा एक हजार प्रमाण पायी जाती है । *(ध. पु. 11, पृ. 242)*

38. पंचेन्द्रिय संज्ञी सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक जीवों के आयु कर्म की एक पूर्वकोटि के तृतीय भाग प्रमाण आबाधा को छोड़कर समय जो प्रदेश पिण्ड दिया गया है वह बहुत है, द्वितीय समय में जो प्रदेशपिण्ड दिया गया है वह उससे विशेष हीन है, तृतीय समय में जो प्रदेशपिण्ड दिया गया है वह विशेष हीन है, इस प्रकार उत्कर्ष से तैतीस सागरोपम तक वह विशेषहीन-विशेषहीन होता गया है । *(ध. पु. 11, पृ. 245)*

39. आयु कर्म की उत्कृष्ट आबाधा इतनी ही होती है तथा उत्कृष्ट आबाधा के साथ तैतीस सागरोपम मात्र उत्कृष्ट स्थिति भी होती है, यह बतलाने के लिए उक्त प्ररूपणा की जा रही है । *(ध. पु. 11, पृ. 246)*

40. पंचेन्द्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक जीवों के नाम व गौत्र कर्म की दो हजार वर्ष प्रमाण आबाधा को छोड़कर जो प्रदेशपिण्ड प्रथम समय में निषिक्त है वह बहुत है, जो प्रदेशपिण्ड द्वितीय समय में निषिक्त है वह उससे विशेष हीन है, जो प्रदेश पिण्ड तृतीय समय में निषिक्त है, वह उससे विशेष हीन है, इस प्रकार उत्कर्ष से बीस कोडाकोडी सागरोपमों तक विशेषहीन विशेषहीन होता गया । *(ध. पु. 11, पृ. 246)*

41. आबाधाकाण्डक चूंकि नहीं है, इसलिए आवाधास्थान असम्भव हो, ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि उनके अभाव में कोई हेतु नहीं है । इस कारण आयु के आबाधाकाण्डक नही है, यह सिद्ध है । *(ध. पु. 11, पृ. 269)*

42. जघन्य आबाधा की अपेक्षा उत्कृष्ट आबाधा संख्यात गुणी है इसलिए आबाधा स्थान भी उससे संख्यातगुणे ही है । *(ध. पु. 11, पृ. 270)*

43. उत्कृष्ट आबाधा में से एक समय कम जघन्य आबाधा को घटा देने पर आबाधा स्थानों की उत्पत्ति होती है। *(ध. पु. 11, पृ. 271)*

44. **शंका - आबाधास्थानों से आबाधाकाण्डक शलाकायें समान कैसे ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि एक-एक आबाधास्थान स्थान सम्बन्धी जो पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिबन्ध स्थान हैं उनकी आबाधाकाण्डक संज्ञा है । *(ध. पु. 11, पृ. 271)*

45. स्थितिबन्धाध्यवसान स्थानों की प्ररूपणा के लिए द्वितीय चूलिका का अवतार हुआ है । उसमें तीन अनुयोग द्वार है - जीव समुदाहार, प्रकृति समुदाहार, और स्थिति समुदाहार । *(ध. पु. 11, पृ. 310)*

46. **शंका - इनमें जीव समुदाहार किसलिए आया है ?**
समाधान - साता व असाता की एक एक स्थिति में इतने जीव है व इतने नहीं है, इस बात के ज्ञापनार्थ जीव समुदाहार प्राप्त हुआ है । (ध. पु. 11, पृ. 310)

47. **शंका - प्रकृति समुदाहार किसलिए आया है ?**
समाधान - इस प्रकृति के स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान इतने होते है और इतने नहीं होते है इस बात का परिज्ञान कराने के लिए प्रकृति समुदाहार का अवतार हुआ है *(ध. पु. 11, पृ. 311)*

48. **शंका - स्थिति समुदाहार किसलिए आया है ?**
समाधान - इस स्थिति के इतने स्थितिबन्धाध्यवसान स्थान होते है और इतने नहीं होते है, इसका परिज्ञान कराने के लिए स्थिति समुदाहार प्राप्त हुआ है । इन तीन अनुयोगद्वारों को छोड़कर यहां किसी चौथे अनुयोगद्वार की सम्भावना नहीं है, क्योंकि वह पाया नहीं जाता । *(ध. पु. 11, पृ. 311)*

49. **शंका - एक जीव में एक साथ साता व असातादिकों का बन्ध क्यों नहीं होता है ?**
समाधान - उनकी युगपत प्रवृत्ति अत्यन्ताभाव से प्रतिषिद्ध है, अर्थात् साता व असाता आदिकों को एक साथ बांधने में जीवों की शक्ति नहीं है । *(ध. पु. 11, पृ. 312)*

50. **शंका - यहाँ विशुद्धता से क्या अभिप्राय है ?**
समाधान - अत्यन्त तीव्र कषाय के अभाव में जो मन्द कषाय होती है उसे विशुद्धता पद से ग्रहण करना चाहिए । सातावेदनीय के चतु:स्थानबन्धक जीव सर्वविशुद्धि है, ऐसा कहने पर वे अतिशय मन्द संक्लेश से सहित है । ऐसा ग्रहण करना चाहिए । अथवा, जघन्य स्थिति बन्ध का कारण स्वरूप जो जीव का परिणाम है उसे विशुद्धता समझना चाहिए । (ध. पु. 11, पृ. 314)

51. असाता वेदनीय के द्विस्थानबन्धक जीव सर्वविशुद्ध है । असाता वेदनीय के त्रिस्थानानुभाग बन्धकों की अपेक्षा उसके ही द्विस्थानानुभाग बन्धक जीव मन्द कषाय वाले है । यह सूत्र का अभिप्राय है । *(ध. पु. 11, पृ. 315)*

52. त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर है । असाता के द्विस्थानानुभाग बन्धकों की अपेक्षा उसके ही त्रिस्थानानुभागबन्धक जीव अति उत्कट संक्लेश होते है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है । *(ध. पु. 11, पृ. 315)*

53. चतु:स्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर है । असाता के त्रिस्थानानुभाग बन्धकों की अपेक्षा उसके ही चतु: स्थानानुभाग बन्धकों की कषाय अतिशय बहुल होती है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है । संक्लेश की वृद्धि होने पर साताआदिक शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध हीन होता है और असाता आदिक अशुभ प्रकृतियों का अनुभागबन्ध बढ़ता है । संक्लेश की हानि होने पर साता आदिक शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध बढ़ता है और असाता आदिक अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध हीन होता है यह अभिप्राय है । *(ध. पु. 11, पृ. 316)*

54. असातावेदनीय के द्विस्थानबन्धक जीव स्वस्थान से ज्ञानावरणीय की जघन्य स्थिति को बांधते है । असातबन्धकों में द्विस्थानबन्ध जीव अतिशय विशुद्ध होते हुए, मन्द कषायी होने से चूँकि जघन्य स्थिति के कारणभूत परिणामों से संयुक्त है, इसीलिए वे ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति को बाँधते है । जघन्य स्थिति को बांधते हुए भी वे ओघ जघन्य स्थिति को नहीं बाँधते है, इस बात के ज्ञापनार्थ 'स्वस्थान से ज्ञानावरणीय की जघन्य स्थिति को बाँधते है' ऐसा कहा गया है । *(ध. पु. 11, पृ. 318)*

55. **शंका - स्वस्थान से ज्ञानावरणीय कीजघन्य स्थिति किसे कहते है ?**
समाधान - असाता-वेदनीय के साथ नब्ध के योग्य जो ज्ञानावरणीय की सबसे जघन्य स्थिति है वह स्वस्थान जघन्य स्थिति कही जाती है । *(ध. पु. 11, पृ. 319)*

56. असाता-वेदनीय के त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीय की अजघन्य अनुत्कृष्ट स्थिति को बांधते है। कारण यह है कि वे उत्कृष्ट स्थिति को तो बांधते नहीं है, क्योंकि उनके उत्कृष्ट संक्लेश का अभाव है व जघन्य स्थिति को भी बाँधते है, क्योंकि उनके अत्यन्त विशुद्ध परिणामों का अभाव है । इस कारण असाता के त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीय अजघन्य-अनुत्कृष्ट स्थिति को ही बांधते है, यह सिद्ध है । *(ध. पु. 11, पृ. 319)*

57. असाता-वेदनीय के चतुस्थानबन्धक जीव असातावेदनीय की ही उत्कृष्ट स्थिति को बांधते है । चूंकि असाता वेदनीय के चतुस्थानबन्धक जीव तीव्र संक्लेश से संयुक्त होते है, अतएव वे असाता वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति को बाँधते है । *(ध. पु. 11, पृ. 319)*

58. **शंका - दर्शनोपयोग किसे कहते है ?**
समाधान - अन्तरंग उपयोग को दर्शनोपयोग कहते है । कारण यह है कि आकाश का अर्थ कर्मकतृत्व है, उसके बिना जो अर्थोपलब्धि होती है उसे अनाकार उपयोग कहा जाता है। (ध. पु. 11, पृ. 333)

59. **शंका - ऐसा होने पर श्रुतज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान के भी दर्शनोपयोग पूर्वक होने का प्रसंग आवेगा ?**
समाधान - नहीं आवेगा । क्योंकि, वे दोनों ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होते हैं, अत: उनके दर्शनोपयोग पूर्वक होने में विरोध है । इस कारण बाह्य अर्थ के ग्रहण (ज्ञान) शक्ति विशिष्ट जो अपने स्वरूप का संवेदन है वह दर्शन है, यह सिद्ध होता है । (ध. पु. 11, पृ. 333)

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 12.

1. विकलेन्द्रिय उत्कृष्ट अनुभाग को नहीं बाँधते हैं, किन्तु पंचेन्द्रिय ही बाँधते है ।
(ध. पु. 12, पृ. 13)

2. सूत्र में क्षीणकपाय और संयोगि केवली का ग्रहण यह प्रकट करता है कि शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का घात विशुद्धि, केवली समुद्घात अथवा योगनिरोध नहीं होता । क्षीण कपाय और संयोगी गुण स्थानों में स्थितिघात व अनुभागघात के होने पर भी शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का घात वहाँ नहीं होता, यह सिद्ध होने पर स्थिति व अनुभाग से रहित अयोगी गुणस्थान में शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग होता है, यह अर्थापत्ति से सिद्ध है । *(ध. पु. 12, पृ. 18)*

3. यश:कीर्ति और उच्चगौत्र का सूक्ष्मसांपरायिक क्षपक के अन्तिम समय में उत्कृष्ट बन्ध उपलब्ध होता है ।

4. **शंका - जिस प्रकार उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त मिथ्यादृष्टि जीव के घातिया कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामित्व दिया गया है उसी प्रकार इनका क्यों नहीं दिया जाता है ।**
समाधान - क्योंकि एक तो मिथ्यादृष्टि के उत्कृष्ट संक्लेश के द्वारा शुभ अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्परायिक के द्वारा बांधा गया शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा पाया जाता है, इसलिए उन उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामित्व मिथ्यात्व गुणस्थान में नहीं दिया गया है ।
(ध. पु. 12, पृ. 19)

5. अत्यन्त विशुद्धि एवं अत्यन्त संक्लेश से आयु का बन्ध नहीं होता यह जतलाने के लिए 'उसके योग्य विशुद्धि से संयुक्त' यह कहा है । जिसने आयु के उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधा है वह उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामी होता है, यह बतलाने के लिये 'बद्धल्लयं' ऐसा सूत्र में निर्देश किया गया है । बन्ध से रहित द्वितीयादिक समयों में क्या उत्कृष्ट अनुभाग होता हैं या नहीं होता ऐसा पूछने पर उसका सत्व है वह भी उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामी होता है यह कहा है । *(ध. पु. 12, पृ. 20)*

6. **शंका - प्रमत्तसंयतो में उत्कृष्ट अनुभाग का सत्व कैसे पाया जाता है ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि, आयु के उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधकर प्रमत्त संयत गुण स्थान को प्राप्त हुए जीव के उसका सत्व पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 20)*

7. **शंका - संयतासंयतादिक नीचे के गुण स्थान में स्थित जीव उत्कृष्ट अनुभाग के स्वामी क्यों नहीं होते ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट अनुभाग के साथ आयु को बांधने पर संयतासंयतादि अधस्तन गुणस्थान में गमन नहीं होता । *(ध. पु. 12, पृ. 20)*

8. **शंका - उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधकर उसे अपवर्तनाघात के द्वारा घातकर पश्चात् अधस्तन गुणस्थानों को प्राप्त होने पर उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामी क्यों नहीं होता ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि घातित अनुभाग के उत्कृष्ट होने का विरोध है ।

विशेषार्थ - उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधने पर उसका अपवर्तनाघात नहीं होता, ऐसा कितने है आचार्य कहते है । किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा मानने पर एक तो उत्कृष्ट आयु को बांधकर पश्चात् उसका घात करके मिथ्यात्व को प्राप्त हो अग्निकुमार देवों में उत्पन्न हुए द्वीपायन मुनि के साथ व्यभिचार आता है, दूसरे इसका घात माने बिना महाबन्ध में प्ररूपित उत्कृष्ट अनुभाग का उपार्ध पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अन्तर भी नहीं बन सकता । *(ध. पु. 12, पृ. 21)*

9. अनुदिशा आदि नीचे के देवों से सम्बन्ध रखने वाली आयु को बांधते हुए उत्कृष्ट अनुभाग का बन्ध नहीं होता, यह बतलाने के लिये 'अनुत्तरविमानवासी देव के' यह कहा गया है ।
(ध. पु. 12, पृ. 21)

10. **शंका - उत्कृष्ट अनुभाग के साथ तैतीस सागरोपम प्रमाण आयु को बाँधकर अनुभाग को छोड़ केवल स्थिति के अपवर्तनाघात को करके सौधर्मादि देवों में उत्पन्न हुए जीवों के उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामित्व क्यों नहीं पाया जाता है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि अनुभागघात के बिना आयु की उत्कृष्ट स्थिति का घात संभव नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 21)*

11. **शंका - अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसांपरायिक के जघन्य अनुभाग ग्रहण कर वहां जघन्य स्वामित्व क्यों नहीं बतलाया ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि अनुभाग बन्ध की अपेक्षा वहाँ अनुभाग का सत्व अनन्तगुणा पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 22)*

12. **शंका - क्षीणकषाय गुण-स्थान के अन्तिम समय में चूंकि चिरन्तन अनुभाग के सत्व को लेकर ही जघन्य स्वामित्व दिया गया है अतएव क्षीणकषाय के प्रथम समय में भी जघन्य स्वामित्व दिया जाना चाहिये था, क्योंकि चिरन्तन अनुभाग के सत्व की अपेक्षा दोनों में कोई भेद नहीं है ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रत्येक समय में होने वाले अपवर्तन घात के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणहीन होकर क्षीणकषाय के अन्तिम समय को प्राप्त हुए अनुभाग की अपेक्षा उसी गुणस्थान के प्रथम समय का अनुभाग अनन्तगुणा देखा जाता है *(ध. पु. 12, पृ. 22)*

13. **शंका - द्विचरम समयवर्ती भव्यसिद्धि के जघन्य स्वामित्व क्यों नहीं दिया जाता है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उसके अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसांपरायिक द्वारा बांधे गये सातावेदनीय के उत्कृष्ट अनुभाग का सत्व देखा जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 24)*

14. **शंका - असातावेदनीय के वेदन करने वाले के यह विशेषण किसलिये किया जा रहा है?**
समाधान - जो सातावेदनीय का वेदन कर रहा है और जिसने द्विचरम समय के उदयाभाव होने से असातावेदनीय का नाश कर दिया है उस साता वेदनीय के उत्कृष्ट अनुभाग को धारण करने वाले अन्तिम समयवर्ती भवसिद्धिक के वेदनीय का जघन्य स्वामित्व मानने में विरोध आता है । परन्तु असाता का वेदन करने वाले के वेदनीय का अनुभाग जघन्य होता है, क्योंकि एक तो उदयभाव होने के कारण भवसिद्धिक के द्विचरम समय में सातावेदनीय के अनुभाग सत्व का विनाश हो जाता है और दूसरे क्षपकश्रेणि में बहुत बार घात को प्राप्त हुए अनुभाग सहित असाता वेदनीय का ही भवसिद्धिक के अन्तिम समय में सत्व देखा जाता है ।*(ध. पु. 12, पृ. 24)*

15. **शंका - असातावेदनीय का वेदन करने वाले तथा क्षुधा तृषा आदि ग्यारह परीषहों द्वारा बाधा को प्राप्त हुए ऐसे संयोगी केवली भगवान के भोजन का ग्रहण कैसे नहीं होगा ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो भोजन पान में उत्पन्न हुई इच्छा से मोहयुक्त है तथा भरण के भय से जो भोजन करता है, अतएव परीषहों से जो पराजित हुआ है ऐसे जीव के केवली होने का विरोध है । संक्लेश के साथ अविनाभाव रखने वाली क्षुधा से जलने वाले के भी केवलीपना बन जाता है, इस प्रकार यह दोष समान ही है,ऐसा भी समाधान चाहिए, क्योंकि अपने सहायक घातिया कर्मों का अभाव हो जाने से अशक्तता को प्राप्त हुए असाता वेदनीय के उदय से क्षुधा व तृषा की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 24)*

16. **शंका - बिना फल दिए ही प्रतिसमय निर्जीर्ण होने वाले परमाणु समूह की उदय संज्ञा कैसे बन सकती है ?**
समाधान - नहीं,जीव व कर्म के विवेकमात्र फल को देखकर उदय को फलस्वरूप से स्वीकार किया गया है । *(ध. पु. 12, पृ. 25)*

17. **शंका - यदि ऐसा है तो असातावेदनीय के उदयकाल में सातावेदनीय काउदय नहीं होता, केवल असातावेदनीय का उदय रहता है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अपने फल को नहीं उत्पन्न करने की अपेक्षा दोनों में ही समानता पायी जाती है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि, तव असातावेदनीय के परमाणुओं के समान सातावेदनीय के परमाणुओं की अपने रूप से निर्जरा नहीं होती । किन्तु विनाश होने की अपेक्षा से असाता रूप से परिणम कर उनका विनाश होता है यह देखकर साता-वेदनीय का उदय नहीं है, ऐसा कहा जाता है । परन्तु असातावेदनीय का यह क्रम नहीं है क्योंकि तब असाता केपरमाणुओं को अपने रूप से ही निर्जरा पायी जाती है । इस कारण दु:ख रूप फल के अभाव में भी असाता-वेदनीय का उदय मानना युक्ति-युक्त है, यह सिद्ध होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 25)*

18. उनके कदाचित् असातावेदनीय का उदय रहने पर भी क्षुधा-तृषा जन्य बाधा नहीं होती । यही कारण है कि केवली जिनके क्षुधादिजन्य बाधा का अभाव कहा गया है *(ध. पु. 12, पृ. 25)*

19. **शंका - यदि ऐसा है तो असातावेदनीय के उदयकाल में सातावेदनीय का उदय नही होता है, केवल असाता वेदनीय का ही उदय रहता है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अपने फल को नहीं उत्पन्न करने की अपेक्षा दोनों में ही समानता पायी जाती है ।**
समाधान - नहीं, क्योंकि तब असातावेदनीय के परमाणुओं के समान सातावेदनीय के परमाणुं की अपने रूप से निर्जरा नहीं होती । किन्तु विनाश होने की अवस्था में असाता रूप से परिणम कर उनका विनाश होता है यह देखकर साता वेदनीय का उदय नहीं है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु असातावेदनीय का यह क्रम नहीं है । क्योंकि तब असाता के परमाणुओं को अपने रूप से ही निर्जरा पायी जाती है । इस कारण दु:ख रूप फल के अभाव में भी असातावेदनीय का उदय मानना युक्तियुक्त है, यह सिद्ध होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 25)*

20. उनके कद्चित् असातावेदनीय का उदय रहने पर भी क्षुधा तृषा जन्य बाधा नहीं होती । यह मूल कारण है कि केवली जिनके क्षुधादि जन्य बाधा का अभाव कहा गया है । *(ध. पु. 12, पृ. 26)*

21. अपर्याप्त तिर्यंच सम्बन्धी आयु को देव और नारकी जीव नहीं बांधते यह जतलाने के लिये मनुष्य अथवा 'पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले' ऐसा कहा है । *(ध. पु. 12, पृ. 27)*

22. **शंका - एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय जीव भी अपर्याप्त तिर्यंच की आयु को बांधते है, इसलिए उनमें जघन्य स्वामित्व क्यों नहीं दिया जाता है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उनमें आयु के जघन्य अनुभाग के बन्ध में कारणभूत परिणामों का अभाव है ।

23. प्रति समय बढ़ने वाले या हीन होने वाले जो संक्लेश या विशुद्धि रूप परिणाम होते है वे 'अपरिवर्तमान परिणाम' कहे जाते है ।

24. जिन पणिामों में स्थित होकर तथा परिणामान्तर को प्राप्त हो पुन: एक दो आदि समयों द्वारा उन्हीं परिणामों में आगमन सम्भव होता है उन्हें 'परिवर्तमान परिणाम' कहते हैं । उनसे आयु का बन्ध होता है ।

25. परिणाम तीन प्रकार के होते हैं - उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ।

26. अति जघन्य परिणाम आयु बन्ध के अयोग्य हैं । अत्यन्त महान परिणाम भी आयुबन्ध के अयोग्य है क्योंकि ऐसा स्वभाव है, किन्तु उन दोनों के मध्य में अवस्थित परिणाम परिवर्तमान मध्यम परिणाम कहलाते हैं । उनमें जघन्य परिणामों में से तत्प्रायोज्य विशेष कारणों द्वारा जिसने अपर्याप्त सम्बन्धी तिर्यंच आयु को बांधा है उसके आयु का जघन्य अनुभाग होता है तथा जिसके उक्त अनुभाग सत्व होता है उसके भी आयु का जघन्य अनुभाग बंध होता है ।

27. **शंका - इसे अनुभाग काण्डक घात क्यों नहीं कहते ?**
समाधान - प्रारम्भ किये गये प्रश्न समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा जो घात उत्पन्न होता है वह अनुभागकाण्डक भाग है, परन्तु उत्कीरण काल के बिना प्रवर्तना में नियम से अनन्त बहु भाग नष्ट होता है, परन्तु अनुभाग काण्डक घात में यह नियम नहीं है, क्योंकि छह प्रकार की हानि द्वारा काण्डक घात की उपलब्धि होती है ।

विशेषार्थ - अनुभाग काण्डक घात और अनुसमयापवर्तना इन दोनों में क्या अन्तर है ? इस पर प्रकाश डाला गया है । काण्डक पोर को कहते हैं । कुल अनुभाग के हिस्से करके एक-एक हिस्से का फालिक्रम से अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अभाव करना अनुभाग काण्डक घात कहलाता है और प्रतिसमय कुल अनुभाग के अनन्त अनुभाग का अभाव करना अनुसमयापवर्तना कहलाती है । मुख्य रूप से यही इन दोनों में अन्तर है । *(ध. पु. 12, पृ. 32)*

28. यदि वीर्यान्तराय कर्म सर्वघातिरूप से केवल ज्ञानावरण और केवल दर्शनावरण के समान होता तो इन तीनों में समानता अनिवार्य थी । परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि, वीर्यान्तराय का सर्वत्र क्षयोपशम पाया जाता है । अतएव चूंकि वीर्यान्तराय कर्म देशघाती लक्षण वाला है इस कारण वह एरण्डदण्ड के समान निःसार होने से बहुत घाता जाता है, किन्तु केवल ज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण सर्वघाती है अतः वे वज्रशैल के समान निविडरूप से बन्ध को प्राप्त होने के कारण नहीं घाते जाते है इसलिये अन्तराय कर्म के जघन्य अनुभाग की अपेक्षा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के जघन्य अनुभाग का अनन्तगुणा होना उचित ही है । *(ध. पु. 12, पृ. 34)*

29. यशः कीर्ति और उच्चगोत्र की अपेक्षा सातावेदनीय अतिशय शुभ है । यह शुभ कर्म समान ही हो, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अन्यत्र तरतम भाव से शुभपना उपलब्ध होता है । यशः कीर्ति और उच्च गोत्र के शुभ होने से उनके कारण भूत कर्म की शुभ है । परन्तु सातावेदनीय यतः अतिशय सुख को उत्पन्न करता है अतएव वह शुभतम है । इसी कारण वह उन दोनों की अपेक्षा अनन्तगुणा है यह कहा गया है । *(ध. पु. 12, पृ. 46)*

30. यशकीर्ति और उच्च गोत्र से उससे कार्मण शरीर अनन्तगुणा हीन है । *(ध. पु. 12, पृ. 46)*

31. उससे तैजस शरीर अनन्तगुणा हीन है । *(ध. पु. 12, पृ. 46)*

32. उससे आहारक शरीर अनन्तगुणा हीन है । *(ध. पु. 12, पृ. 47)*

33. उससे वैक्रियक शरीर अनन्तगुणा हीन है । आहारक शरीर में जितनी प्रशस्ता है उसकी अपेक्षा इसमें वह कम है, यही प्रकृति विशेषता है । *(ध. पु. 12, पृ. 47)*

34. **शंका - आहारक शरीर की अपेक्षा वैक्रियक शरीर अप्रशस्त है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?**

समाधान - क्योंकि, जिस प्रकार आहारक शरीर का बन्ध संयत जीवों के ही होता है उस प्रकार वैक्रियक शरीर का बन्ध मात्र संयतो के नहीं उपलब्ध होता । इसी से उसकी अप्रशस्तता जानी जाती है । *(ध. पु. 12, पृ. 48)*

35. उससे औदारिक शरीर अनन्त गुणा हीन है । *(ध. पु. 12, पृ. 48)*

36. मनुष्यगति प्रकृति जीवविपाकी है और औदारिक शरीर पुद्गलविपाकी है । *(ध. पु. 12, पृ. 48)*

46. अप्रत्याख्यानावरणीय संयमासंयम का घातक है परन्तु, प्रत्याख्यानावरणीय संयम का विघातक है इससे अप्रत्याख्यानावरण की अपेक्षा प्रत्याख्यानावरण की महत्ता जानी जाती है । *(ध. पु. 12, पृ. 53)*

47. **शंका - वह अरतिपूर्वक कैसे होता है ?**
समाधान - अरति के बिना शोक नहीं उत्पन्न होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 57)*

48. भय के उदयकाल की अपेक्षा शोक का उदय काल बहुत पाया जाता है *(ध. पु. 12, पृ. 57)*

49. **शंका - शोक उत्कृष्ट से छह मास पर्यन्त ही होता है, परन्तु भय का काल नारकियों में तैतीस सागरोपम प्रमाण है, अतएव शोक की अपेक्षा भय अनन्तगुणा क्यों नहीं होता ?**
समाधान - नारकियों में भय का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही उपलब्ध होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 57)*

50. ऐसा स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के प्रश्न के योग्य नहीं होता । *(ध. पु. 12, पृ. 58)*

51. उनसे नरक गति अनन्तगुणी हीन है । वह नारक पर्याय को उत्पन्न करने वाली है ।

52. उससे तिर्यग्गति अनन्तगुणी हीन है । क्योंकि उसमें नरक गति के समान तैतीस सागरोपम काल तक फल उत्पन्न कराने की शक्ति नहीं है, अथवा वह नरक गति के समान दु:ख की कारण नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 58)*

53. उससे स्त्रीवेद अनन्तगुणा हीन है । क्योंकि वह अरति गर्भित कण्डे की आग के समान दु:खोत्पादक है । *(ध. पु. 12, पृ. 58)*

54. उससे पुरुषवेद अनन्तगुणा हीन है । क्योंकि वह तृणाग्नि के समान थोड़े दु:ख को उत्पन्न करने वाला है । *(ध. पु. 12, पृ. 58)*

55. उससे रति अनन्तगुणी हीन है । वह माया, लोभ और तीन वेद पूर्वक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 59)*

56. उससे हास्य अनन्तगुणा हीन है । वह रतिपूर्वक होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 59)*

57. उससे देवायु अनन्तगुणी हीन है । वह देवायु की अपेक्षा अप्रशस्त है *(ध. पु. 12, पृ. 59)*

58. उससे मनुष्यायु अनन्तगुणी हीन है । नारकायु के समान मनुष्यायु का बहुत समय तक उदय नहीं पाया जाता । *(ध. पु. 12, पृ. 59)*

59. **शंका - चूंकि नारकायु की अपेक्षा मनुष्यायु प्रशस्त है, अत: वह उससे अनन्तगुणी क्यों नहीं होती ?**
समाधान - क्योंकि यहां प्रशस्ता से उत्पन्न अनुभाग की अपेक्षा बहुतकम समय तक रहने वाले उदय निमित्तिक अनुभाग की प्रधानता है । *(ध. पु. 12, पृ. 59)*

60. उससे तिर्यगायु अनन्तगुणी हीन है । मनुष्यायु की अपेक्षा तिर्यगायु के अप्रशस्तता देखी जाती है । इस प्रकार उत्कृष्ट चौंसठ पदवाला महादण्डक समाप्त हुआ । *(ध. पु. 12, पृ. 59)*

61. प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध पूर्व में देशघाती हो जाता है उनका अनुभाग स्तोक होता है तथा अनुभाग बन्ध पीछे देशघाती होता है उनका अनुभाग बहुत होता है इसी से वह जाना जाता है। *(ध. पु. 12, पृ. 67)*

62. गुण शब्द का अर्थ गुणाकार है । तथा उसकी श्रेणि आवलि या पंक्ति का नाम गुण श्रेणी है। दर्शन मोह का उपशम करने वाले जीव का प्रथम समय में निर्जरा को प्राप्त होने वाला द्रव्य स्तोक हैं । उससे द्वितीय समय में निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे तीसरे समय में निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा है । **उससे तीसरे समय में निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य असंख्यात गुणा है** । इस प्रकार दर्शन मोह उपशामक के अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए । यह गुणकार पंक्ति गुणश्रेणि है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । तथा गुण श्रेणि का गुण अर्थात् गुणश्रेणिगुणाकार कहलाता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है इसका भावार्थ यह है - सम्यक्त्व की उत्पत्ति में जो गुणश्रेणिगुणाक़ार सर्वोत्कृष्ट है वह भी आगे कहे जाने वाले गुणकार की अपेक्षा स्तोक है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है *(ध. पु. 12, पृ. 80)*

63. संयतासंयत की गुणश्रेणिनिर्जरा का जो जघन्य गुणकार है वह पूर्व के उत्कृष्ट गुणकार की अपेक्षा असंख्यातगुणा है । *(ध. पु. 12, पृ. 80)*

64. यह सब जगह 'गुणश्रेणिगुणकार' एंसा कहने पर गलमान प्रदेशों का गुणश्रेणिकार और निसिंचमान प्रदेशों का गुणश्रेणिगुणकार ग्रहण करना चाहिए । *(ध. पु. 12, पृ. 82)*

65. अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओजयुग्म प्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनसंस्थान प्ररूपणा, समय प्ररूपणा, वृद्धि प्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्व ।

(1) अविभागप्रतिच्छेद प्ररूपणा किसलिये की है? एक एक अनुभाग बन्ध स्थान में इतने अविभाग प्रतिच्छेद होते है, यह बतलाने के लिए उक्त प्ररूपणा की गई है । *(ध. पु. 12, पृ. 88)*

(2) स्थान प्ररूपणा किसलिये की है ? सभी अनुभाग बन्ध इतने ही होते है, यह बतलाने के लिए उक्त प्ररूपणा की गई है । *(ध. पु. 12, पृ. 88)*

(3) अन्तर प्ररूपणा किसलिए की गई है ? एक-एक स्थान का संख्यात, असंख्यात व अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों के द्वारा अन्तर नहीं होता, किन्तु सब जीवों से अनन्तगुणे अविभाग प्रतिच्छेदों से अन्तर को प्राप्त होकर दूसरा स्थान उत्पन्न होता है यह जतलाने के लिए अन्तर प्ररूपणा की गई है । *(ध. पु. 12, पृ. 89)*

(4) काण्डक प्ररूपणा किसलिए आयी है ? अंगुल के असंख्यात मात्र एक काण्डक होता है । पुन: एक काण्डक के प्रमाण से अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और अनन्त गुण वृद्धि, इन वृद्धियों को करके देखने पर वे निरग्र होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 89)*

(5) ओज युग्म प्ररूपणा किसलिए आयी है ? सब अनुभाग स्थान, सब अविभाग प्रतिच्छेद वर्गणायें, स्पर्धक और काण्डक कृतयुग्म ही होते है, यह जतलाने के लिए उक्त प्ररूपणा की गई है । *(ध. पु. 12, पृ. 89)*

(6) षट्स्थान प्ररूपणा किसलिए आयी है ? अनन्तभागवृद्धि के स्थान में वृद्धि का भागहार सर्व जीव राशि है, असंख्यात भागवृद्धि के स्थानों में वृद्धि का भागाहार असंख्यात लोक है संख्यातभाग वृद्धि के स्थानों में वृद्धि का भागाहार उत्कृष्ट है असंख्यातगुण वृद्धि के स्थानों में वृद्धि का गुणकार असंख्यात लोक हैं तथा अनन्तगुण वृद्धि के स्थानों में वृद्धि का गुणकार सर्वजीव राशि है यह बतलाने के लिए षट्स्थान प्ररूपणा आई है । *(ध. पु. 12, पृ. 89)*

(7) अधस्तनस्थान प्ररूपणा किसलिए आयी है ? काण्डक प्रमाण अनन्तभाग वृद्धियाँ होने पर असंख्यातभाग वृद्धि होती है, काण्डक प्रमाण असंख्यात भाग वृद्धियाँ होने पर असंख्यात भाग वृद्धि होती है, काण्डक प्रमाण संख्यातभाग वृद्धियाँ होने पर संख्यात गुण वृद्धि होती है, काण्डक प्रमाण संख्यात गुण वृद्धियाँ होने पर असंख्यात गुणवृद्धि होती है, तथा काण्डक प्रमाण असंख्यात गुण वृद्धियाँ होने पर अनन्तगुण वृद्धि होती है यह दिखलाने के लिए उक्त प्ररूपणा आयी है । *(ध. पु. 12, पृ. 90)*

(8) वृद्धि प्ररूपणा किसलिए आयी है ? अनुभागबन्ध स्थानों में अनन्त भाग वृद्धि और अनन्तभाग हानि से लेकर वृद्धियाँ या हानियाँ छह ही होती है, इतना बन्ध काल जघन्य व उत्कृष्ट रूप से इतना है यह जतलाने के लिए वृद्धि प्ररूपणा आयी है *(ध. पु. 12, पृ. 90)*

(9) समय प्ररूपणा किसलिए आई है ? ये अनुभाग बन्ध स्थान जघन्य रूप से इतने काल तक बँधते है और उत्कृष्ट रूप से इतने काल तक बँधते है, यह जतलाने के लिए समय प्ररूपणा आयी है । *(ध. पु. 12, पृ. 90)*

(10) यवमध्य प्ररूपणा किसलिए आयी है ? अनन्तगुणवृद्धि में कालयवमध्य का प्रारम्भ होकर वह अनन्तगुण हानि में समाप्त होता है । यह बतलाने के लिए यवमध्य प्ररूपणा आयी है । *(ध. पु. 12, पृ. 90)*

(11) पर्यवसान प्ररूपणा किसलिए आई है ? सब समय स्थानों का पर्यवसान अनन्तगुणित के ऊपर अनन्तगुणा होगा तब पर्यवसान होता है, यह सब बतलाने के लिए पर्यवसान प्ररूपणा आई है । *(ध. पु. 12, पृ. 90)*

(12) अल्पबहुत्व किसलिए आया है ? एक षटस्थान में अनन्तगुणवृद्धि आदि स्थानों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करन के लिए आया है । *(ध. पु. 12, पृ. 90)*

66. **शंका - अनुभाग किसे कहते है ?**

समाधान - आठों कर्मों और जीव प्रदेशों के परस्पर में अन्वय (एकरूपता) के कारणभूत परिणाम को अनुभाग कहते है । *(ध. पु. 12, पृ. 91)*

67. **शंका - प्रकृति अनुभाग क्यों नहीं होती है ?**
समाधान - प्रकृति योग के निमित्त से उत्पन्न होती है, अतएव उसकी कषाय से उत्पत्ति होने में विरोध आता है । भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले कार्यों में एक रूपता नहीं हो सकती, क्योंकि इसका निषेध है । दूसरे अनुभाग की वृद्धि प्रकृति की वृद्धि में निमित्त होती है । क्योंकि उसके महान होने पर प्रकृति के कार्य रूप अज्ञानादिकी वृद्धि देखी जाती है । इस कारण प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती, ऐसा यहाँ जानना चाहिए । *(ध. पु. 12, पृ. 92)*

68. **शंका - नहीं छिदने योग्य परमाणु का छेद कैसे किया जा सकताहै ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसका केवल द्रव्य ही अच्छेद्य है, गुण नहीं ऐसा स्वीकार किया गया है । *(ध. पु. 12, पृ. 93)*

69. द्रव्य की अपेक्षा वृद्धि व हानि के अभाव का आश्रय लेकर उसका परमाणुपना स्वीकार किया गया है । *(ध. पु. 12, पृ. 93)*

70. वर्गो के समूह का नाम वर्गणा है और उन्हीं के असमूह का नाम वर्ग है । वर्गणा एक होती है, परन्तु वर्ग अनन्त होते है । इस कारण वे दोनों एक ही नहीं हो सकते । *(ध. पु. 12, पृ. 94)*

71. एक परमाणु को ग्रहण कर बुद्धि से छेद करने पर सब जीवों से अनन्तगुणे मात्र आविभाग प्रतिच्छेदों के द्वारा अन्तर करके द्वितीय स्पर्द्धक का अन्य वर्ग उत्पन्न होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 98)*

72. एक जीव में एक समय में जो कर्मानुभाग दिखता है उसे स्थान कहते हैं । वह दो प्रकार का है । अनुभागबन्ध स्थान और अनुभाग सत्वस्थान । उनमें से जो बन्ध से उत्पन्न होता है वह बन्ध स्थान कहलाता है। पूर्वबद्ध अनुभाग का घात किये जाने पर जो बन्ध अनुभाग के सदृश होकर पड़ता है वह भी बन्धस्थान ही है क्योंकि, उसके सदृश अनुभाग बन्ध पाया जाता है । घाता जाने वाला जो अनुभागस्थान बन्धानुभाग के सदृश नहीं होता है किन्तु बन्ध सदृश अष्टाक और उर्वक के मध्य में अधस्तन उर्वक से अनन्तगुणा और उपरिम अष्टांक से अनन्तगुणा हीन होकर स्थित रहता है वह अनुभाग सत्कर्म स्थान है । *(ध. पु. 12, पृ. 111)*

73. **शंका - स्थानान्तरण किसे कहते है ?**
समाधान - उपरिम स्थानों में से अधस्तन स्थान को घटाकर एक कम करने पर जो प्राप्त हो वह स्थानों का अन्तर कहा जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 114)*

74. वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का संयोग और अयोग केवलियों में उत्कृष्ट अनुभाग ही होता है। *(ध. पु. 12, पृ. 115)*

75. **शंका - अष्टाक किसे कहते है ?**
समाधान - अधस्तन उर्वक को सब जीवराशि से गुणित करने पर जो प्राप्त हो उतने मात्र से जो अधस्तन उर्वक से अधिक स्थान है उसे अष्टांक कहते है । अधस्तन उर्वक को एक अधिक सब जीवराशि से गुणित करने से अष्टांक उत्पन्न होता है, यह उसका अभिप्राय है । *(ध. पु. 12, पृ. 131)*

76. **शंका - अनुपात किसे कहतेहै ?**
समाधान - त्रैराशिक को अनुपात कहते है । *(ध. पु. 12, पृ. 196)*

77. नैगम व्यवहार और संगहनय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना प्राणातिपात प्रत्यय से होती है । प्राणातिपात का अर्थ प्राणों से प्राणियों का वियोग करता है । *(ध. पु. 12, पृ. 275)*

78. उक्त प्राणातिपात प्रत्यय के होने पर ज्ञानावरणीय वेदना होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 276)*

79. मृषावाद प्रत्यय से ज्ञानावरणीय वेदना होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 279)*

80. अदत्तादान प्रत्यय से ज्ञानावरणीय वेदना होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 281)*

81. मैथुन प्रत्यय से ज्ञानावरणीय वेदना होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 282)*

82. परिग्रह प्रत्यय से ज्ञानावरणीय वेदना होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 282)*

83. रात्रिभोजन प्रत्यय से ज्ञानावरणीय वेदना होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 282)*

84. इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप, मोह और प्रेम प्रत्ययों से ज्ञानावरणीय वेदना होती है । (ध. पु. 12, पृ. 283)

85. देहदाह, अंगकम्प, नेत्ररक्तता और इन्द्रियों की अपटुता आदि के निमित्त जीव के परिणाम को क्रोध कहा जाता है । विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या इनके निमित्त से उत्पन्न उद्धतता रूप जीव का परिणाम मन कहलाता है अपने हृदय के विचार को छुपाने की जो चेष्टा की जाती है उसे माया कहते है । बाह्य पदार्थों में जो यह मेरा है इस प्रकार अनुराग रूप बुद्धि होती है उसे लोभ कहा जाता है । तथा माया, लोभ, तीन वेद, हास्य और रति इनका नाम राग है । क्रोध, मान, अरति, लोभ, जुगुप्सा और भय इनको द्वेप कहा जाता है । क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, और जुगुप्सा स्त्री वेद, पुरुप वेद नपुंसक वेद और मिथ्यात्व इनके समूह का नाम मोह है । *(ध. पु. 12, पृ. 283)*

86. प्रियता का नाम प्रेम है । इनमें से प्रत्येक में प्रत्यय शब्द को जोड़ना चाहिए - क्रोध, प्रत्यय, मानप्रत्यय, मायाप्रत्यय, लोभप्रत्यय, राग प्रत्यय, द्वेप प्रत्यय, मोह प्रत्यय और प्रेम प्रत्यय इनके द्वारा ज्ञानावरणीय की वेदना उत्पन्न होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 284)*

87. चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, श्रेष्ठी और सेनापति आदि पदों की प्रार्थना अर्थात् अभिलाषा करना निदान है । वह प्रमादमूलक अथवा मिथ्यात्व का अविनाभावी होने से प्रत्यय है । उससे ज्ञानावरणीय की वेदना उत्पन्न होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 284)*

88. अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपाधि, निकृति, मान, माया, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग इन प्रत्ययों से ज्ञानावरणीय वेदना होती है । क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के कारण दूसरों में अविद्यमान दोषों को प्रगट करना अभ्याख्यान कहा जाता है । क्रोधादि के वश होकर तलवार, लाठी और असभ्य वचनादि के द्वारा दूसरों को असंतोष उत्पन्न करना, कलह कहलाता है । क्रोधादि के कारण दूसरों के दोषों को प्रगट करना पैशून्य है । नाती पुत्र एवं स्त्री

आदि को में रमण करने का नाम रति है । इसकी प्रतिपक्षभूत अरति कही जाती है। 'उपेत्य क्रोधादयो धीयन्त अस्मिन् इति उपाधि:' अर्थात् आकार के क्रोधादिक जहाँ पर पुष्ट होते है, उसका नाम उपाधि है । इस निरुक्ति के अनुसार क्रोधादि परिणामों की उत्पत्ति में निमित्त भूत बाह्य पदार्थ को उपाधि कहा गया है । इस निरुक्ति के अनुसार क्रोधादि परिणामों की उत्पत्ति में निमित्त भूत पदार्थ को उपाधि कहा गया है वह भी ज्ञानावरणीय के बन्ध का कारण है, क्योंकि, उसके बिना कषाय रूप परिणाम का अभाव होने से बन्ध नहीं हो सकता । निकृति का अर्थ धोखा देना है, अभिप्राय यह है कि नकली मणि, सुवर्ण, चाँदी देकर द्रव्यान्तर को प्राप्त करना निकृति कही जाती है । हीनता व अधिकता को प्राप्त प्रस्थ (एक प्रकार का माप) आदि मान कहलाते है । वे भी कूट अर्थात् असत्य व्यवहार के कारण होने से ज्ञानावरणीय के प्रत्यय है । मापने के योग्य जौ और गेहूँ आदि मेय कहे जाते है वे भी ज्ञानावरणीय के प्रत्यय है क्योंकि वे मापने वाले के असत्य व्यवहार के कारण है । *(ध. पु. 12, पृ. 285)*

89. संग्रह नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना जीव के होती है । जो जिसके फल का अनुभव करता है वह उसका स्वामी होता है, यह व्यवहार सकलजनों में प्रसिद्ध है । परन्तु कर्म के फल को कर्म ही तो भोगते नहीं है, क्योंकि अपने आप में क्रिया का विरोध है तथा अचेतन होने से भी ज्ञानदर्शन से रहित पुद्गल स्कन्धों में ज्ञनावरणीय के व्यापार की विफलता का प्रसंग होने से भी उसकी वेदना नो जीव के नहीं होती, किन्तु जीव के ही होती है । दूसरी बात यह है कि जीव द्रव्य से भिन्न नो जीव है ही नहीं, क्योंकि जीव के साथ एकता को प्राप्त पुद्गल स्कन्ध के नो जीव होने का विरोध है । यह कथन शुद्ध संग्रह नय की अपेक्षा है, क्योंकि जीवों की और उनके साथ नो जीवों की एकता स्वीकार की गई है । *(ध. पु. 12, पृ. 299)*

90. जिसका वर्तमान में अनुभव किया जाता है या भविष्य में किया जावगा, वह वेदना है । *(ध. पु. 12, पृ. 302)*

91. अनुभव करने का नाम वेदना है वेदना की वेदना वेदना वेदना है, अर्थात् आठ प्रकार के कर्म पुद्गल स्कन्धों के अनुभव करने का नाम वेदनावेदना है । *(ध. पु. 12, पृ. 302)*

92. 'विधीयते क्रियते प्ररूप्यते इति विधानम्' अर्थात् जो किया जाये या जिसकी प्ररूपणा की जाये वह विधान है । *(ध. पु. 12, पृ. 302)*

93. 'प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलम नया आत्मन् ! इति प्रकृति:' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादिरूप फल किया जाता है वह प्रकृति है । *(ध. पु. 12, पृ. 303)*

94. मन, वचन एवं काय सम्बन्धी क्रिया की उत्पत्ति में जो जीव का उपयोग होता है वह योग है और वह कर्म बन्ध का कारण है । परन्तु वह थोड़े से जीव प्रदेशों में नहीं हो सकता, क्योंकि एक जीव में प्रवृत्त हुए उक्त योग की थोड़े से ही अवयवों में प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है, अथवा एक जीव में उसके खण्ड-खण्ड रूप से प्रवृत्त होने में विरोध आता है । इसलिए स्थिति जीव प्रदेशों में कर्म बन्ध होता है यह जाना जाता है । दूसरे योग से जीव प्रदेशों में नियम

से परिस्पन्द होता है ऐसा नहीं है क्योंकि योग से अनियम से उसकी उत्पत्ति होती है तथा एकान्तत: नियम नहीं है, ऐसी भी बात नही है क्योंकि यदि जीव प्रदेशों में परिस्पन्द उत्पन्न होता है तो वह योग से ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम पाया जाता है इस कारण स्थित जीव प्रदेशों में भी योग के न होने से कर्मबन्ध को स्वीकार करना चाहिए । *(ध. पु. 12, पृ. 367)*

95. इसी प्रकार शेष सात कर्मों के विषय में जानना चाहिए । जिस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के परम्पराबन्ध, अनन्तर बन्ध और तदुभय बन्ध की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार शेष सात कर्मों के उन बन्धों की प्ररूपणा करनी चाहिए । *(ध. पु. 12, पृ. 372)*

96. संग्रह नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना अनन्तर बन्ध है । इस सूत्र केअर्थ की प्ररूपणा करते समय पहिले के समान दो प्रकार से अर्थ का कथन करना चाहिए । *(ध. पु. 12, पृ. 372)*

97. वह परम्पराबन्ध भी है । यहां भी पहिले के समान दो प्रकार से अर्थ की प्ररूपणा करनी चाहिए । वह तदुभव बन्ध नहीं है, क्योंकि इन दोनों में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 373)*

98. ज्ञानावरणीय वेदना अनन्तरबन्ध नहीं है, परम्पराबन्ध ही है, क्योंकि उदय में उसे हुये कर्मस्कन्धों से ही अज्ञानभाव पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 373)*

99. **शंका - द्वितीय अर्थ का अवलम्बन करने पर यहाँ कैसे प्ररूपणा की जाती है ?**
समाधान - इस शंका का उत्तर कहते है, द्वितीय अर्थ का अवलम्बन करने पर भी ज्ञानावरणीय वेदना परम्पराबन्ध ही है, क्योंकि जीव के द्वारा ही कर्मस्कन्धों का बन्ध पाया जाता है। *(ध. पु. 12, पृ. 373)*

100. **शंका - जीव का आलम्बन लिये बिना भी कर्म स्कन्धों का परस्पर बन्ध पाया जाता है?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उस परस्पर बन्ध की भी उत्पत्ति जीव से ही देखी जाती है । *(ध. पु. 12, पृ. 373)*

101. जो वह वेदनासंनिकर्ष है वह दो प्रकार का है - स्वस्थानवेदना सनिकर्ष और परस्थानवेदना संनिकर्ष । किसी विवक्षित एक कर्म का जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव विषयक संनिकर्ष होता है वह स्वस्थानसंनिकर्ष कहा जाता है और आठों कर्मों विषयक संनिकर्ष परस्थान संनिकर्ष कहलाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 375)*

102. **शंका - संनिकर्ष किसे कहते है ?**
समाधान - जघन्य व उत्कृष्ट भेदरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावों में किसी एक को विवक्षित करके उसमें शेष पद क्या उत्कृष्ट है, क्या अनुत्कृष्ट है, क्या जघन्य है और क्या अजघन्य है, इस प्रकार की जो परीक्षा की जाती है उसे संनिकर्ष कहते है । इस प्रकार से सनिकर्ष दो प्रकार का ही है । *(ध. पु. 12, पृ. 375)*

103. जो वह स्वस्थानवेदना संनिकर्ष है वह दो प्रकार का है जघन्य स्वस्थानवेदनासंनिकर्ष और उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनासंनिकर्ष । इस प्रकार से स्वस्थानवेदना संनिकर्ष दो प्रकार का ही है, क्योंकि जघन्य और उत्कृष्ट के सिवा तीसरा कोई भेद नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 376)*

104. उत्कृष्ट संनिकर्ष के परिज्ञात हो जाने पर उससे उत्पन्न होने के कारण जघन्य संनिकर्ष का ज्ञान सुखपूर्वक हो जाता है, ऐसा मन में निश्चित करके उत्कृष्ट स्वस्थान संनिकर्ष को स्थगित नहीं किया गया है अथवा पश्चादानुपूर्वी की विवक्षा होने से उत्कृष्ट स्वस्थान वेदना संनिकर्ष को स्थगित नहीं किया जाता । *(ध. पु. 12, पृ. 376)*

105. जो वह उत्कृष्ट स्वस्थानवेदा संनिकर्ष है वह चार प्रकार का है । द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से । इस प्रकार उत्कृष्ट संनिकर्ष चार प्रकार का ही है, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पृथग्भूत उत्कृष्ट संनिकर्ष यहां वेदना में नहीं पाया जाता । *(ध. पु. 12, पृ. 377)*

106. वह नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यातगुणी हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 377)*

107. मुक्त मारणान्तिक जीव के न तो उत्कृष्ट संक्लेश होता है और न वह उत्कृष्ट योग ही होता है अतएव वह उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी नहीं हो सकता । *(ध. पु. 12, पृ. 378)*

108. वह असंख्यात गुणी हीन है। इसी सूत्र से जाना जाता है'। *(ध. पु. 12, पृ. 378)*

109. यदि उक्त नारक जीव के समय में उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश होता है तो काल की अपेक्षा भी ज्ञानावरणीय वेदना उत्कृष्ट होती है क्योंकि उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थिति को छोड़कर अन्य स्थितियों का बन्ध नहीं होता है और यदि अंतिम समय में उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश नहीं होता है तो ज्ञानावरणीय वेदना काल की अपेक्षा नियमत: अनुत्कृष्टता को प्राप्त होती है क्योंकि अन्तिम समय में उत्कृष्ट स्थिति बन्द का अभाव है । उत्कृष्ट की अपेक्षा वह अनुत्कृष्ट क्या विशेष हीन होती है या संख्यातगुणी हीन होती है, ऐसा पूछने पर उसके निर्णय के लिए आगे का सूत्र कहते है । *(ध. पु. 12, पृ. 378)*

110. उत्कृष्ट भी होती है अनुत्कृष्ट भी । यदि द्विचरम समयवर्ती नारकी जीव उत्कृष्ट संक्लेश के द्वारा और उत्कृष्ट विशेष प्रत्यय के द्वारा उत्कृष्ट अनुभाग को बांधता है तो उसके भाव वेदना उत्कृष्ट होती है, यह उक्त सूत्र का अभिप्राय है उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट भाव 6 प्रकार की हानियों में से किस हानि में होता है, ऐसा पूछने पर उसका निर्णय करने के लिए आगे का सूत्र कहते है । *(ध. पु. 12, पृ. 379)*

111. वह उत्कृष्टकी अपेक्षा अनुत्कृष्ट वेदना पट्स्थानपतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 379)*

112. जिस जीव के ज्ञानावरणीय की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके वह द्रव्य की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है अथवा अनुत्कृष्ट ? यह पृच्छा सूत्र सुगम है । *(ध. पु. 12, पृ. 381)*

113. वह नियम से अनुत्कृष्ट होती है । वह उत्कृष्ट नहीं होती है, क्योंकि उत्कृष्ट अवगाहना वाले महामत्स्य के साढे सात राजु प्रमाण आयाम से सातवी पृथिवी के प्रति मारणान्तिक समुद्घात के करने पर वहाँ गुणित उत्कृष्ट संक्लेश का अभाव होने से उत्कृष्ट द्रव्य का सद्भाव मानने में विरोध है । और सातवीं पृथिवी में स्थित नारकी के चरम समय में गुणित भाव के कारण भूत उत्कृष्ट योग व संक्लेश से जो उत्कृष्ट द्रव्य होता है वह महामत्स्य के सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसा होने में विरोध आता है । कारण के बिना कहीं भी कार्य उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि

वैसा होने पर अति प्रसंग दोष आता है । इसी कारण द्रव्य वेदना अनुत्कृष्ट होती है ऐसा कहा गया है । *(ध. पु. 12, पृ. 382)*

114. जो एक जीव क्षपित कर्मांशिक स्वरूप से आकार के विपरीत गमन के योग्य निर्विकल्पकाल के शेष रहने पर विपरीत गमन करके महामत्स्यों में उत्पन्न होकर उत्कृष्ट क्षेत्र को करके स्थित है उसके उक्त जघन्य द्रव्य होता है ।

इसके नीचे यह द्रव्य हीन नहीं होता क्योंकि वह उत्कृष्ट द्रव्य की अपेक्षा निर्विकल्प असंख्यातगुणी हीनता को प्राप्त होकर स्थित है । जिस-जिस सूत्र में 'द्रव्य चतुस्थानपतित है' ऐसा कहा गया है उस सूत्र में यहाँ कहे गये इस रूप का निश्चय करके प्ररूपणा करनी चाहिए ।

(ध. पु. 12, पृ. 384)

115. यदि उत्कृष्ट क्षेत्र को स्थित करके महामत्स्य उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त होता है तो ज्ञानावरणीय की वेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट ही होती है, क्योंकि अन्तिम स्थिति के योग्य परिणामों को पल्योपम के असंख्यातवें भाग से खण्डित करने पर उनमें अन्तिम खण्ड सम्बन्धी परिणामों के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति को छोड़कर अन्य स्थिति का बन्ध नहीं होता और यदि वह अन्तिम खण्ड सम्बन्धी परिणामों को छोड़कर अन्य परिणामों के द्वारा स्थिति को बांधता है तो उक्त वेदना काल की अपेक्षा अनुत्कृष्ट होती है, क्योंकि उन परिणामों के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति ही बंधती है, ऐसा नियम नहीं है । वह उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट असंख्यातभागहीन, संख्यातभाग हीन या संख्यात गुण हीन, इन तीन स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 384)*

116. उक्त उत्कृष्ट क्षेत्र के स्वामी महामत्स्य के द्वारा उत्कृष्ट विशेष प्रत्यय रूप उत्कृष्ट संक्लेश से यदि उत्कृष्ट अनुभाग बांधा गया है तो क्षेत्र के साथ भाव भी उत्कृष्ट हो सकता है । इससे भिन्न उत्कृष्ट क्षेत्र के स्वामी जीव का भाव अनुत्कृष्ट ही होता है, क्योंकि उसके उत्कृष्ट विशेष प्रत्यय का अभाव है । *(ध. पु. 12, पृ. 386)*

117. वह उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट छह स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 386)*

118. जो गुणित कर्मांशिक स्वरूप सेआया है और जिसने द्रव्य को उत्कृष्ट किया है उस अन्तिम समयवर्ती नारक जीव के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति के बांधे जाने पर उत्कृष्ट काल वेदना के साथ द्रव्य भी उत्कृष्ट होता है तथा उत्कृष्ट काल के साथ एक आदिक परमाणु से हीन उत्कृष्ट द्रव्य के पर द्रव्य वेदना अनुत्कृष्ट होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 387)*

119. अब सर्वजघन्य रूप की प्ररूपणा करते है - वह इस प्रकार है - क्षपित कर्मांशिक स्वरूप से आकार के पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण सम्यक्त्व कांडों को व संयमासंयम काण्डकों को व अनंतानुबंधी विसयोजन काण्ड को करके पूर्वकोटि प्रमाण आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ । वहाँ गर्भ से लेकर आठ वर्ष को लेकर संयम को प्राप्त हुआ । पश्चात् कुछ कम पूर्वकोटि काल तक संयमगुण श्रेणि निर्जरा को करते हुए उसके संसार के अंतर्मुहूर्त शेष रहने पर मिथ्यात्व

को प्राप्त होकर ज्ञानावरणीय का उत्कृष्ट स्थिति बंध हुआ । उसके काल वेदना उत्कृष्ट होती है परन्तु द्रव्यवेदना विकल्प रहित असंख्यात गुणी हीन होती है । विशेष इतना है कि सम्यक्त्वकाण्डक और संयमासंयम काण्डक कुछ कम होते है, ऐसा कहना चाहिए क्योंकि, इसके बिना मिथ्यात्व को प्राप्त होना सम्भव नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 389)*

120. वह उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी । उत्कृष्ट क्षेत्र के स्वामी महामत्स्य के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति के बंध जाने पर काल के साथ क्षेत्र भी उत्कृष्ट है । उत्कृष्ट क्षेत्र को न करके उत्कृष्ट स्थिति के बांधे जाने पर क्षेत्र वेदना अनुत्कृष्ट होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 389)*

121. **शंका - उसके उक्तवेदना भाव की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ?**
समाधान - वह उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी । यदि उत्कृष्ट स्थिति के साथ विशेष प्रत्यय रूप उत्कृष्ट संक्लेश के द्वारा उत्कृष्ट अनुभाग बांधा गया है तो काल वेदना के साथ भाव भी उत्कृष्ट होता है और उत्कृष्ट विशेष प्रत्यय के अभाव में भाव अनुत्कृष्ट ही होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 390)*

122. द्विचरम और त्रिचरम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक यदि पूर्व में ही उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर नारकभव के अन्तिम समय में द्रव्य को उत्कृष्ट कर चुका है तो भाव के साथ द्रव्य भी उत्कृष्ट होता है और यदि भाव के उत्कृष्ट हो पर भी द्रव्य उत्कृष्टता को प्राप्त नहीं होताहै तो द्रव्य वेदना अनुत्कृष्ट ही होती है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए । *(ध. पु. 12, पृ. 391)*

123. यदि उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर महात्मत्स्य के द्वारा उत्कृष्ट क्षेत्र किया गया है तो भाव के साथ क्षेत्र भी उत्कृष्ट होता है । अथवा यदि उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर क्षेत्र को उत्कृष्ट नहीं करता तो भाव के विविक्षित होने पर क्षेत्र अनुत्कृष्ट होता है ऐसा ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 12, पृ. 392)*

124. **शंका - एकेन्द्रियों में उत्कृष्ट भाव का पाया जाना कैसे सम्भव है ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि, जो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर उसके घात के बिना एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त होते है उनके जघन्य क्षेत्र के साथ उत्कृष्ट भाव पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 392)*

125. यदि उत्कृष्ट अनुभाग सत्व के साथ उत्कृष्ट स्थिति बांधी गई है तो भाव के साथ काल भी उत्कृष्ट होता है । परन्तु यदि उत्कृष्ट अनुभाग के होने पर भी उत्कृष्ट स्थिति को ही बांधता है तो उत्कृष्ट भाव के विवक्षित होने पर काल अनुत्कृष्ट होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 393)*

126. उत्कृष्ट अनुभाग के साथ उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर प्रतिभग्न हुए जीव के अध:स्थिति के गलने से उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा एक समय हीन आदि स्थिति विकल्प पाये जाते है । और अध: स्थिति के गलने से अनुभाग का घात कुछ कम होता नहीं है, क्योंकि समान घन वाले परमाणु वहाँ पाये जाते है । यदि कहा जाये कि उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होने के द्वितीय समय में ही घात हो जाता है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि

प्रतिभग्न होने के प्रथम समय से लेकर जब तक अन्तर्मुहूर्त काल नहीं बीत जाता है तब तक अनुभाग-काण्डकघात सम्भव नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 393)*

127. उत्कृष्ट अनुभाग के साथ उत्कृष्ट स्थिति को बाँधकर प्रतिभग्न होने के प्रथम समय में वर्तमान जीव के भाव के उत्कृष्ट होने पर काल असंख्यातवें भाग से हीन होता है । क्योंकि अध: स्थिति के द्वारा एक समय गल चुका है । प्रतिभग्न होने के द्वितीय समय में भी असंख्यात भाग हानि ही होती है क्योंकि, अध:स्थिति में दो समय गल चुके है । इस प्रकार से स्थिति काण्डक के प्रथम समय के प्राप्त होने तक स्थिति में असंख्यात भाग हानि होती है । तत्पश्चात् स्थितिकाण्डक उत्कीरण काल के प्रथम समय के गलने पर भी असंख्यात भाग हानि ही होती है । उत्कीरण काल के द्वितीय समय के गलने पर भी असंख्यात भाग हानि ही होती है । इस प्रकार से तब तक असंख्यात भाग हानि होती जब तक स्थिति काण्डक उत्कीरण काल का द्विचरम समय गलता है । परन्तु अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है, क्योंकि, उससे घात की सम्भावना नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 399)*

128. स्थिति घात के होने पर सब आयुओं का स्थितिघात होता है । स्थितिघात के बिना भी आयु को छोड़कर शेष कर्मों के अनुभाग का घात होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 394)*

129. स्थितिघात के होने पर सब आयुओं का स्थितिघात होता है आयु को छोड़कर शेष कर्मों का अनुभाग घात होता है । (ध. पु. 12, पृ. 394)

130. इसी प्रकार दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के विषय में प्ररूपणा करनी चाहिए । *(ध. पु. 12, पृ. 395)*

131. जिस जीव के वेदनीय कर्म की वेदना द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके क्षेत्र की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यात गुणी हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 496)*

132. काल की अपेक्षा उक्त वेदना उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी *(ध. पु. 12, पृ. 496)*

133. वह उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट एक समय कम है । *(ध. पु. 12, पृ. 397)*

134. भाव की अपेक्षा वह नियमत: अनुत्कृष्ट चार स्थानों में अनन्त गुणहीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 397)*

135. जिस जीव के वेदनीय की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 397)*

136. नारक भव के अन्तिम समय में वर्तमान गुणित कर्मांशिक जीव में उत्कृष्ट स्वरूप से अवस्थित वेदनीय कर्म की द्रव्य वेदना के लोकपूरण अवस्था में रहने वाले संयोग केवली में होने का विरोध है । *(ध. पु. 12, पृ. 397)*

137. काल की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यातगुणी हीन होती है *(ध. पु. 12, पृ. 398)*

138. भाव की अपेक्षा वह भाव वेदना उत्कृष्ट होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 398)*

139. अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्मसांपरायिक जीवों के विसदृश परिमामों का अभाव है । इसके अतिरिक्त विशेष प्रत्यय भेद भी यहाँ नहीं है, क्योंकि उक्त सभी जीवों में एक उत्कृष्ट प्रत्यय की ही सम्भावना पायी जाती है । यदि कहा जाय कि योग के भेद से अनुभाग का भेद होना चाहिए, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि, योग की वृद्धि व हानि से अनुभाग की वृद्धि व हानि सम्भव नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 399)*

140. लोक पूरण अवस्था में भाव वेदना उत्कृष्ट ही होती है क्योंकि, ऐसा मानने के बिना सूत्र के अप्रमाण ठहरने का प्रसंग आता है परन्तु सूत्र अप्रमाण होता नहीं है, क्योंकि अप्रमाण होने पर उसके सूत्र होने का विरोध है । कहा भी है - भली भाँति अर्थ का सूचक होने से अथवा अर्थ का जनक होने से बहुत अर्थ का बोधक वाक्य सूत्रकार आचार्य के द्वारा यथार्थ में सूत्र कहा गया है । *(ध. पु. 12, पृ. 399)*

141. जो युक्ति सूत्र के विरुद्ध हो वह वास्तव में युक्ति ही सम्भव नहीं है । इसके अतिरिक्त अप्रमाण के द्वारा प्रमाण को बाधा भी नहीं पहुँचायी जा सकती है क्योंकि वैसा होने में विरोधहै । *(ध. पु. 12, पृ. 400)*

142. जिसके वेदनीय की वेदना काल अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह उत्कृष्ट भी होती और अनुत्कृष्ट भी । *(ध. पु. 12, पृ. 401)*

143. उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट पाँच स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 401)*

144. उसके क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यात गुणी हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 401)*

145. भाव की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट अनन्तगुणी हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 402)*

146. जिसके वेदनीय वेदना भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 403)*

147. क्षेत्र की अपेक्षा वह उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी । *(ध. पु. 12, पृ. 403)*

148. उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट असंख्यातभाग हीन और असंख्यात गुणहीन इन दो स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 404)*

149. काल की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यातगुणी हीन होती है। *(ध. पु. 12, पृ. 404)*

150. इसी प्रकार नाम और गोत्र कर्मों के विषय में भी उक्त प्ररुपणा करनी चाहिये । *(ध. पु. 12, पृ. 404)*

151. जीव के आयु कर्म की वेदना द्रव्य से उत्कृष्ट होती है उसके क्षेत्र से वह नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यातगुणी हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 405)*

152. लोक पूरण समुद्घात को प्राप्त संयोग केवली के जो उत्कृष्ट क्षेत्र होता है वह उत्कृष्ट द्रव्य के स्वामी जलचर जीव में नहीं पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 405)*

153. उक्त वेदना काल की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यात गुणी हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 405)*

154. **शंका - जो जलचर जीव उत्कृष्ट द्रव्य के स्वामी है उनमें उत्कृष्ट स्थिति का बंध क्यों नहीं होता ?**
समाधान - क्योंकि पूर्व कोटि के त्रिभाग प्रमाण आयु की आबाधा को करके तैतीस सागरोपम प्रमाण आयु को बांधने वाले जीवों में उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पाया जाता है । परन्तु यहाँ तैतीस सागरोपमों का बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर अत्यंत संक्लेश से भुज्यमान आयु कर्म के बहुत से स्कन्धों से गलने का प्रसंग आता है । इस कारण उत्कृष्ट द्रव्य के स्वामी जलचर जीवों में आयु का बन्ध अनुत्कृष्ट ही होता है । अनुत्कृष्ट होकर भी वह पूर्व कोटि मात्र भी होता है क्योंकि नीचे के आयु विकल्पों के बाँधने पर आयुबन्धक काल के स्तोक होने का प्रसंग आता है । *(ध. पु. 12, पृ. 405)*

155. भाव की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यात गुणी हीन होती है *(ध. पु. 12, पृ. 406)*

156. **शंका - यहाँ उत्कृष्ट भाव वेदना क्यों नहीं होती ?**
समाधान - अप्रमत्त संयत के द्वारा बाँधी गई देवायु में उत्पन्न उत्कृष्ट अनुभाग के तिर्यंच आयु में रहने का विरोध है । *(ध. पु. 12, पृ. 406)*

157. **शंका - उत्कृष्ट भाव की अपेक्षा जलचर सम्बन्धी आयु का भाव अनन्त गुण हीन है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?**
समाधान - यह तिर्यंच आयु के अनुभाग से देवायु का अनुभाग अनन्त गुणा है 'इस चौसठ पद वाले अल्प बहुत्व से जाना जाता है ।' *(ध. पु. 12, पृ. 406)*

158. जिस जीव के आयु की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट संख्यातगुण हीन व असंख्यात गुण हीन इन दो स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 407)*

159. **शंका - द्रव्य वेदना उत्कृष्ट क्यों नहीं होती है ?**
समाधान - क्योंकि उत्कृष्ट योग से विशेषता को प्राप्त हुए दो आयु बंधक कालों के द्वारा जो उत्कृष्ट द्रव्य जलचर जीवों में संचय को प्राप्त है । उसकी तीन लोकों में फैलकर स्थित हुए केवली में सम्भावना नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 407)*

160. **शंका - यह संख्यातगुणा हीन कैसे है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट योग के द्वारा उत्कृष्ट बन्धककाल में मनुष्यायु को बाँधकर मनुष्यों में उत्पन्न हो गर्भ से लेकर आठ वर्षों में संयम को ग्रहणकर सर्व लघु अन्तर्मुहूर्त काल में केवलज्ञान को उत्पन्न कर लोक को पूर्ण करके स्थित हुए केवली में जो द्रव्य होता है वह संख्यात गुणा हीन पाया जाता है । दो बन्धक कालों द्वारा संचय को प्राप्त हुए उत्कृष्ट द्रव्य की अपेक्षा यह एक बन्धक काल द्वारा संचित द्रव्य कुछ कम अर्ध प्रमाण होकर मनुष्यों में संख्यात बहुभाग के गल जाने से संख्यातगुणा हीन होता है, यह उसका अभिप्राय है । *(ध. पु. 12, पृ. 407)*

161. काल की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यातगुणी होती है । चूंकि लोक पूरण समुद्घात में आयु की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है, अतएव काल वेदना उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा असंख्यात गुणीहीन है, यह सिद्ध है । *(ध. पु. 12, पृ. 408)*

162. भाव की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट अनन्तगुणी हीन होती है । यह कारण है कि मनुष्यायु के उत्कृष्ट अनुभाग की अपेक्षा अप्रमत्तसंयत के द्वारा बाँधी गई देवायु का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 408)*

163. जिसके आयु की वेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट संख्यातगुणहीन व असंख्यातगुणहीन इन दो स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 409)*

164. **शंका - ऊपर उत्कृष्ट स्थिति क्यों नहीं होती ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि ऊपर अध:स्थिति के गलने से प्रत्येक समय में गलने वाली उसके उत्कृष्ट होने का विरोध है । *(ध. पु. 12, पृ. 409)*

165. क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यातगुणी हीन होती है *(ध. पु. 12, पृ. 410)*

166. भाव की अपेक्षा वह नियम से अनुत्कृष्ट अनन्तगुणी हीन होती है । कारण यह है कि आयु की उत्कृष्ट काल वेदना आयु बन्ध के प्रथम समय में वर्तमान प्रमत्त संयत जीव के होती है । परन्तु उसकी उत्कृष्ट भाव वेदना आयु बन्धक काल के अंतिम समय में वर्तमान व प्रमत्त संयत की विशुद्धि से अनन्तगुणे विशुद्धि परिणाम वाले अप्रमत्त संयत जीव के होती है । इसी कारण से अपेक्षा ज्ञानावरणीय कर्म के जघन्य द्रव्य के व साढ़े तीन रत्ति प्रमाण शरीरोत्सेध संयुक्त अन्तिम समयवर्ती क्षीण कषाय जीव की धनांगुल के संख्यातवे भाग मात्र जघन्य अवगाहना भी असंख्यात गुणी पायी जाती है । *(ध. पु. 12, पृ. 415)*

167. काल की अपेक्षा वह जघन्य होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 415)*

168. भाव की अपेक्षा वह जघन्य होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 415)*

169. वह नियम से अजघन्य असंख्यात भाग अधिक, संख्यात भाग अधिक, संख्यातगुण अधिक और असंख्यात गुण अधिक इन चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 416)*

170. काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 417)*

171. भाव की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 416)*

172. क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 419)*

173. भाव की अपेक्षा उसके उक्त वेदना जघन्य होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 420)*

174. जिसके ज्ञानावरणीय की वेदना भाव की अपेक्षा वह उसके जघन्य भी होती है और अजघन्य भी,जघन्य की अपेक्षा अजघन्य पाँच स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 420)*

175. उसके क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 421)*

176. काल की अपेक्षा वह उसके जघन्य होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 421)*

177. इसी प्रकार दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के जघन्य वेदना सनिकर्ष की प्ररूपणा करनी चाहिए । *(ध. पु. 12, पृ. 421)*

178. जिसके वेदनीय कर्म की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है उसके वह क्या क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 422)*

179. काल की अपेक्षा वह जघन्य होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 422)*

180. भाव की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी । जघन्य अपेक्षा अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 422)*

181. जिसके वेदनीय की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 423)*

182. काल की अपेक्षा वह नियम से असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 424)*

183. जिस जीव के वेदनीय की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य होती है उसके क्या वह द्रव्य की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी । जघन्य की अपेक्षा अजघन्य पाँच स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 424)*

184. क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 424)*

185. भाव की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी । जघन्य की अपेक्षा अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 425)*

186. जिस जीव के वेदनीय की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी, जघन्य की अपेक्षा अजघन्य पाँच स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 426)*

187. क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 427)*

188. काल की अपेक्षा वह जघन्य होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 427)*

189. जिस जीव के आयु की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है । उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से असंख्यात गुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 428)*

190. काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 428)*

191. भाव की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 428)*

192. जिस जीव की आयु वेदना क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य होती है । उसके द्रव्य की अपेक्षा यह नियम से जघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 429)*

193. उसके काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 429)*

194. भाव की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी । जघन्य की अपेक्षा अजघन्य छह स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 430)*

195. जिस जीव के आयु की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह क्या उसके नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 430)*

196. क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 431)*

197. भाव की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 431)*

198. जिस जीव के आयु की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है । उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 432)*

199. क्षेत्र की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी । जघन्य की अपेक्षा जघन्य चार स्थानों में पतित है ।

200. काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 433)*

201. काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 433)*

202. जिस जीव के नाम कर्म की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है उसके क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंखयातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 433)*

203. काल की अपेक्षा वह जघन्य होतो है । *(ध. पु. 12, पृ. 434)*

204. भाव की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है।*(ध. पु. 12, पृ. 434)*

205. जिसके नाम कर्म की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 434)*

206. काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 435)*

207. भाव की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी । जघन्य की अपेक्षा अजघन्य छह स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 435)*

208. जिस जीव के नाम कर्म की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी, जघन्य की अपेक्षा अजघन्य पाँच स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 436)*

209. उसके क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 437)*

210. भाव की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 437)*

211. जिस जीव के नाम कर्म की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 438)*

212. क्षेत्र की अपेक्षा वह जघन्य भी होती है और अजघन्य भी, अजघन्य की अपेक्षा अजघन्य चार स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 438)*

213. काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 439)*

214. जिस जीव के गोत्र की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है उसके क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 439)*

215. काल की अपेक्षा वह जघन्य होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 439)*

216. भाव की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 440)*

217. जिस जीव के क्षेत्र की अपेक्षा गोत्र की वेदना जघन्य होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 440)*

218. काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 440)*

219. भाव की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 441)*

220. जिस जीव के गोत्र की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य होती है उसके वह क्या द्रव्य की अपेक्षा वह जघन्य होती है और अजघन्य भी । जघन्य की अपेक्षा अजघन्य पाँच स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 442)*

221. क्षेत्र की अपेक्षा वह पहले नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है। *(ध. पु. 12, पृ. 442)*

222. भाव की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 442)*

223. जिस जीव के गोत्र की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है उसके द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 443)*

224. क्षेत्र की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है । कारण कि त्रिसमयवर्ती आहारक और तद्भवस्थ होने के तृतीय समय में वर्तमान सूक्ष्म निगोद जीव की जघन्य अवगाहना की अपेक्षा भाव के स्वामिभूत बादर तेजकायिक व बादर वायुकायिक पर्याप्त की अवगाहना असंख्यातगुणी देखी जाती है, बादर जीव की अवगाहना सूक्ष्म जीव की अवगाहना के बराबर या उससे हीन नहीं होती है, किन्तु वह असंख्यातगुणी होती है *(ध. पु. 12, पृ. 444)*

225. काल की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यातगुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 444)*

226. जो वह पर स्थान वेदना सन्निकर्ष है वह दो प्रकार का है - 1. जघन्य परस्थान वेदना सन्निकर्ष और 2. उत्कृष्ट परस्थान वेदना सन्निकर्ष । *(ध. पु. 12, पृ. 444)*

227. उत्कृष्ट परस्थान वेदना सन्निकर्ष द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार का है ।

228. जिस जीव के ज्ञानावरणीय की वेदना द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों की वेदना द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी, उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट दो स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 445)*

229. दो स्थान पतित - अनन्त भाग हीन अथवा असंख्यात भाग हीन । *(ध. पु. 12, पृ. 446)*

शंका - अधिक हीन क्यों नहीं होता ?

समाधान - नहीं, क्योंकि गुणित कर्मांशिक जीव में उत्कृष्ट रूप से यदि क्षय होता है तो एक समय प्रबद्ध का ही क्षय होता है ऐसा गुरु उपदेश है इस कारण गुणित कर्मांशिक जीव में दो ही हानियाँ होती है यह सिद्ध होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 446 व 447)*

230. **शंका - उसके आयु कर्म की वेदना द्रव्य की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट?**

समाधान - कारण यह है कि गुणित कर्मांशिक चरम समयवर्ती नारकी का आयु द्रव्य एक समय प्रबद्ध के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है क्योंकि डेढ़ गुणहानियों से गुणित अन्योन्याभ्यस्त राशि द्वारा बन्धक काल प्रमाण समय प्रबद्धो के अपवर्तित करने पर एक समय प्रबद्ध का असंख्यातवाँ भाग पाया जाता है परन्तु आयु कर्म का उत्कृष्ट द्रव्य दो उत्कृष्ट बन्धक काल प्रमाण समय प्रबद्धों के बराबर है इसलिये अपने उत्कृष्ट द्रव्य की अपेक्षा गुणित कर्मांशिक जीव के आयु द्रव्य की वेदना असंख्यात गुणी हीन होती है । यद्यपि परभव सम्बन्धी आयु कर्म के द्रव्य में से असंख्यात गुण हानियाँ नहीं गलती है तो भी ज्ञानावरणादिक सात कर्म युक्त गुणित कर्मांशिक जीव में आयु का द्रव्य असंख्यात गुणा हीन ही होता है क्योंकि जब-जब आयु कर्म को बांधता है तब-तब तत्प्रायोग्य जघन्य योग से बांधता है, ऐसा सूत्र वाचन है । *(ध. पु. 12, पृ. 447)*

231. इसी प्रकार सेआयु को छोड़कर, ज्ञानावरणीय की प्ररूपणा के समान शेष छह कर्मों की प्ररूपणा है। *(ध. पु. 12, पृ. 447)*

232. जिस जीव के आयु कर्म की वेदना द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके सात कर्मों की वेदना द्रव्य की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट चार स्थानों में पतित होती है ।*(ध. पु. 12, पृ. 448)*

233. वह असंख्यात भागहीन-संख्यात भाग हीन-संख्यात गुणहीन अथवा असंख्यात गुणहीन होती है। *(ध. पु. 12, पृ. 449)*

234. जिस जीव के ज्ञानावरणीय की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 449)*

235. उसके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट असंख्यात गुणहीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 450)*

236. जिस प्रकार से ज्ञानावरणीय की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार शेष तीन घातिया कर्मों की प्ररूपणा करनी चाहिये । *(ध. पु. 12, पृ. 450)*

237. जिस जीव के वेदनीय की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होतीं है उसके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट नहीं होती है ।

238. उसके आयु, नाम और गोत्र की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है *(ध.पु. 12, पृ.451)*

239. इसी प्रकार आयु, नाम और गोत्र की विवक्षा में भी प्ररूपणा करनी चाहिये *(ध. पु. 12, पृ. 451)*

240. जिसके ज्ञानावरणीय की वेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों की वेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी, उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट असंख्यात भागहीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 451)*

241. उसके आयु की वेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी, उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट चार स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 452)*

शंका - ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट स्थिति योग्य परिणामों के द्वारा आयु कर्म का चतुस्थानपतित बन्ध कैसे होता है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट स्थिति के बन्धयोग्य परिणामों में भी अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु स्थिति के बन्ध योग्य परिणाम सम्भव है *(ध. पु. 12, पृ. 453)*

शंका - एक परिणाम भिन्न कार्यों का करने वाला कैसे होता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि सहकारी कारणों के सम्बन्ध भेद से उसके भिन्न कार्यों के करने में कोई विरोध नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 453)*

242. जिस प्रकार ज्ञानावरणीय की विवक्षा में शेष कर्मों के सन्निकर्ष की विवक्षा की गई है उसी प्रकार आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों के सन्निकर्ष की प्ररूपणा करनी चाहिये, अन्य कोई विशेषता नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 453)*

243. जिस जीव के आयु की वेदना की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है, उसके सात कर्मों की वेदना काल की अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी । उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट तीन स्थानों में पतित है । अर्थात् उक्त वेदना असंख्यात भाग हीन, संख्यात भाग हीन, संख्यात भाग हीन अथवा संख्यात गुण हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 454)*

244. जिस जीव के ज्ञानावरणीय की वेदना भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है, उसके दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म की वेदना भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी । उत्कृष्ट से अनुत्कृष्ट छह स्थानों में पतित है । *(ध. पु. 12, पृ. 455)*

245. उसके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट अनन्त गुणी हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 455)*

246. जिस प्रकार ज्ञानावरणीय का सन्निकर्ष किया गया है उसी प्रकार शेष तीन घातिया कर्मों का सन्निकर्ष करना चाहिये, क्योंकि उसमें कोई विशेषता नहीं है ।

247. जिस जीव के वेदनीय की वेदना भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय की वेदना भाव की अपेक्षा कथंचित होती है व कथंचित नहीं होती । *(ध. पु. 12, पृ. 456)*

248. यदि है तो वह भाव की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट अनन्तगुणी हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 457)*

249. उक्त जीव के मोहनीय की वेदना भाव की अपेक्षा नहीं होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 457)*

250. उसके आयु कर्म की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट होकर अनन्त गुणी हीन होती है । इसका कारण यह है कि आयु की उत्कृष्ट भाव वेदना अप्रमत्त संयत के द्वारा बांधी गई देवायु में होती । परन्तु क्षपक श्रेणि में देवायु है नहीं, क्योंकि बद्धायुष्क जीवों का क्षपक श्रेणि पर चढ़ना सम्भव नहीं है । क्षपक श्रेणी में मनुष्यायु अवश्य है परन्तु उसका अनुभाग उत्कृष्ट नहीं होता, क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि के द्वारा बाँधी गई मनुष्यायु चूंकि देवायु की अपेक्षा अप्रशस्त है अतएव उसके उत्कृष्ट होने का विरोध है इसी कारण वह अनन्त गुणी हीन है । *(ध. पु. 12, पृ. 459)*

251. उसके नाम व गोत्र कर्म की वेदना भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 459)*

252. जिस प्रकार से वेदनीय का सन्निकर्ष किया गया है उसी प्रकार से नाम व गोत्र कर्म के भी सन्निकर्ष की प्ररूपणा करनी चाहिये क्योंकि, उसमें कोई विशेषता नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 459)*

253. जिस जीव के आयु की वेदना भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके सात कर्मों की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अनुत्कृष्ट अनन्त गुण हीन होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 459)*

कारण कि अप्रमत्त संयत से लेकर आगे के संयत जीवों में प्रमत्त संयतों में और वैमानिक देवों में आयु का उत्कृष्ट अनुभाग पाया जाता है । परन्तु इन जीवों में घातिया कर्मो का उत्कृष्ट अनुभाग नहीं है, क्योंकि विशुद्धि द्वार घात को प्राप्त होकर अनन्त गुणी हीनता को प्राप्त हुए उनके उत्कृष्ट होने का विरोध है । तीन अघाति कर्मों का भी उनमें उत्कृष्ट अनुभाग सम्भव नही है क्योंकि वह क्षीण कषाय आदि जीवों में ही सम्भव है । परन्तु क्षीण कषाय आदि जीवों में आयु का उत्कृष्ट भाव सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रेणि में देवायु के सत्त्व का अभाव है । इस कारण क्षपक उक्त सात कर्मों की भाववेदना की अनन्त गुणहीनता सिद्ध है, इस प्रकार उत्कृष्ट परस्थान वेदना सन्निकर्ष समाप्त हुए । *(ध. पु. 12, पृ. 460)*

254. जो जघन्य परस्थान सन्निकर्ष स्थगित किया गया था वह द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है ।

255. जिस जीव के ज्ञानावरणीय की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है उसके दर्शनावरणीय और अन्तराय की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य भी होती है और अजघन्य भी, जघन्य से अजघन्य दो स्थानों में पतित होती है । वह अजघन्य वेदना अनन्तभाग अधिक और असंख्यात भाग अधिक होती है ।

शंका - आगे की वृद्धियाँ यहाँ क्यों नहीं कही गई है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि क्षपित कर्मांशिक के यदि बहुत अधिक द्रव्य की वृद्धि होती है तो वह एक समय प्रबद्ध प्रमाण ही होती है । ऐसा गुरु का उपदेश है *(ध. पु. 12, पृ. 461)*

शंका - क्षपित धोलमान जीव का आश्रय करके वृद्धि क्यौं नहीं कराई ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है । क्योंकि उसके ज्ञानावरणीय के जघन्य द्रव्य का अभाव होने से प्रकृत प्ररूपणा के विरुद्ध होने का प्रसंग आता है । *(ध. पु. 12, पृ. 462)*

256. उसके वेदनीय, नाम और गोत्र की वेदना द्रव्य की अपेक्षा नियम से अजघन्य असंख्यातवे भाग अधिक होती है । कारण कि संयोग केवली के द्वारा (कुछ कम) पूर्व कोटि मात्र काल में असंख्यात गुण श्रेणी से निर्जीर्ण किये जाने वाले द्रव्य का पूर्णतया विनाश नहीं हुआ है । *(ध. पु. 12, पृ. 462)*

257. उसके मोहनीय की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य नहीं होती है । कारण कि वह पहले ही सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान के अन्तिम समय में नष्ट हो चुका है । *(ध. पु. 12, पृ. 462)*

258. उसके आयु की वेदना द्रव्य की अपेक्षा से नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है। नारकी जीव के 38 सागरोपम काल के भीतर असंख्यात गुणहानियों को गलाकर दीप शिखा के आकार से जो द्रव्य स्थित है वह एक समय प्रबद्ध के असंख्यातवें भाग मात्र जघन्य वेदना स्वरूप है । परन्तु यहाँ पूर्वकोटि काल के भीतर एक भी गुण हानि नहीं है क्योंकि वहाँ गुणहानि का असंख्यातवाँ भाग ही है । इसलिये आयु के जघन्य द्रव्य से क्षीण कषाय का अन्तिम समय सम्बन्धी द्रव्य असंख्यात गुणा है यह सिद्ध है । *(ध. पु. 12, पृ. 463)*

259. जिस प्रकार से ज्ञानावरणीय का सन्निकर्ष किया गया उसी प्रकार इन दोनों दर्शनावरणीय व अन्तराय कर्मों के सन्निकर्ष का कथन करना चाहिये, क्योंकि इसमें कोई विशेषता नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 463)*

260. जिस जीव के वेदनीय की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है उसके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य नहीं होती, कारण कि उक्त कर्मों की वेदना छद्मस्थ अवस्था में ही नष्ट हो चुकी है । *(ध. पु. 12, पृ. 463)*

261. उसके आयु की वेदना द्रव्य की अपेक्षा वह नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 463)*

262. उसके नाम और गोत्र की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य भी होती है और अजघन्य भी । जघन्य से अजघन्य दो स्थानों में पतित होती हैं । अर्थात् वह अनन्त भाग अधिक व असंख्यात भाग अधिक भी होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 464)*

263. जिस प्रकार वेदनीय का सन्निकर्ष किया गया है उसी प्रकार नाम और गोत्र के सन्निकर्ष की प्ररूपणा करना चाहिए इसमें अन्य कोई विशेषता नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 464)*

264. जिसके मोहनीय की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है उसके आयु को छोड़ शेष छह कर्मों की वेदना द्रव्य की अपेक्षा नियम से अजघन्य असंख्यातवें भाग अधिक होती है । कारण कि वह आगे नष्ट किये जाने वाले द्रव्य से अधिक है उस अधिक द्रव्य का प्रतिभाग पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है । *(ध. पु. 12, पृ. 464)*

265. उसके आयु की वेदना द्रव्य की अपेक्षा नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 465)*

266. जिस जीव के आयु की वेदना द्रव्य की अपेक्षा जघन्य होती है उसके सात कर्मों की वेदना द्रव्य की अपेक्षा नियम से अजघन्य चार स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 466)*

267. जिस जीव के ज्ञानावरणीय की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा से जघन्य होती है उसके सात कर्मों की वेदना क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य होती है । कारण यह है कि जघन्य अवगाहना में स्थित ज्ञानावरणीय के स्कन्धों से जीव द्वारा सात कर्मों के स्कन्धों में कोई भेद नहीं है । इसी प्रकार शेष सात कर्मों की प्ररूपणा करनी चाहिये । *(ध. पु. 12, पृ. 469)*

268. जिस जीव के ज्ञानावरणीय की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य होती है उसके दर्शनावरणीय और अन्तराय की वेदना काल की अपेक्षा वह जघन्य होती है । कारण यह है कि ज्ञानावरणीय के जघन्य द्रव्य के स्कन्धों की तथा इन दो कर्मों की जघन्य द्रव्य के स्कन्धों की भी एक समय स्थिति देखी जाती है । *(ध. पु. 12, पृ. 469)*

269. उसके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र की वेदना काल की अपेक्षा नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 469)*

उसके मोहनीय की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य नहीं होती । *(ध. पु. 12, पृ. 470)*

270. ज्ञानावरणीय के सन्निकर्ष की भांति इन दो कर्मों (दर्शनावरण और अन्तराय) की सन्निकर्ष करना चाहिये।

271. जिस जीव के वेदनीय की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य होती है उसके चार घाति कर्मों की वेदना काल की अपेक्षा से जघन्य नहीं होती । कारण कि उसकी वेदना छद्मस्थ काल में नष्ट हो चुकी है । *(ध. पु. 12, पृ. 471)*

272. उसके आयु, नाम और गोत्र की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य होती है कारण कि अयोग केवली के अन्तिम समय में उक्त तीन वेदनाओं की एक समय स्थिति देखी जाती है । *(ध. पु. 12, पृ. 471)*

273. जिस प्रकार वेदनीय का सन्निकर्ष किया जाता है उसी प्रकार से आयु, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की प्ररूपणा करनी चाहिये । *(ध. पु. 12, पृ. 471)*

274. जिस जीव के मोहनीय की वेदना काल की अपेक्षा जघन्य होती है उसके सात कर्मों की वेदना काल की अपेक्षा नियम से अजघन्य असंख्यात गुणी अधिक होती है *(ध. पु. 12, पृ. 471)*

275. जिस जीव के ज्ञानावरणीय की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है उसके दर्शनावरणीय और अन्तराय की वेदना भाव के अपेक्षा जघन्य होती है, कारण कि वह क्षपक परिणामों के द्वारा सर्वोत्कृष्ट घात को प्राप्त होकर क्षीण कषाय गुणस्थान के अन्तिम समय में स्थित है । *(ध. पु. 12, पृ. 472)*

276. उसकेवेदनीय, नाम और गोत्र की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 472)*

277. उसके मोहनीय की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य नहीं होती, कारण कि वहाँ उसके प्रदेशों के सत्व का अभाव है । *(ध. पु. 12, पृ. 473)*

278. जिस प्रकार से ज्ञानावरणीय कर्म का सन्निकर्ष किया गया है उसी प्रकार से इन दो (दर्शनावरणीय और अन्तराय) प्रकृतियों के भी सन्निकर्ष की प्ररूपणा करनी चाहिये *(ध. पु. 12, पृ. 473)*

279. जिस जीव के वेदनीय कर्म की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है उसके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय की वेदना भाव की अपेक्षा से जघन्य नहीं होती, कारण कि अयोग केवली के अन्तिम समय में इन कर्मों के प्रदेशों के सत्त्व का अभाव है । *(ध. पु. 12, पृ. 473)*

280. उसके आयु, नाम और गोत्र की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है । कारण यह है कि यशकीर्ति और उच्च गोत्र का अन्तिम समयवर्ती सूक्ष्म साम्परायिक के द्वारा बांधा गया उत्कृष्ट अनुभाग अयोग केवली के अन्तिम समय में अपने-अपने जघन्य अनुभाग की अपेक्षा अनन्त गुणा पाया जाता है तथा अपर्याप्त सहित तिर्यञ्च आयु के अनुभाग की अपेक्षा प्रशस्त व घात से रहित होने के कारण मनुष्यायु का भी अनुभाग अनन्त गुणा पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 473)*

281. जिस जीव के मोहनीय की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है उसके सात कर्मों की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अजघन्य अनन्त गुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 473)*

282. जिस जीव के आयु कर्म की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है उसके नाम कर्म को छोड़कर शेष छह कर्मों की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अजघन्य अनन्तगुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 474)*

283. उसके नाम कर्म की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य भी होती है और अजघन्य भी होती है, जघन्य की अपेक्षा अजघन्य छह स्थानों में पतित होती है । आयु के जघन्य अनुभाग को बांधकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवों में उत्पन्न होकर हत समुत्पत्ति करके यदि नाम कर्म का अनुभाग जघन्य कर लिया है तो आयु के अनुभाग के साथ नाम कर्म का अनुभाग जघन्य होता है इससे विपरीत अवस्था में वह अजघन्य होकर छह स्थान पतित होता है । *(ध. पु. 12, पृ. 475)*

284. जिस जीव के नाम कर्म की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है । उसके आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अजघन्य अनन्त गुणी अधिक होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 475)*

285. उसके आयु की वेदना जघन्य भी होती है और अजघन्य भी होती है, जघन्य की अपेक्षा अजघन्य छह स्थानों में पतित होती है । *(ध. पु. 12, पृ. 476)*

286. जिस जीव के गोत्र की वेदना भाव की अपेक्षा जघन्य होती है उसके सात कर्मों की वेदना भाव की अपेक्षा नियम से अजघन्य अनन्त गुणी अधिक होती है । इसका कारण यह है कि जिन्होंने गोत्र की उद्वेलना की है तथा नीच गोत्र के अनुभाग को जघन्य किया है ऐसे सर्व विशुद्ध बादर तेज कायिक एवं वायुकायिक जीवों में शेष सब कर्मों का अनुभाग अनन्त गुणा पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 476)*

287. सूक्ष्म निगोद जीव का जो जघन्य लब्ध्यक्षर रूप एक ज्ञान है वह निरावरण है क्योंकि अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान सदा प्रगट रहता है ऐसा आगम वचन है । अथवा ज्ञान के अभाव में चूंकि जीव के अभाव का भी प्रसंग आता है अतएव अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान सदा प्रगट रहता है यह स्वीकार करना चाहिये । *(ध. पु. 12, पृ. 479)*

शंका - असाता वेदनीय के बन्ध व्युच्छित्ति काल में बांधे गये व असाता वेदनीय स्वरूप से परिणत हुए साता वेदनीय को ग्रहण कर तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण समय प्रबद्धार्थता क्यों नहीं कहते ?

समाधान - क्योंकि साता वेदनीय के स्वरूप से बांधे गये परन्तु संक्रमण वश असाता वेदनीय के स्वरूप से परिणत हुए कर्म स्कन्धों के असाता वेदनीय के समय प्रबद्ध होने का विरोध है, कारण कि अकर्म स्वरूप से संस्थित पुद्गल यदि असाता वेदनीय कर्म के स्वरूप से परिणत होते हैं तो वे असाता वेदनीय के समय प्रबद्ध कहे जाते हैं । इसलिये संक्रमण वश आये हुए कर्म पुद्गल स्कन्धों की समय प्रबद्ध संज्ञा नहीं हो सकती यह सिद्ध है । वैसा ग्रहण करने पर सातावेदनीय के भीएक आवली से रहित तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण समय प्रबद्धार्थता का प्रसंग आता है क्योंकि बंधावली से रहित असाता वेदनीय की स्थिति का साता वेदनीय के स्वरूप से परिणत होकर सातावेदनीय के स्वरूप से ही बन्धावली से हीन कर्म स्थिति मात्र काल तक अवस्थान देखा जाता है परन्तु साता वेदनीय के इतने समय प्रबद्ध नहीं है क्योंकि सूत्र में उसके पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम मात्र समय प्रबद्धो का उपदेश है यदि कहा जाय कि असाता वेदनीय साता वेदनीय के स्वरूप से संक्रमण को प्राप्त होता है अत: उस कर्म की पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही स्थिति हो सकती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि काण्डक घात के बिना कर्म स्थिति का घात सम्भव नहीं है । इसी प्रकार साता वेदनीय के सम्बन्ध में भी प्ररूपणा करनी चाहिये, क्योंकि उसमें कोई विशेषता नहीं है । *(ध. पु. 12, पृ. 489)*

शंका - आयु के संक्षेपाद्धा से हीन पूर्व कोटि के त्रिभाग प्रमाण अथवा कदली घात का आश्रय करके अन्तर्मुहूर्त से हीन पूर्व कोटि प्रमाण समय प्रबद्धार्थता क्यों नहीं कही गई?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार साता वेदनीय आदि कर्मों का एक समय अबन्धक होकर द्वितीय समय में ही बन्धक हो जाता है इस प्रकार आयु का बन्धक नहीं होता, किन्तु शेष आयु के दो त्रिभाग बिताकर ही बन्धक होता है । यह बतलाने के लिये अन्तर्मुहूर्त का ग्रहण किया है । *(ध. पु. 12, पृ. 492)*

288. तीर्थ विहार का काल जघन्य स्वरूप से वर्ष पृथक्त्व मात्र पाया जाता है । *(ध. पु. 12, पृ. 494)*

289. प्रतास - जहाँ समीप में रह जाता है वह प्रत्यास कहा जाता है ।

क्षेत्र प्रत्यास - क्षेत्र रूप प्रत्यास क्षेत्र प्रत्यास कहा है । जीव के द्वारा अवष्टब्ध (अवलम्बित) क्षेत्र की क्षेत्र प्रत्यास संज्ञा है । *(ध. पु. 12, पृ. 497)*

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 13.

1. **निक्षेप** - जो किसी एक निश्चय पहुँचाता है उसे निक्षेप कहते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 3)*

2. **क्षेत्र** - 'क्षि' धातु का अर्थ निवास करना है, जिसमें पुद्गल आदि द्रव्य प्रवेश करते हैं उसे क्षेत्र कहते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 6)*

3. जो वह नाम स्पर्श है वह एक जीव, एक अजीव, नाना जीव, नाना अजीव, एक जीव, एक अजीव, नाना जीव और नाना अजीव, नाना जीव एक अजीव, नाना जीव और नाना अजीव इनमें से जिनका स्पर्श ऐसा नाम किया जाता है वह सब नाम **स्पर्श** है । *(ध. पु. 13, पृ. 8)*

शंका - एक ही स्पर्श शब्द के कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों कैसे बन सकते हैं ?
समाधान - नहीं, क्योंकि लोक में सूर्य, चन्द्र, खद्योत, अग्नि, मणि और नक्षत्र आदि ऐसे अनेक पदार्थ है जिनमें उभय भाव देखा जाता है, उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये अर्थात् प्रत्येक में प्रकाश-प्रकाशक भाव पाया जाता है उसी प्रकार यहाँ स्पर्श शब्द को भी युगपत कर्ता और कर्म मानने में कोई विरोध नही है । *(ध. पु. 13, पृ. 9)*

4. **स्थापना** - 'वह यह है' इस प्रकार अभेद रूप से जो अन्य पदार्थ विवक्षित वस्तु में प्रतिनिधि रूप से स्थापित किया जाता है, वह स्थापना है जो वह स्थापना कर्म है वह काष्ठ कर्म, चित्र कर्म, पोत कर्म, लेप्य वर्ग, लयन कर्म, शैल कर्म, गृह कर्म, भित्ति कर्म, दन्त कर्म, भेद कर्म इनमें तथा अक्ष और पराद्रक एवं इनको लेकर इसी प्रकार और जो एकत्व के संकल्प द्वारा स्थापना अर्थात् बुद्धि में स्पर्श रूप से स्थापित करके किये जाते हैं वह सब स्थापना कर्म है । *(ध. पु. 13, पृ. 9)*

   (1) **काष्ठ कर्म** - दो पैर, चार पैर, बिना पैर और बहुत पैर वाले प्राणियों की काष्ठ में जो प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं उन्हें काष्ठ कर्म कहते हैं ।

   (2) **चित्र कर्म** - जब ये ही चार प्रकार की प्रतिमाएँ भित्ति, वस्त्र और स्तम्भ आदि पर राग वर्त आदि वर्ण विशेषों द्वारा चित्रित की जाती हैं तब उन्हें चित्र कर्म कहते हैं ।

   (3) **पोत कर्म** -- घोड़ा, हाथी, मनुष्य, स्त्री, वृक और बाघ आदि की वस्त्र विशेष में उकेरी गई प्रतिमाओं को पोत कर्म कहते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 9)*

   (4) **लेप्य कर्म** - मिट्टी खडिया और बालू आदि के लेप से जो प्रतिमाएं बनाई जाती है वह लेप्य कर्म है ।

   (5) **लयन कर्म** - शिला स्वरूप पर्वतों से अभिन्न जो प्रतिमाएं बनाई जाती है उन्हें लयन कर्म कहते हैं ।

   (6) **शैल कर्म** - पृथक पड़ी हुई शिलाओं पर जो प्रतिमाएं बनाई जाती है उन्हें शैल कर्म कहते हैं ।

(7) **गृह कर्म** - गोपुरों के शिखरों से अभिन्न ईंट और पत्थर के द्वारा जो प्रतिमों चिनी जाती हैं उन्हें गृह कर्म कहते हैं ।

(8) **भित्ति कर्म** - भित्ति से अभिन्न तृणों से जो प्रतिमाएं बनाई जाती हैं उन्हें भित्ति कर्म कहते हैं ।

(9) **दन्त कर्म** - हाथी के दांत में जो प्रतिमाएं उत्कीर्ण की जाती हैं उन्हें दन्त कर्म कहते हैं।

(10) **भेंड कर्म** - भेंड अर्थात् : से घड़ी गई प्रतिमाओं को भेड कर्म कहते हैं । आदि शब्द से कांसा, तांबा, चांदी, सुवर्ण आदि द्वारा सांचे में, ढाली गई प्रतिमाये भी ग्रहण करना चाहिये। यह सब सद्भाव स्थापना के आधार का कथन किया *(ध. पु. 13, पृ. 10)*

द्यूत कर्म में विजय पराजय की निमित्त भूत छोटी कौडियां और पासे होते हैं उन्हें अक्षक कहते हैं । इनके अतिरिक्त कौड़ियों को वराटक कहते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 10)*

5. **देश स्पर्श** - एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ जो एक देश स्पर्श होता है उसे देश स्पर्श कहते हैं । एक स्कन्ध का अन्य स्कन्ध के साथ बन्ध होने पर जो नया स्कन्ध बनता है वह देश स्पर्श का उदाहरण है । अथवा एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बन्ध होने पर जो दो प्रदेशावगाही स्कन्ध बनता है वह भी देश स्पर्श का उदाहरण है । *(ध. पु. 13, पृ. 19)*

6. जो द्रव्य त्वचा या नो त्वचा को स्पर्श करता है वह सब त्वक् स्पर्श है ।

(1) **त्वचा** - वृक्ष, गच्छ, स्कन्धों की छाल को त्वचा कहते हैं ।

(2) **नो त्वचा** - त्वचा के ऊपर जो पपड़ी का समूह होता है उसे नो त्वचा कहते हैं अथवा सूरण, अदरख, प्याज और हल्दी आदि की जो बाह्य पपड़ी का समूह है उसे नो त्वचा कहतेहैं।

(3) जो द्रव्य त्वचा या नो त्वचा को स्पर्श करता है वह त्वक् स्पर्श कहलाता है ।

(ध. पु. 13, पृ. 19)

7. **शंका - परमाणु क्या सावयव है या निरवयव ?**
समाधान - अवयवी संज्ञा वाले परमाणु का अभाव है इसलिये यह सिद्ध की परमाणु निरवयव है। *(ध. पु. 13, पृ. 23)*

8. सर्व स्पर्श में एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ पूरा स्पर्श लिया गया है और इसके उदाहरणस्वरूप परमाणु द्रव्य उपस्थित किया गया है । एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ देश और सर्व दोनों प्रकार का स्पर्श देखा जाता है ।

शंका - परमाणु निरंश होता है या सांश ?
समाधान - परमाणु अखंड और एक है । इस नय की अपेक्षा वह निरंश माना जाता है किन्तु प्रत्येक परमाणु में पूर्व पश्चिम आदि भाग देखे जाते है इस नय की अपेक्षा वह सांश माना जाता

है । इसलिये जब एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक प्रदेश अवगाही स्पर्श होता है तब वह सर्व स्पर्श कहलाता है और जब दो प्रदेश अवगाही स्पर्श होता है तब वह देश स्पर्श कहलाता है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये । *(ध. पु. 13, पृ. 24)*

9. कर्म स्पर्श में न तो कर्मों का जीव के साथ होने वाला स्पर्श लिया गया है न कर्मों का उनके विस्रसोपचयों के साथ होने वाला स्पर्श लिया गया है और न कर्मों का नो कर्मों के साथ होने वाला स्पर्श लिया गया है, यहाँ केवल आठ कर्मों का परस्पर में जो स्पर्श होता है उसी का ग्रहण किया गया है । कर्म स्पर्श का अर्थ है कर्मों का परस्पर में होने वाला स्पर्श ।

(ध. पु. 13, पृ. 29)

10. **भव्य स्पर्श अधिकार - विष** प्रसिद्ध है ।

कूट - कौआ और चूहा आदि के धरने के लिये जो बनाया जाता है उसे कूट कहते हैं ।

पिंजरा - तीतर और लाव आदि पकड़ने के लिये जो अनेक छोटी पंचे लेकर बनाया जाता है उसे पिंजरा कहते हैं ।

कंदक - हाथी के पकड़ने के लिये जो वारिबन्ध बनाया जाता है उसे कन्दक कहते हैं, अथवा हरिण और सूअर आदि के मारने के लिये जो फंदा तैयार किया जाता है उसे कन्दक कहते हैं।

वग्गुरा - प्रसिद्ध ही है ।

भव्य स्पर्श - इच्छित वस्तु के स्पर्शन अथवा पकड़ने के लिये इत्यादि द्रव्यों का रखना भव्य स्पर्श है । तथा इन यन्त्रादि को करने वाले और इन यन्त्रादि को इच्छित स्थान पर रखने वाले भी भव्य स्पर्श कहलाते हैं, क्योंकि यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया गया है । *(ध. पु. 13, पृ. 34)*

11. जो पर्याय भविष्य में होने वाली होती है उसे भव्य या भावी कहते हैं, यहाँ स्पर्श का प्रकरण है इसलिये भव्य स्पर्श का अर्थ यह होता है कि जो भविष्य में स्पर्श पर्याय से युक्त होगा वह भव्य स्पर्श है । इसके उदाहरण स्वरूप सूत्र में विष यन्त्रादिक पदार्थ लिये हैं, इन पदार्थों का निर्माण मुख्यतया अन्य जीवों को पकड़ने के लिये किया जाता है । इसलिये इनकी भव्य स्पर्श संज्ञा है । *(ध. पु. 13, पृ. 35)*

12. प्रसंग से एक प्रश्न यह भी किया गया है कि जब इस अधिकार में स्पर्श की मुख्यता है तो सर्वस्पर्श और द्रव्य स्पर्श जो अपुनरुक्त और जिनका अन्यत्र कथन नहीं किया गया है उनका यहाँ अवश्य कथन करना था । इसका समाधान करते हुए **वीरसेन स्वामी** ने जो कुछ भी कहा वह मार्मिक है - उनका कहना है कि यह अध्यात्म शास्त्र है इसलिये अन्य विषयों के कथन को विशेष अवकाश नहीं है ।

अध्यात्म शास्त्र का अर्थ है कि आत्मा की विविध अवस्थाओं और उनके मुख्य निमित्तों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र, यह उसका व्यापक अर्थ है । वैसे जीव की विविध अवस्थाओं में मूल वस्तु का ज्ञान

कराने वाला शास्त्र ही अध्यात्म शास्त्र कहलाता है । परन्तु कार्य कारण भाव की दृष्टि से विचार करने पर उन विविध अवस्थाओं और उनके मूल निमित्तों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का भी इसमें अन्तर्भाव हो जाता है इस दृष्टि से विचार करने पर जो चौदह मार्गणाओं में से प्रारम्भ की 4 मार्गणाओं को द्रव्य मार्गणायें कहते हैं । वे सिद्धान्त ग्रन्थों के अभिप्राय और उनकी वर्णन शैली से अनभिज्ञ है यही कहना पड़ता है सिद्धान्त ग्रन्थों में भाव मार्गणाओं का ही विवेचन किया गया है यह बात खुद्दा बंध के 14 मार्गणाओं का विवेचन करने वाले सूत्रों से भी स्पष्ट जानी जाती है, यही कारण है कि यहाँ तेरह प्रकार के स्पर्शों को स्वरूप कह करके उनका विशेष व्याख्यान नहीं किया । *(ध. पु. 13, पृ. 37)*

13. **निक्षेप** - जो संशय विपर्यय और अनध्यवसाय में स्थित जीव को किसी एक निर्णय पर पहुँचा दे उसे निक्षेप कहते हैं । या अप्रकृत अर्थ के निराकरण द्वारा प्रकृत अर्थ का कथन करने के लिये मुख्य वाचक के वाच्यार्थ की प्रमाणता का प्रतिपादन करता है उसे निक्षेप कहते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 38)*

14. द्रव्य से भाव पृथक नहीं पाया जाता इसलिये द्रव्य के ही **भावपना** सिद्ध होता है। *(ध. पु. 13, पृ. 39)*

15. बुद्धि द्वारा स्थापित किया जाने वाला जो पदार्थ वर्ण और आकार आदि के द्वारा अन्य पदार्थ का अनुकरण करता है उसकी **सद्भाव स्थापना** संज्ञा है ।

16. जो अदृश्य द्रव्य है वह **असद्भाव स्थापना** है ।

17. वह उपद्रावण, विद्रावण, परितापन और आरम्भ रूप कार्य से निष्पन्न होता है वह सब अधः कर्म है। **औद्दावण** (उपद्रावण)-जीव का उपद्रव करना ओद्दावण कहलाता है ।

    विद्रावण - अंग छेदन आदि व्यापार करना विद्रारण कहलाता है ।

    परिद्रावण - सन्ताप उत्पन्न करना परिद्रावण कहलाता है ।

    आरम्भ - प्राणियों के प्राणों का वियोग करना, आरम्भ कहलाता है ।

    अधः कर्म - उपद्रावण परिद्रावण, परितापन और आरम्भ आदि कार्य रूप जो उत्पन्न हुआ औदारिक शरीर है, यह सब अधःकर्म है । *(ध. पु. 13, पृ. 46)*

18. **ग्रास का प्रमाण** - शाली धान्य के एक हजार चावलों का जो भात बनता है वह सब एक ग्रास होता है । यह प्रकृतिस्थ पुरुष का ग्रास कहा है ऐसे बत्तीस ग्रासों द्वारा प्रकृतिस्थ पुरुष का आहार होता है । और अट्ठाईस ग्रासों द्वारा महिला का आहार होता है । प्रकृत में इस ग्रास और इस आहार का ग्रहण न कर, जो जिसका प्राकृतिक ग्रास भी अनवस्थित पाया जाता है, इसलिये अपना-अपना जो प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार के ग्रहण करने का नियम अवमौदर्य तप होता है । *(ध. पु. 13, पृ. 56)*

19. **बाह्य तप** - यह अपने से पृथग्भूत मिथ्यादृष्टियों के द्वारा भी जाना जाता है इसलिये इसकी बाह्य संज्ञा है । *(ध. पु. 13, पृ. 59)*

20. अपनी गर्हा करने से, दोषों को प्रकाशन करने से और उनका संवर करने से किये गये अति दारुण कर्मकृश हो जाते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 59)*

21. जब अपराध छोटा हो और गुरु समीप न हो तब यह **प्रायश्चित** होता है (प्रतिक्रमण करना चाहिये) ।

22. अपने अपराध की गुरु के सामने आलोचना करके गुरु की साक्षीपूर्वक अपराध से निवृत्त होना **उभय** नाम का **प्रायश्चित** है । यह उभय प्रायश्चित दु:स्वप्न देखने आदि अवसरों पर होता है । *(ध. पु. 13, पृ. 60)*

23. यह बात सत्य है कि इन दोनों प्रकार के स्वरूपों की अपेक्षा दोनों ही (धर्म व शुक्ल) ध्यानों में कोई भेद नहीं है किन्तु इतनी विशेषता है कि धर्मध्यान एक वस्तु में स्तोक काल तक रहता है क्योंकि कषाय सहित परिणाम का गर्भगृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं बन सकता । *(ध. पु. 13, पृ. 74)*

24. असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, क्षपक और उपशामक अपूर्वकरण, क्षपक और उपशामक अनिवृत्ति करण, क्षपक और उपशामक सूक्ष्म साम्पराय संयत जीवों के धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है ऐसा जिन देव का उपदेश है । इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान कषाय सहित जीवों के होता है । *(ध. पु. 13, पृ. 74)*

25. परन्तु शुक्ल ध्यान के एक पदार्थ में स्थित रहने का काल धर्मध्यान के अवस्थान काल से संख्यात गुणा है क्योंकि वीतराग परिणाम मणि की शिखा के समान बहुत काल के द्वारा भी चलायमान नहीं होता । *(ध. पु. 13, पृ. 75)*

26. **शंका - उपशान्त कषाय गुणस्थान में पृथक्त्व वितर्क विचार ध्यान का अवस्था अन्तर्मुहूर्त काल तक ही पाया जाता है ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वीतरागता का अभाव होने से उसका विनाश बन जाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 75)*

27. **शंका - वीतरागता के रहते हुए भी क्षीण कषाय में होने वाले एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान का विनाश देखा जाता है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि आवरण का अभाव होने से केवली जिन का उपयोग अशेष द्रव्य पर्यायों में उपयुक्त होने लगता है इसलिये एक द्रव्य व एक पर्याय में अवस्थान का अभाव देखकर उस ध्यान का अभाव कहा है । *(ध. पु. 13, पृ. 75)*

28. **शंका - कषाय सहित तीन गुणस्थानों के काल से चूंकि उपशान्त कषाय का काल संख्यात गुणा हीन है इसलिये वीतराग ध्यान का अवस्थान काल संख्यात गुणा है यह बात नहीं बनती?**
समाधान - नहीं, क्योंकि एक पदार्थ में कितने काल तक अवस्थान होता है इस बात को देखकर उक्त बात कही है । कहा भी है - *(ध. पु. 13, पृ. 75)*

एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक चिन्ता का अवस्थान होना छद्मस्थों का ध्यान है और योग निरोध जिन भगवान का ध्यान है । *(ध. पु. 13, पृ. 76)*

29. जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दान सम्पन्नता, श्रुतशील और संयम में रत होना ये सब बातें **धर्मध्यान** में होती है ऐसा जानना चाहिये ।

(ध. पु. 13, पृ. 76)

30. **धर्मध्यान का फल** - अक्षपक जीवों को देव पर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुणश्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है तथा क्षपक जीवों को तो असंख्यात गुणश्रेणि रूप से कर्मप्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है अतएव जो धर्म से अनपेत है वह धर्मध्यान है ।

उत्कृष्ट धर्मध्यान के शुभ आस्रव, संवर, निर्जरा और देवों का सुख ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं । अथवा जैसे मेघ पटल पवन से ताडित होकर क्षणमात्र में विलीन हो जाते हैं वैसे ही ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर कर्म मेघ भी विलीन हो जाते हैं ।

(ध. पु. 13, पृ. 77)

31. **शंका - इसे (शुक्ल ध्यान को) शुक्लपना किस कारण से प्राप्त होता है ?**
समाधान - कषाय मल का अभाव होने से शुक्लपना पाया जाता है ।*(ध. पु. 13, पृ. 77)*

32. पृथक्त्व अर्थात् भेद रूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार अर्थात् संक्रान्ति जिस ध्यान में होती है वह **पृथक्त्व वितर्क वीचार** नाम का ध्यान है ।

33. वितर्क का अर्थ श्रुत है और यत: पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु ही इस ध्यान को ध्याते है इसलिये उस ध्यान को **सवितर्क** कहा है ।

34. अर्थ व्यञ्जन और योगों का संक्रम विचार है जो ऐसे संक्रम से युक्त होता है उसे सूत्र में सवीचार कहा है । *(ध. पु. 13, पृ. 78)*

35. **द्वितीय शुक्ल ध्यान** - एक का भाव एकत्व है, वितर्क द्वादशांग को कहते हैं और अवीचार का अर्थ असंक्रान्ति है । अभेद रूप से वितर्क सम्बन्धी अर्थ व्यञ्जन और योगों का अवीचार अर्थात् असंक्रान्ति जिस ध्यान में होती है वह एकत्व वितर्क वीचार ध्यान है ।

36. क्षीण कषाय जीव एक ही द्रव्य का किसी एक योग के द्वारा ध्यान करता है इसलिये उस ध्यान को एकत्व कहा है । वितर्क का अर्थ श्रुत है और जिसलिये पूर्वगत अर्थ में कुशल साधु इस ध्यान को ध्याता है इसलिये इस ध्यान को सवितर्क कहा है । अर्थ व्यञ्जन और योगों के संक्रम का नाम वीचार है यत: उस विचार के अभाव से यह ध्यान होता है इसलिये इसे अविचार कहा है । *(ध. पु. 13, पृ. 79)*

37. **शंका - एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान के लिये 'अप्रतिपात' विशेषण क्यों नहीं दिया ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उपशान्त कषाय जीव के भव क्षय और काल क्षय के निमित्त से पुन: कषायों को प्राप्त होने पर एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान का प्रतिपात देखा जाता है ।

38. **शंका - यदि उपशान्त कषाय गुणस्थान में एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान होता है तो 'उवसंतो दु पुधत्तं' इत्यादि गाथा वचन के साथ विरोध आता है ?**

समाधान - ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उपशान्त कषाय गुणस्थान में केवल पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान होता है ऐसा कोई नियम नहीं है और क्षीण कषाय गुणस्थान के काल में सर्वत्र एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान ही होता है ऐसा भी कोई नियम नहीं है क्योंकि वहाँ योगपरावृत्ति का कथन एक समय प्रमाण अन्यथा बन नहीं सकता । इससे क्षीण कषाय काल के प्रारम्भ में पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है । *(ध. पु. 13, पृ. 81)*

39. जिस प्रकार चिरकाल से संचित हुए ईंधन को, वायु से वृद्धि को प्राप्त हुई अग्नि अतिशीघ्र जला देती है उसी प्रकार अपरिपित कर्म रूपी ईंधन को ध्यान रूपी अग्नि क्षणमात्र में जला देती है।

40. जिस प्रकार विशोषण, विरेचन और औषध के विधान से रोगाशय का शमन होता है, उसी तरह ध्यान और अनशन आदि निमित्त से कर्माशय का भी शमन होता है ।

41. असंमोह, विवेक, विसर्ग (त्याग) आदि शुक्ल ध्यान के लिंग है । जिसके द्वारा शुक्ल ध्यान को प्राप्त हुआ मुनि पहिचाना जाता है ।

42. वह धीर परीषह और उपसर्गो से न तो चलायमान होता है और न डरता है तथा वह सूक्ष्मभावों में और देवमाया में भी मुग्ध नहीं होता है । *(ध. पु. 13, पृ. 82)*

ध्यान में अपने चित्त को लीन करने वाला वह कषायों से उत्पन्न हुए ईर्ष्या विषाद और शोक आदि मानसिक दु:खों से भी नहीं बाधा जाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 82)*

43. अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा ये **अवग्रह** के पर्यावाची नाम है । *(ध. पु. 13, पृ. 242)*

(1) **अवग्रह** - जिसके द्वारा घटादि पदार्थ पाये जाते हैं वह अवग्रह है ।

(2) **अवधान** - जिसके द्वारा 'अवदीयते खण्डयते' अर्थात् अन्य पदार्थों से अलग करके विवक्षित अर्थ जाना जाता है वह अवग्रह का अन्य नाम अवदान (अवधान) है ।

(3) **सान** - जो अनध्यवसाय को छेदता है, नष्ट करता है वह अवग्रह का तीसरा नाम सान है।

(4) **अवलम्बना** - जो अपनी उत्पत्ति के लिये इन्द्रियादिक का अवलम्बन लेता है वह अवग्रह का चौथा नाम अवलम्बना है । *(ध. पु. 13, पृ. 242)*

(5) **मेधा** - जिसके द्वारा पदार्थ 'मेध्यति' अर्थात् जाना जाता है वह अवग्रह का पांचवाँ नाम मेधा है ।

44. ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहा के पर्यायवाची नाम है। *(ध. पु. 13, पृ. 242)*

(1) **ईहा** - जिस बुद्धि के द्वारा उत्पन्न हुए संशय का नाश करने के लिये 'ईहते' अर्थात् चेष्टा करते है वह ईहा है ।

(2) **ऊहा** - जिसके द्वारा अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ के नहीं जाने गये विशष की 'ऊह्यते' अर्थात् तर्कणा करते हैं वह ऊहा है ।

(3) **अपोहा** - जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प का 'अपोह्यते' अर्थात् निराकरण किया जाता है वह अपोहा है ।

(4) **मार्गणा** - अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ विशेष जिसके द्वारा मार्गण अर्थात् अन्वेषण किया जाता है वह मार्गणा है ।

(5) **गवेषणा** - जिसके द्वारा गवेषणा की जाती है वह गवेषणा है ।

(6) **मीमांसा** - अवग्रह कें द्वारा ग्रहण किया गया अर्थ विशेष रूप से जिसके द्वारा मीमांसित किया जाता है अर्थात् विचारा जाता है वह मीमांसा है । ***(ध. पु. 13, पृ. 243)***

45. **अवाय** - व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुंडा ये अवाय के पर्याय नाम है । ***(ध. पु. 13, पृ. 243)***

अवाय - जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ निश्चित किया जाता है वह अवाय है ।

व्यवसाय - जिसके द्वारा अन्वेषित अर्थ 'व्यवसीयते' अर्थात् निश्चित किया जाता है वह व्यवसाय है ।

बुद्धि - जिसके द्वारा अहित अर्थ 'बुद्धयते' अर्थात् जाना जाता है वह बुद्धि है ।

विज्ञप्ति - जिसके द्वारा तर्क संगत अर्थ विशेष रूप से जाना जाता है, वह विज्ञप्ति है ।

आमुंडा - जिसके द्वारा वितर्कित अर्थ 'आमुड्यते' अर्थात् संकोचित किया जाता है वह आमुंडा है।

प्रत्यामुंडा - जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ अलग-अलग 'आमुंड्यते' अर्थात् संकोचित किया जाता है वह प्रत्यामुंडा है ।

46. धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये धारणा के एकार्थ नाम है । ***(ध. पु. 13, पृ. 243)***

धरणी - धरणी के समान बुद्धि का नाम धरणी है, जिस प्रकार धरणी (पृथ्वी) गिरि, नदी, सागर, वृक्ष, झाड़ी और पत्थर आदि को धारण करती है उसी प्रकार जो बुद्धि निर्णीत अर्थ को धारण करती है वह धरणी है ।

धारणा - जिसके द्वारा निर्णीत अर्थ धारण किया जाता है वह धारणा है ।

स्थापना - वह धारणा जिसके द्वारा निर्णीत रूप से अर्थ स्थापित किया जाता है वह स्थापना है ।

कोष्ठा - कोष्ठा के समान बुद्धि का नाम कोष्ठा है । कोष्ठा कुस्थली को कहते हैं, उसके समान जो निर्णीत अर्थ को धारण करती है वह बुद्धि कोष्ठा कही जाती है ।

प्रतिष्ठा - जिसमें विनाश के बिना पदार्थ प्रतिष्ठित किये जाते हैं (रहते हैं) वह बुद्धि प्रतिष्ठा है।

47. जितने अक्षर है उतने ही श्रुत ज्ञान है, क्योंकि एक-एक अक्षर से एक-एक श्रुत ज्ञान की उत्पत्ति होती है अब यहाँ अक्षरों के प्रमाण का कथन करते हैं । वर्गाक्षर पच्चीस, अन्तस्थ चार और उष्माक्षर चार इस प्रकार तैतीस व्यञ्जन होते हैं । **सत्ताईस** अ, इ, उ, ऋ लृ, ए, ऐ, ओ, औ इस प्रकार ये नौ स्वर अलग-अलग ह्रस्व, दीर्घ और लुप्त के भेद से सत्ताईस होते हैं ।

शंका - एच् अर्थात् ए, ऐ, ओ, और औ इनके ह्रस्व भेद नहीं होते ?
समाधान - नहीं, क्योंकि प्राकृत में उनमें इनका सद्भाव मानने में कोई विरोध नहीं आता है।

अयोगवाह अं, अः, क और प ये चार ही होते हैं इस प्रकार सब अक्षर चौसठ होते हैं । $9 \times 3 = 27$ स्वर 33 व्यञ्जन और 4 योगवाह अर्थात् $27 + 33 + 4 = 64$ अक्षर होते हैं । ***(ध. पु. 13, पृ. 247)***

48. **शंका - पर्याय किस का नाम है ?**
समाधान - ज्ञानविभाग प्रतिच्छेदों के प्रक्षेप का नाम पर्याय है ।

49. अक्षर के तीन भेद होते हैं, लब्ध्यक्षर, निवृत्यक्षर और संस्थानाक्षर ।

(1) **लब्ध्यक्षर** - सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक से लेकर श्रुत केवली तक जीवों के जितने क्षपोपशम होते हैं उन सबकी लब्ध्यक्षर संज्ञा है ।

(2) **निर्वृत्यक्षर** - जीवों के मुख से निकले हुए शब्द की निर्वृत्यक्षर संज्ञा है । व्यक्त और अव्यक्त के भेद से निर्वृत्यक्षर के दो भेद होते हैं । उनमें से व्यक्त, निर्वृत्यक्षर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के होता है और अव्यक्त निवृत्यक्षर द्विइन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तक जीवों के होता है ।

(3) **संस्थानाक्षर** - संस्थानाक्षर का दूसरा नाम स्थापनाक्षर है । स्थापनाक्षर - 'यह वह अक्षर है' इस प्रकार अभेद रूप से बुद्धि में जो स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापनाक्षर है । अर्थात् संस्थानाक्षर कहलाता है । ***(ध. पु. 13, पृ. 265)***

50. **अर्थपद** - प्रमाण पद और मध्यम पद इस प्रकार पद तीन प्रकार है ।

अर्थपद - जितनों के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है वह अर्थ पद है, यह अनवस्थित है क्योंकि, अनियत अक्षरों के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता हुआ देखा जाता है और यह बात असिद्ध भी नहीं है । क्योंकि 'अ' का अर्थ विष्णु है, 'इ' का अर्थ काम है, 'क' का अर्थ ब्रह्मा है इस प्रकार इत्यादि स्थलों पर एक-एक अक्षर से ही अर्थ की उपलब्धि होती है ।

प्रमाण पद - आठ अक्षर से निष्पन्न हुआ प्रमाण पद है, यह अवस्थित है क्योंकि इसकी आठ संज्ञा नियत है ।

मध्यम पद - सोलह सौ चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी इतने मध्यम पद के वर्णन होते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 266)*

51. **शंका - अनुयोग द्वार किसकी संज्ञा है ?**
समाधान - प्राभृत के जितने अधिकार होते हैं उनमें से एक-एक अधिकार की प्राभृत-प्राभृत संज्ञा है और प्राभृत-प्राभृत के जितने अधिकार होते हैं उनमं से एक-एक अधिकार की अनुयोग द्वार संज्ञा है । *(ध. पु. 13, पृ. 270)*

52. **शंका - प्राभृत-प्राभृत यह क्या है ?**
समाधान - संख्यात अनुयोग द्वारों को ग्रहण कर एक प्राभृत प्राभृत श्रुत ज्ञान होता है । *(ध. पु. 13, पृ. 270)*

53. **शंका - वस्तु इस पद से क्या कहा गया है ?**
समाधान - पूर्व श्रुतज्ञान के जितने अधिकार हैं उनकी अलग-अलग वस्तु संज्ञा है । यथा अग्रायणीय पूर्व के चयन लब्धि आदि चौदह अधिकार । *(ध. पु. 13, पृ. 270)*

54. **शंका - पूर्व यह किसकी संज्ञा है ?**
समाधान - पूर्वगत के जो उत्पाद पूर्व आदि चौदह अधिकार है उनकी अलग-अलग पूर्व संज्ञा है। *(ध. पु. 13, पृ. 271)*

55. यहाँ पर सूक्ष्म निगोद लब्ध्य पर्याप्तक के जघन्य ज्ञान से आगे श्रुत ज्ञान की वृद्धि किस क्रम से होती है, इसका विवेचन दो प्रकार से किया है । कितने ही जीव ऐसे होते हैं, जिनके पहले उत्पाद पूर्व का ज्ञान होता है और आगे वह आनुपूर्वी को लिये हुए बढ़ता रहता है और कितने ही जीव ऐसे होते हैं जिनके पहिले अन्तिम पूर्व लोक बिन्दुसार का ज्ञान होता है और आगे वह प्रथम उत्पाद पूर्व के ज्ञान को प्राप्त होने तक बढ़ता रहता है, इनमें से पहले प्रकार के जीव अनुसारी बुद्धि वाले कहे गये हैं और दूसरे प्रकार के जीव प्रतिसारी बुद्धि वाले कहे गये हैं, इस प्रकार श्रुत ज्ञान के क्षयोपशम की अपेक्षा जो बीस भेद किये है उनका विस्तार से विचार किया गया है । *(ध. पु. 13, पृ. 273)*

56. श्रुतज्ञान के पर्याय नाम - प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परा लब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचन सन्निकर्ष, नय विधि, नयान्तर विधि, भंग विधि, भंग विधि विशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधि विशेष, तत्व, भूत, भव्य, भविष्यत, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्रय, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुत ज्ञान के पर्याय नाम है । ये श्रुत ज्ञान के 41 पर्याय शब्द है । *(ध. पु. 13, पृ. 280)*

57. **प्रकृष्टता** - पूर्वापर विरोधादि दोष से रहित होने के कारण निरवद्य अर्थ का कथन करने के कारण और विसंवाद रहित होने के कारण प्रकृष्टता है ।

(1) **प्रावचन** - प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट शब्द कलाप में होने वाला ज्ञान या द्रव्य श्रुत प्रावचन कहलाता है ।

(2) **प्रवचनीय** - प्रबन्धपूर्वक जो वचनीय अर्थात् व्याख्येय या प्रतिपादिनीय होता है वह प्रवचनीय है ।

(3) **प्रवचनार्थ** - द्वादशांग रूप वर्णों का समुदाय वचन है जो 'अर्य ते गम्यते परिच्छद्यते' अर्थात् जाना जाता है वह अर्थ है, यहाँ अर्थ पद से नौ पदार्थ लिये गये हैं वचन और अर्थ ये दोनों मिलकर वचनार्थ कहलाते हैं, जिस आगम में वचन और अर्थ ये दोनों प्रकृष्ट अर्थात् निर्दोष हैं उस आगम की प्रवचनार्थ संज्ञा है *(ध. पु. 13, पृ. 282)*

(4) **गतियों में मार्गणता** - यत: गति शब्द देशामर्शक है अत: गति शब्द का ग्रहण करने से चौदहों मार्गणा स्थानों का ग्रहण होता है गतियों में अर्थात् मार्गणा स्थानों से चौदह गुणस्थानों से उपलक्षित जीव जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, वह गतियों में मार्गणता नामक श्रुति है ।

(5) **आत्मा** - द्वादशांग का नाम आत्मा है क्योंकि वह आत्मा का परिणाम है ।
(ध. पु. 13, पृ. 282)

(6) **परम्परा लब्धि** - मुक्ति पर्यंत इष्ट वस्तु को प्राप्त करने वाली अणिमा आदि विक्रियायें लब्धि कही जाती है इन लब्धियों की परम्परा जिस आगम से प्राप्त होती है या जिसमें उनकी प्राप्ति का उपाय कहा जाता है वह परम्परा लब्धि आगम है *(ध. पु. 13, पृ. 283)*

(7) **अनुत्तर** - उत्तर प्रति वचन का दूसरा नाम है जिस श्रुत का उत्तर नही है वह श्रुत अनुत्तर कहलाता है । अथवा उत्तर शब्द का अर्थ अधिक है, इससे अधिक चूंकि अन्य कोई भी सिद्धान्त नहीं पाया जाता, इसीलिये इस श्रुत का नाम अनुत्तर है ।
(ध. पु. 13, पृ. 283)

(8) **प्रवचन** - यह प्रकर्ष से अर्थात् कुतीर्थों द्वारा नहीं स्पर्श किये जाने स्वरूप से जीवादि पदार्थों का निरुपण करता है इसलिये वर्ण-पकत्यात्मक द्वादशांग को प्रवचन कहते हैं । अथवा कारणभूत इस ज्ञान के द्वारा प्रमाण आदि के अविरोध रूप से जीवादि अर्थ कहे जाते हैं इसलिये द्वादशांग भावश्रुत को प्रवचन कहते हैं *(ध. पु. 13, पृ. 283)*

(9) **प्रवचनी** - जिसमें प्रकृष्ट वचन होते हैं वह प्रवचनी है इस व्युत्पत्ति के अनुसार भावागम का नाम प्रवचनी है । अथवा जो कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रवचन अर्थ को कहते हैं वह इसमें है इसलिये वर्णों पादान कारणक द्वादशांग ग्रन्थ का नाम प्रवचनी है । *(ध. पु. 13, पृ. 284)*

(10) **प्रवचनाद्धा** - अद्धा काल को कहते हैं, प्रकृष्ट अर्थात् शोभन वचनों का काल जिस श्रुति में होता है प्रवचनाद्धा अर्थात् श्रुत ज्ञान है । *(ध. पु. 13, पृ. 284)*

(11) **प्रवचन संनिकर्ष** - जो कहे जाते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वचन शब्द का अर्थ जीवादि पदार्थ है प्रकर्ष रूप से जिसमें वचन सन्निकृष्ट होते हैं वह प्रवचन सन्निकर्ष रूप से प्रसिद्ध द्वादशांग श्रुतज्ञान है । *(ध. पु. 13, पृ. 284)*

सन्निकर्ष - एक वस्तु में एक धर्म के विवक्षित होने पर उसमें शेष धर्मों के सत्त्वासत्व का विचार तथा उसमें रहने वाले उक्त धर्मों में से किसी एक धर्म के उत्कर्ष को प्राप्त होने पर शेष धर्मों के उत्कर्षानुत्कर्ष विचार करना सन्निकर्ष कहलाता है। *(ध. पु. 13, पृ. 284)*

(12) **नय विधि** - नय नैगम आदिक हैं वे सत् व असत् आदि रूप से जिसमें 'विधीयन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वह नय विधि आगम है अथवा नैगमादि नयों के द्वारा जीवादि पदार्थों का जिसमें विधान किया जाता है वह नय विधि आगम है *(ध. पु. 13, पृ. 284)*

(13) **नयान्तर विधि** - नयान्तर अर्थात् नयों के नैगमादिक सात सौ भेद विषयासांकर्य के निराकरण द्वारा जिसमें विहित अर्थात् निरूपित किये जाते हैं, वह नयान्तर विधि अर्थात् श्रुतज्ञान है । *(ध. पु. 13, पृ. 284)*

(14) **भंग विधि** - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील, गुण, नय, वचन और द्रव्यादिक के भेद भंग कहलाते हैं । उनका जिनके द्वारा विधान किया जाता है वह भंग विधि अर्थात् श्रुतज्ञान है अथवा भंग का अर्थ स्थिति और उत्पत्ति का अविनाभावी वस्तु विनाश है । वह जिसके द्वारा विहित अर्थात् निरूपित किया जाता है वह भंग विधि अर्थात् श्रुत है । *(ध. पु. 13, पृ. 285)*

(15) **भंग विधि विशेष** - विधि का अर्थ विधान है । भंगों की विधि अर्थात् भेद 'विशेष्यते' अर्थात् पृथक रूप से जिसके द्वारा निरूपित किया जाता है वह भंग विधि विशेष अर्थात् श्रुत ज्ञान है ।

(16) **पृच्छाविधि** - द्रव्य गुण और पर्याय के विधिनिषेध विषयक प्रश्न का नाम पृच्छा है उनके क्रम और अक्रम का तथा प्रायश्चित का जिसमें विधान किया जाता है वह पृच्छाविधि अर्थात् श्रुत है । अथवा पूछा गया अर्थ पृच्छा है वह जिसमें विहित की जाती है अर्थात् कही जाती है वह पृच्छाविधि श्रुत है । *(ध. पु. 13, पृ. 285)*

(17) **पृच्छा विधि विशेष** - विधान करना विधि है पृच्छा की विधि पृच्छा विधि है वह जिसके द्वारा विशेषित की जाती है वह पृच्छा विधि विशेष है । अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु इस प्रकार से पूछे जाने योग्य है तथा प्रश्नों के भेद इतने ही हैं ये सब चूंकि सिद्धान्त में निरूपित किये जाते हैं अत: उसकी पृच्छा विधि विशेष संज्ञा है । *(ध. पु. 13, पृ. 285)*

(18) **तत्त्व** - तत्त्व श्रुत ज्ञान है । *(ध. पु. 13, पृ. 286)*

(19) **भूत** - आगम अतीत काल में था इसलिये उसकी भूत संज्ञा है *(ध. पु. 13, पृ. 286)*

(20) **भव्य** - वर्तमान काल में है इसलिये उसकी भव्य संज्ञा है *(ध. पु. 13, पृ. 286)*

(21) **भविष्यत्** - वह भविष्य काल में रहेगा, इसलिये उसकी भविष्यत् संज्ञा है ।

(22) **अवितथ** - वितथ और असत्य ये समानार्थक शब्द हैं । जिस श्रुतज्ञान में वितथपना नहीं पाया जाता वह अवितथ अर्थात् तथ्य है । यह उक्त कथन का तात्पर्य है ।
(ध. पु. 13, पृ. 286)

(23) **अविहत** - मिथ्यादृष्टियों के वचनों द्वारा जो न वर्तमान में हता जाता है, न भविष्य में हता जा सकेगा और न भूत काल में हता गया है वह अविहत श्रुत ज्ञान है ।
(ध. पु. 13, पृ. 286)

(24) **वेद** - अशेष पदार्थों का जो वेदता है, वेदेगा, और वेद चुका है वह वेद अर्थात् सिद्धान्त है इससे सूत्रकष्ठों अर्थात् ब्राह्मणों की मिथ्या रूप ग्रन्थ कथा वेद है इसका निराकरण किया गया है । *(ध. पु. 13, पृ. 286)*

(25) **न्याय** - न्याय से युक्त है इसलिये श्रुत ज्ञान न्याय्य कहलाता है अथवा ज्ञेय का अनुसरण करने वाला होने से या न्याय रूप होने से सिद्धान्त को न्याय्य कहते हैं ।
(ध. पु. 13, पृ. 286)

(26) **शुद्ध** - वचन और अर्थगत दोषों से रहित होने के कारण सिद्धान्त का नाम शुद्ध है।

(27) **सम्यग्दृष्टि** - इसके द्वारा जीवादि पदार्थ सम्यक् प्रकार से देखे जाते हैं अर्थात् जाने जाते हैं अर्थात् श्रद्धान किये जाते हैं इसलिये इसका नाम सम्यग्दृष्टि है । अथवा सम्यग्दृष्टि के साथ श्रुति का अविनाभाव होने से उसका नाम सम्यग्दृष्टि है ।
(ध. पु. 13, पृ. 287)

(28) **हेतुवाद** - जो लिंग अन्यथानुपपत्ति रूप एक लक्षणों से उपलक्षित होकर साध्य का अविनाभावी होता है उसे हेतु कहा जाता है वह हेतु दो प्रकार है - 1. साधन हेतु, 2. दूषण हेतु । इनमें स्वपक्ष की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हुआ हेतु 'साधन हेतु' और प्रतिपक्ष का खण्डन करने के लिये प्रयुक्त हुआ हेतु दूषण हेतु है । अथवा जो अर्थ और आत्मा का 'हिनोति' अर्थात् ज्ञान कराता है उस प्रमाण पंचक को हेतु कहा जाता है । उक्त हेतु जिसके द्वारा उच्यते अर्थात् कहा जाता है, वह श्रुतज्ञान हेतुवाद कहलाता है ।

(29) **नयवाद** - ऐहिक और पारलौकिक फल की प्राप्ति का उपाय नय है । उसका वाद अर्थात् कथन इस सिद्धान्त के द्वारा किया जाता है इसलिये यह नयवाद कहलाता है ।
(ध. पु. 13, पृ. 287)

(30) **प्रवरवाद** - स्वर्ग और अपवर्ग का मार्ग होने से रत्नत्रय का नाम प्रवर है, उसका वाद (कथन) इसके द्वारा किया जाता है, इसलिये इस आगम का नाम प्रवरवाद है ।
(ध. पु. 13, पृ. 287)

(31) **मार्गवाद** - जिसके द्वारा मार्गण किया जाता है वह मार्ग (पथ) कहलाता है । वह पाँच प्रकार का है - यथा नरक गति मार्ग, तिर्यग्गति मार्ग, मनुष्य गति मार्ग, देवगति मार्ग और मोक्ष गति मार्ग । उनमें से एक-एक मार्ग कृमि व कीट आदि के भेद से अनेक

प्रकार का है । ये मार्ग और मार्गाभास जिसके द्वारा कहे जाते हैं वह सिद्धान्त मार्गवाद कहलाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 287)*

(32) **श्रुतवाद** - श्रुत दो प्रकार का है - अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य । इसका कथन जिस वचन कलाप के द्वारा किया जाता है वह द्रव्य श्रुतवाद है ।*(ध. पु. 13, पृ. 288)*

(33) **परवाद** - मस्करी, कणभक्ष, अक्षपाद, कपिल, शौद्धोदनि, चार्वाक और जैमिनि आदि तथा उनके दर्शन जिसके द्वारा 'परोद्यन्ते' अर्थात् दूषित किये जाते हैं वह राद्धान्त (सिद्धान्त) परवाद कहलाता है ।

(34) **लौकिकवाद** - लौकिक शब्द का अर्थ लोक ही है, जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते है अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसे लोक कहते हैं । वह 3 प्रकार का है - ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक । जिसके द्वारा इस लोक का कथन किया जाता है वह सिद्धान्तलौकिकवाद कहलाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 288)*

(35) **लोकोत्तरवाद** - लोकोत्तर पद का अर्थ अलोक है, जिसके द्वारा उसका कथन किया जाता है वह श्रुत लोकोत्तर वाद कहलाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 288)*

(36) **अग्रच** - चारित्र से श्रुत प्रधान है इसलिये उसकी अग्रच संज्ञा है ।

शंका - चारित्र से श्रुत की प्रधानता क्यों है ?

समाधान - क्योंकि श्रुतज्ञान के बिना चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये चारित्र की अपेक्षा श्रुत की प्रधानता है । अथवा अग्रच शब्द का अर्थ मोक्ष है, उसके साहचर्य से श्रुत भी अग्रच कहलाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 288)*

(37) **मार्ग** - मार्ग, पथ और श्रुत वे एकार्थक नाम है, किसका मार्ग ? मोक्ष का । ऐसा मानने पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं । इस कथन के साथ विरोध होगा, यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के अविनाभावी द्वादशांग को मोक्ष मार्ग रूप से स्वीकार किया है । *(ध. पु. 13, पृ. 288)*

(38) **यथानुमार्ग** - यथावस्थित जीवादि पदार्थ जिसके द्वारा 'अनुमृग्यन्ते' अर्थात् अन्वेषित किये जाते हैं वह श्रुत ज्ञान यथानुमार्ग कहलाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 289)*

(39) **पूर्व** - लोक के समान अनादि होने से श्रुत पूर्व कहलाता है *(ध. पु. 13, पृ. 289)*

(40) **यथानुपूर्व** - यथानुपूर्वी और यथानुपरिपाटी ये एकार्थवाची शब्द है । इसमें होने वाला श्रुतज्ञान या द्रव्यश्रुत यथानुपूर्व कहलाता है । सब पुरुष व्यक्तियों में स्थित श्रुत ज्ञान और द्रव्य श्रुत यथानुपरिपाटी से सर्वकाल अवस्थित है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 13, पृ. 289)*

(41) पूर्वातिपूर्व - बहुत पूर्व वस्तुओं में यह श्रुतज्ञान अतीव पूर्व है इसलिये श्रुतज्ञान पूर्वातिपूर्व कहलाता है। इस प्रकार श्रुत ज्ञान के पर्यायवाची नामों का वर्णन समाप्त हुआ ।

(ध. पु. 13, पृ. 289)

58. **शंका - सम्यक्त्व - अणुव्रत और महाव्रत के निमित्त से अवधिज्ञान** उत्पन्न होता है तो सब **असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतों के अवधि ज्ञान क्यों नहीं पाया जाता ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम रूप परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण है उनमें से अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्तभूत परिणाम अतिशय स्तोक हैं, वे सब के सम्भव नहीं है क्योंकि उनके प्रतिपक्ष भूत परिणाम बहुत हैं इसलिये उनकी उपलब्धि क्वचित् ही होती है । *(ध. पु. 13, पृ. 292)*

59. जो गुण प्रत्यय अवधिज्ञान है वह तिर्यंचों और मनुष्यों के होता है क्योंकि तिर्यंच और मनुष्य भवों को छोड़कर अन्यत्र अणुव्रत और महाव्रत नहीं होते । वह अनेक प्रकार का है - देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एक क्षेत्र और अनेक क्षेत्र । वह अवधिज्ञान अनेक प्रकार का है ऐसा कथन करने पर सामान्य से अवधि ज्ञान अनेक प्रकार का है ऐसा ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 13, पृ. 293)*

60. क्षेत्र की अपेक्षा शरीर प्रदेश अनेक संस्थान संस्थित होते हैं । जिस प्रकार शरीरों और इन्द्रियों का प्रतिनियत आकार होता है उस प्रकार अवधिज्ञान का नहीं होता है किन्तु अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम को प्राप्त हुए जीव प्रदेशों के करण रूप शरीर प्रदेश अनेक संस्थानों से संस्थित होते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 296)*

61. पृथ्वीकाय का आकार मसूर के समान होता है, जलकाय का आकार कुशाग्रबिन्दु के समान होता है, अग्नि काय का आकार सूचीकलाप (सुइयों का समूह) के समान होता है, तथा वायुकाय का आकार, ध्वजपट के समान होता है, हरित काय तथा त्रस काय अनेक आकार वाले होते हैं । यह कायों का आकार है । *(ध. पु. 13, पृ. 297)*

62. क्षेत्र, चक्षु, नासिका और जिह्वा इन इन्द्रियों का आकार क्रमशः यवनाली, मसूर, अतिमुक्तक फूल और अर्धचन्द्र या खुरपा के समान है तथा स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकार वाली है । यह इन्द्रियों का आकार है । *(ध. पु. 13, पृ. 297)*

63. **एक क्षेत्र अवधि ज्ञान के आकार** - श्रीवत्स, कलश, शंख, सांथिया और नन्दावर्त आदि आकार जानने योग्य हैं । यहाँ आदि शब्द से अन्य भी शुभ संस्थानों का ग्रहण करना चाहिये, एक जीव के एक ही स्थान में अवधि ज्ञान का कारण होता है ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, किसी भी जीव के एक दो तीन चार पांच और छह आदि क्षेत्र रूपशंखादि शुभ संस्थान सम्भव है, ये संस्थान तिर्यंच और मनुष्यों के नाभि के उपरिय भाग में होते हैं नीचे के भाग में नहीं होते, क्योंकि शुभसंस्थानों का अधोभाग के साथ विरोध है तथा तिर्यंच और मनुष्य विभंग ज्ञानियों के नाभि से नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं ऐसा गुरु का उपदेश है इस विषय में कोई सूत्र वचन नहीं है विभंगज्ञानियों के सम्यक्त्व आदि के फलस्वरूप से अवधिज्ञान के उत्पन्न होने पर गिरगिट आदि अशुभ आकार मिटकर नाभि के ऊपर शंख आदि शुभ आकार हो जाते हैं ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये इसी

प्रकार अवधि ज्ञान से लौटकर प्राप्त हुए विभंग ज्ञानियों के भी शुभ संस्थान मिटकर अशुभ संस्थान हो जाते हैं ।

[कितने ही आचार्य अवधिज्ञान और विभंग ज्ञान का क्षेत्र संस्थान भेद तथा नाभि के नीचे ऊपर का नियम नहीं है ऐसा कहते हैं, क्योंकि अवधि सामान्य की अपेक्षा दोनों में कोई भेद नहीं है । सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की संगति से किये गये नाम भेद के होने पर भी अवधि ज्ञान की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर अति प्रसंग दोष आता है । इसी अर्थ को यहाँ प्रधान करना चाहिये ।] *(ध. पु. 13, पृ. 298)*

64. सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव की जितनी जघन्य अवगाहना होती है उतना अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र है । *(ध. पु. 13, पृ. 301)*

65. अवधिज्ञान के क्षेत्र और काल का क्या यह एक ही विकल्प है या अन्य भी विकल्प है ऐसा पूछने पर 'दो वि संखेज्जा' ऐसा कहा है क्षेत्र और काल ये दोनों ही संख्यातवें भाग प्रमाण होता है । लेकिन किसके असंख्यातवें भाग होता है ? क्षेत्र की अपेक्षा आवलि के संख्यातवें भाग के जानता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 13, पृ. 305)*

66. परमावधि ज्ञान की उत्पत्ति संयतों के ही होती हैं । परमावधि ज्ञान के उत्पन्न होने पर वह जीव न कभी मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और न कभी असंयम को प्राप्त होते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 323)*

शंका - परमावधि ज्ञानी के मरकर देवों में उत्पन्न होने पर असंयम की प्राप्ति कैसे नहीं होती ?

समाधान - नहीं, क्योंकि परमावधि ज्ञानियों का प्रतिपात नहीं होने से वहाँ उनका उत्पाद सम्भव नहीं है ।

67. उत्कृष्ट अवधिज्ञान, तिर्यंच-देव और नारकियों के नहीं होता, किन्तु मनुष्यों के ही होता है । उत्कृष्ट अवधिज्ञान महाऋषियों के ही होता है, जघन्य अवधिज्ञान देव और नारकियों के नहीं होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंचों के ही होता है । *(ध. पु. 13, पृ. 327)*

68. देशावधि ज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र लोक प्रमाण है और उत्कृष्ट काल एक समय कम पल्य प्रमाण है यह देशावधि ज्ञान प्रतिपाति होता है क्योंकि उसी भव में जीवों के मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाने पर इसका विनाश देखा जाता है उसके आगे के परमावधि ज्ञान और सर्वावधि-ज्ञान अप्रतिपाती अर्थात् अविनश्वर है अभिप्राय यह है कि वे केवलज्ञान के उत्पन्न होने तक रहते हैं जितने अवधिज्ञान कहे गये हैं उतनी ही अवधि ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ है । विभंगज्ञान का जघन्य क्षेत्र तिर्यंच और मनुष्यों में अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है उसका उत्कृष्ट क्षेत्र सात आठ द्वीप व समुद्र प्रमाण होता है । इस प्रकार अवधि ज्ञानावरणीय की कर्म का कथन किया । *(ध. पु. 13, पृ. 328)*

69. जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर विचारे गये व सरल रूप से ही कहे गये अर्थ को जानता है वह भी ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान है । यह नहीं बोले गये, आधे बोले गये और विपरीत रूप से बोले गये अर्थ को नहीं जानता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । क्योंकि जिस मन:पर्यय ज्ञान में मति ऋजु है वह ऋजुमति मन: पर्यय ज्ञान में मतिऋजु है वह ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान है ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है ।

70. ऋजुमन के बिना ऋजु वचन की प्रवृत्ति नहीं होती । *(ध. पु. 13, पृ. 331)*

71. **देश** - अंग, बंग, कलिंग और मगध आदि देश कहलाते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 335)*

जनपद - देश का एक देश जनपद कहलाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 335)*

खेट - नदी और पर्वत से अवरुद्ध नगर की खेट संज्ञा है । *(ध. पु. 13, पृ. 335)*

कर्वट - पर्वतों के रुके हुए नगर का नाम कर्वट है । *(ध. पु. 13, पृ. 335)*

मंडव - पाँच सौ ग्रामों से घिरे हुए नगर का नाम मंडव है ।

पत्तन - नौका के द्वारा और पैरों से चलकर जहाँ जाते हैं उस नगर की पत्तन संज्ञा है ।

द्रोणमुख - जहाँ नौकायें आती जाती हैं उसकी द्रोण मुख संज्ञा है ।

व्रज - इनमें से घोष का अर्थ व्रज है । *(ध. पु. 13, पृ. 336)*

संवाह - जहाँ पर शिर से लेकर धान्य रखी जाती है उसे संवाह कहते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 336)*

संनिवेश - देश के स्वामी के रहने के स्थान का नाम संनिवेश है ।

स्थान - समुद्र से अवरुद्ध अथवा नदी से अवरुद्ध व्रज का नाम स्थान है । *(ध. पु. 13, पृ. 336)*

ग्राम - जो बाडी से घिरा हो उसका नाम ग्राम है । *(ध. पु. 13, पृ. 335)*

आवृष्टि - प्रमाण से अधिक वर्षा होना आवृष्टि (अतिवृष्टि) है ।

अनावृष्टि - वर्षा का न होना अनावृष्टि है ।

सुवृष्टि - जिस वर्षा से धान्य की अच्छी उत्पत्ति होती है वह सुवृष्टि है ।

दुर्वृष्टि - अतिवृष्टि और अवृष्टि जिसका चिन्ह है अथवा जो स्वगत क्षारत्व आदि गुण के कारण धान्य के उत्पन्न करने में असमर्थ है वह दुर्वृष्टि है ।

सुभिक्ष - शालि, ब्रीहि, जौ और गेहूँ आदि धान्यों की सुलभता का नाम सुभिक्ष है ।

दुर्भिक्ष - सुभिक्ष से विपरीत दुर्भिक्ष कहलाता है ।

क्षेम - मारी-ईति व राष्ट्र विप्लव आदि के अभाव का नाम क्षेम है ।

अक्षेम - क्षेम से विपरीत अक्षेम है ।

भय - परचक्र के आगमन का नाम भय है ।

रोग - क्षय कुष्ट और ज्वर आदि का नाम रोग है ।

विशेष - इन अर्थों को काल से विशेषित होने पर ऋजु मति मनः पर्ययज्ञानी प्रत्यक्ष जानता है इनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश को जानता है । यह उक्त कथन का तात्पर्य है ।

(ध. पु. 13, पृ. 336)

72. **युति और बन्ध में भेद** - एकीभाव का नाम बंध है और समीपता या संयोग का नाम युति है ।

द्रव्य युति के 3 भेद - जीवयुति, पुद्गल युति, जीव पुद्गल युति ।

जीव युति - इनमें सेएक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा या अटवी में जीवों का मिलना जीव युति है ।

पुद्गल युति - वायु के कारण हिलने वाले पत्तों के समान एक स्थान पर पुद्गलों का मिलना पुद्गल युति है ।

जीव पुद्गल युति -जीव और पुद्गलों का मिलना जीव पुद्गल युति है । *(ध. पु. 13, पृ. 348)*

73. **कला** - चित्र कर्म और पत्र छेदन का नाम कला है । *(ध. पु. 13, पृ. 349)*

74. **23 वर्गणाओं के नाम** - 1. एक प्रदेशी वर्गणा, 2. संख्यात प्रदेशी वर्गणा, 3. असंख्यात प्रदेशी वर्गणा, 4. अनंत प्रदेशी वर्गणा, 5. आहार वर्गणा, 6. अग्रहण वर्गणा, 7. तैजस शरीर वर्गणा, 8. अग्रहण वर्गणा, 9. भाषा वर्गणा, 10. अग्रहण वर्गणा, 11. मनो वर्गणा, 12. अग्रहण वर्गणा, 13. कार्माण शरीर वर्गणा, 14. ध्रुवस्कन्ध वर्गणा, 15. सान्तर निरन्तर वर्गणा, 16. ध्रुव शून्य वर्गणा, 17. प्रत्येक शरीर वर्गणा, 18. ध्रुव शून्य वर्गणा, 19. बादर निगोद वर्गणा, 20. ध्रुव शून्य वर्गणा, 21. सूक्ष्म निगोद वर्गणा, 22. ध्रुव शून्य वर्गणा, 23. महा स्कन्ध वर्गणा इस प्रकार ये 23 वर्गणायें जाननी । *(ध. पु. 13, पृ. 351)*

75. **पिण्ड** - बहुत प्रकृतियों के समुदाय को पिण्ड कहा जाता है । *(ध. पु. 13, पृ. 366)*

76. **मुख** - जीव प्रदेशों के विशिष्ट संस्थान को मुख कहते हैं । *(ध. पु. 13, पृ. 371)*

77. **स्त्रियों के आभरण 14** - तिरीट, मुकुट, चूड़ामणि, हार, अर्धहार, कटिसूत्र, कण्ठसूत्र, मुक्तावलि, कटक, अंगद, अंगूठी, कुण्डल, गैवेय और प्रालम्ब ।

खडग और छुरी के साथ पुरुषों के 16 आभरण जानने । *(ध. पु. 13, पृ. 390)*

78. जो नौ आगम भाव प्रकृति है वह अनेक प्रकार की है । यथा -

सुर - जिसकी अहिंसादि अनुष्ठान में रति है वे सुर कहलाते हैं ।

असुर - इससे विपरीत असुर होते हैं ।

नाग - फण से उपलक्षित नाग कहलाते हैं ।

सुपर्ण - शुभ पक्षों के आकार रूप विक्रिय करने में अनुराग रखने वाले सुपर्ण कहलाते हैं ।

किन्नर - गान में रति रखने वाले किन्नर कहलाते हैं ।

किम्पुरुष - प्राय: मैथुन में रुचि रखने वाले किम्पुरुष कहलाते हैं ।

गरुड़ - जिन्हें गरुड़ के आकार रुप विक्रिया करना प्रिय है वे गरुड़ कहलाते हैं ।

गान्धर्व - इन्द्रादिकों के गायकों को गान्धर्व कहते हैं ।

यक्ष - जिनके लोभ की मात्रा अधिक होती है और जो भाण्डागार में नियुक्त किये जाते हैं वे यक्ष कहलाते हैं ।

राक्षस - जिन्हें भीषण रूप की विक्रिया करना प्रिय है वे राक्षस कहलाते हैं ।

मनुज - मनुष्यिनियों के साथ मैथुन कर्म करने वाले मनुज कहलाते हैं ।

महोरग - जिन्हें सर्पाकार विक्रिया करना प्रिय है वे महोरग कहलाते हैं

मृग - जो तिर्यंच रोंधते नहीं हैं वे मृग कहलाते हैं ।

पशु - जो रोंधते हैं वे पशु कहलाते हैं ।

पक्षी - पंखों वाले तिर्यंच पक्षी कहलाते हैं ।

द्विपद - जिनके दो पैर होते है द्विपद कहलाते हैं ।

चतुष्पाद - जिनके चार पैर होते हैं वे चतुष्पाद कहलाते हैं ।

जलचर - मगर, मछली आदि जल में गमन करने वाले तिर्यंचों को जलचर कहते हैं ।

स्थलचर - बाघ, भेड़िया आदि स्थलचर कहलाते हैं ।

खचर (खेचर) - जो आकाश में गमन करते हैं वे खेचर कहलाते हैं ।

देव - जो अणिमादि गुणों के द्वारा क्रीडा करते हैं वे देव कहलाते हैं ।

मानुष- जो मन से उत्कृष्ट होते हैं वे मानुष कहलाते हैं ।

तिर्यंच - जो कुटिलता को प्राप्त होते हैं वे तिर्यंच कहलाते हैं ।

नारक - जो रमते नहीं है वे नारक है।

विशेष - इनकी अपने अनुकूल जो प्रकृति होती है वह सबको आगम भाव प्रकृत है ।

(ध. पु. 13, पृ. 391 व 392)

धवल पुस्तक 14:

संकल्प - द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना करने को संकल्प कहते हैं ।

विकल्प - ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेदों की प्रतीति को विकल्प कहते हैं ।

(समय सार पृ. 34)

1. बन्धन इस अनुयोग द्वार में बन्धन की क्रम से चार प्रकार की विभाषा है । यथा - 1. बन्ध, 2. बन्धक, 3. बन्धनीय और 4. बन्ध विधान । ***(ध. पु. 14, पृ. 1)***

   (1) **बन्ध** - द्रव्य का द्रव्य के साथ तथा द्रव्य और भाव का क्रम से जो संयोग और समवाय होता है वह बन्ध है ।

   (2) **बन्धक** - द्रव्य और भाव के दो से भिन्न दो प्रकार के बन्ध जो करता है वह बन्धक है।

   (3) **बन्धनीय** - बन्ध के योग्य पुद्गल द्रव्य बन्धनीय कहा जाता है ।

   (4) **बन्ध विधान** - प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से भेद को प्राप्त हुए बन्ध के भेदों को बन्ध विधान है । ***(ध. पु. 14, पृ. 2)***

2. भाव बन्ध दो प्रकार है - 1. आगम भाव बन्ध, 2. नो आगम भाव बन्ध ।

   जो आगम भाव बन्ध है, उसका निर्देश इस प्रकार है - स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्र सम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नाम सम और घोष सम । इसके विषय में वाचना, पृच्छना, प्रतीक्षना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा तथा इनसे लेकर जो अन्य उपयोग है उनमें भाव रूप से जितने उपयुक्त भाव है वे सब आगमभाव बन्ध है ।

   (1) **स्थित** - अन्यत्र इसका संचार नहीं होता है, इससे इसकी स्थित संज्ञा है ।

   (2) **जित** - जो जाने हुए अर्थ को धीरे-धीरे कहने के लिये समर्थ होता है वह जित नाम का श्रुतज्ञान है ।

   (3) **परिजित** - जो बारह अंगों को जानकर बिना स्खलन के जाने हुए अर्थ को कहने के लिये समर्थ होता है, वह परिजित नाम का श्रुतज्ञान है ।

   (4) **वाचनोपगत** - जो बारह अंगों को जानकर अन्य के लिये उनका व्याख्यान करने के लिये जो समर्थ है वह वाचनोपगत नाम का आगम है ।

   (5) **सूत्रसम** - आचार्य के उपदेश के बिना सूत्र से ही जो श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है वह सूत्रसम श्रुतज्ञान है ।

(6) **अर्थसम** - अर्थ गणधर देव का नाम है। क्योंकि वे आगमसूत्र के बिना सकल श्रुत ज्ञान रूप पर्याय से परिणित रहते है, इनके समान जो श्रुत ज्ञान होता है, वह अर्थ सम श्रुतज्ञान है ।

(7) **ग्रन्थ सम** - अर्थ बीजपद को कहते है इससे जो समस्त श्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है वह ग्रन्थ सम श्रुत ज्ञान है ।

(8) **नाम सम** - आचार्य के पाद मूल में बारह अंग रूप शब्दागम को सुनकर जिसके कथन करने योग्य अर्थ को विषय करने वाला ही श्रुत ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह नाम सम श्रुतज्ञान है । *(ध. पु. 14, पृ. 8)*

(9) **घोष सम** - बारह अंग रूप शब्दागम को सुनने वाले जिसके सुने हुए अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ को विषय करने वाला श्रुतज्ञान उत्पन्न हुआ है वह घोष सम श्रुतज्ञान है ।

3. (1) **वाचना** - अन्य के लिये व्याख्या करना वाचना है ।

(2) **पृच्छना** - अनिश्चित अर्थ को समझने के लिये प्रश्न करना पृच्छना है ।

(3) **प्रतीक्षना** - आचार्य जिन अर्थो का कथन कह रहे हों उनका सुनना प्रतीक्षना है ।

(4) **परिवर्तना** - जाने हुए अर्थ का हृदय से पुनः पुनः विचार करना परिवर्तना है ।

(5) **अनुप्रेक्षणा** - सूत्र के अर्थ का श्रुत के अनुसार चिन्तन करना अनुप्रेक्षणा है ।

(6) **स्तव** - समस्त श्रुत ज्ञान को विषय करने वाला उपयोग स्तव कहलाता है ।

(7) **स्तुति** - एक अंग या एक पूर्व को विषय करने वाला उपयोग स्तुति कहलाता है ।

(8) **धर्मकथा** - वस्तु और अनुयोग द्वार आदि को विषय करने वाला उपयोग धर्मकथा कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 9)*

4. जीव भाव बन्ध तीन प्रकार का है - 1. विपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध, 2. अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध और 3. तदुभय प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध ।

(1) **विपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध** - कर्मों के उदय और उदीरणा को विपाक कहते हैं और विपाक जिस भाव का प्रत्यय (कारण) हैं उसे विपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध कहते हैं। *(ध. पु. 14, पृ. 10)*

(2) **अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध** - कर्मों के उदय और उदीरणा के अभाव को अविपाक कहते हैं । कर्मों के उपशम और क्षय को अविपाक कहते हैं, अविपाक जिस भाव का प्रत्यय है उसे अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध कहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 10)*

(3) **तदुभय प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध** - कर्मों के उदय व उदीरणा से तथा इसके उपशम से जो भाव उत्पन्न होता है उसे तदुभय प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध कहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 10)*

5. विपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध का निर्देश इस प्रकार है - देवभाव, मनुष्यभाव, तिर्यंचभाव, नारकभाव, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोधवेद, मानवेद, मायावेद, लोभवेद, रागवेद, दोषवेद, मोहवेद, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, असंयतभाव, अविरत भाव, अज्ञान भाव और मिथ्यादृष्टि भाव तथा इसी प्रकार कर्मोदय प्रत्ययिक उदय विपाक से उत्पन्न हुए और जितने भाव है वे सब विपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध है । यथा - देवगति नाम कर्म के उदय से जो अणिमा आदि गुणों को प्राप्त करता है वह देवभाव है । शेष भी इसी प्रकार जानना । *(ध. पु. 14, पृ. 11)*

6. **शंका - संयम और विरति में क्या भेद हैं ?**
समाधान - समितियों के साथ महाव्रत और अणुव्रत संयम कहलाते हैं । और समितियों के बिना महाव्रत और अणुव्रत विरति कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 12)*

7. अविपाक प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध दो प्रकार है - 1. औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध, 2. क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध । *(ध. पु. 14, पृ. 12)*

8. जो औपशमिक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है - उपशान्त क्रोध, उपशान्त मान, उपशान्त माया, उपशान्त लोभ, उपशान्त राग, उपशान्त दोष, उपशान्त मोह, उपशान्त कषाय, वीतराग छद्मस्थ, औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र तथा इनसे लेकर और जितने औपशमिक भाव है वह सब औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध है । यथा -

9. (1) **उपशान्त क्रोध** - अनिवृत्ति करण में क्रोध के उपशम से जो भाव होता है वह औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है क्योंकि वह द्रव्य क्रोध और भाव क्रोध के उपशम से उत्पन्न होता है । इसी प्रकार मान माया और लोभ में भी जानना। **उपशान्त राग** जीव में जो भाव होता है वह औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध है क्योंकि वह भाव, लोभ, हास्य, रति और तीन वेद रूप द्रव्य कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 14)*

(2) **उपशान्त दोष** - जीव में जो भाव होता है वह औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध है क्योंकि वह क्रोध, मान, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा रूप द्रव्य कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 14)*

(3) **उपशान्त कषाय** - उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ जीव में जो भाव होता है वह औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है क्योंकि वह पच्चीस कषाय रूप द्रव्य कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 15)*

(4) **औपशमिक सम्यक्त्व** - जो औपशमिक सम्यक्त्व है वह भी औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध है क्योंकि वह तीन प्रकार के दर्शन, मोहनीय, द्रव्य कर्म के उपशम से उत्पन्न होता है ।

(5) **औपशमिक चारित्र** - जो औपशमिक चारित्र है वह भी औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है क्योंकि वह चारित्र मोहनीय की देशोपशमना और सर्वोपशमना से उत्पन्न होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 14)*

विशेष - चूंकि ये पूर्वोक्त भाव और दूसरे भी अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्म साम्पराय और उपशान्त कषाय गुणस्थानों में प्रत्येक समय में उत्पन्न होने वाले जो जीव के भाव है वह सब औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध है *(ध. पु. 14, पृ. 15)*

जो क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्ध है इसका निर्देश इस प्रकार है - क्षीण क्रोध, क्षीण मान, क्षीण माया, क्षीण लोभ, क्षीण राग, क्षीण दोष, क्षीण मोह, क्षीण कषाय, वीतराग, छद्मस्थ, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दानलब्धि, क्षायिक लाभ लब्धि, क्षायिक भोग लब्धि, क्षायिक उपभोग लब्धि, क्षायिक वीर्य लब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध, वृद्ध, परिनिर्वृत्त, सर्वदु:ख अन्तकृत् इसी प्रकार (और भी जो दूसरे क्षायिक भाव होते हैं वह सब क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 15)*

10. **क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध** - क्षीण क्रोध जीव में जो भाव होता है वह क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है । क्योंकि द्रव्य और भाव क्रोध के सर्वथा क्षय हो से उत्पन्न होता है । इसी प्रकार क्षीण मानादि भी जानने । *(ध. पु. 14, पृ. 16)*

11. **शंका - अरिहन्तों के दानान्तराय का तो क्षय हो गया फिर वे सब जीवों को इच्छित अर्थ क्यों नहीं देते ?**

समाधान - नहीं, क्योंकि उन जीवों के लाभान्तर कर्म का सद्भाव पाया जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 17)*

12. जो तदुभय प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है - क्षयोपशमिक एकेन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक द्विइन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक त्रीन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक चतुरिन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक पंचेन्द्रिय लब्धि, क्षयोपशमिक मत्यज्ञानी, क्षयोपशमिक श्रुताज्ञानी, क्षयोपशमिक विभंग ज्ञानी, क्षयोपशमिक अभिनिबोधिक ज्ञानी, क्षयोपशमिक श्रुत ज्ञानी, क्षयोपशमिक अवधि ज्ञानी, क्षायोपशमिक मन: पर्ययज्ञानी, क्षयोपशमिक चक्षु दर्शनी, क्षायोपशमिक अचक्षुदर्शनी, क्षायोपशमिक अवधि दर्शनी, क्षायोपशमिक सम्यग्मिथ्यात्व लब्धि, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व लब्धि, क्षयोपशमिक संयमासंयम लब्धि, क्षायोपशमिक संयम लब्धि, क्षायोपशमिक दान लब्धि, क्षायोपशमिक लाभ लब्धि, क्षयोपशमिक भोग लब्धि, क्षायोपशमिक उपभोग लब्धि, क्षायोपशमिक वीर्य लब्धि, क्षायोपशमिक आचार धर, क्षायोपशमिक सूत्रकृद्धर, क्षायोपशमिक स्थान धर, क्षायोपशमिक समवायधर, क्षयोपशमिक व्याख्या प्रज्ञप्ति धर, क्षायोपशमिक नाथ धर्म धर, क्षायोपशमिक उपासकाध्ययन धर, क्षायोपशमिक अन्तकृद्धर, क्षायोपशमिक अनुत्तरौपपादिक दशधर, क्षायोपशमिक प्रश्न व्याकरणधर, कक्षायोपशमिक विपाक सूत्रधर, क्षायोपशमिक दृष्टिवादधर, क्षायोपशमिकगणी,

क्षायोपशमिक वाचक, क्षायोपशमिक दशपूर्वधर, क्षायोपशमिक चतुर्दशपूर्वधर, ये इसी प्रकार के और भी दूसरे जो क्षायोपशमिक भाव हैं वह सब तदुभय प्रत्ययिक तथा जीव भाव बन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 19)*

13. अजीव भाव बन्ध तीन प्रकार का है - 1. विपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध, 2. अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध, 3. तदुभय प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध ।

14. **विपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध** - मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से या पुरुष के प्रयत्न जो अजीव भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी विपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध यह संज्ञा है

विशेष - यहाँ विपाक से पुरुष का प्रयत्न या उसके मिथ्यात्व आदि भाव लिये हैं इनके निमित्त से पुद्गल की जो रूप रसादि पर्याय या दूसरी अवस्थायें होती हैं वे विपाक प्रत्ययिक अजीवभाव बन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 22-23)*

15. **अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध** - जो अजीव भाव मिथ्यात्व आदि कारणों के बिना उत्पन्न होते हैं अथवा जो पुरुष के प्रयत्न के बिना पुद्गल के बन्ध रूप विविध प्रकार के परिणमन होते हैं वे अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 23)*

16. **तदुभय प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध** - जो दोनों ही कारणों से उत्पन्न होते हैं अथवा इन दोनों रूप होते हैं उनकी तदुभय प्रत्ययिक अजीव भाव संज्ञा है । *(ध. पु. 14, पृ. 23)*

17. जो विपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध होता है उसका निर्देश इस प्रकार है -

1. **प्रयोग परिणत वर्ण** - वर्ण नाम कर्म के उदय से औदारिक शरीर के स्कन्धों में उत्पन्न हुए 'वर्ण प्रयोग परिणत वर्ण' है । या हल्दी चूने के योग से अथवा पूगफल और पर्मचूर्ण से उत्पन्न हुए वर्ण भी प्रयोग परिणत वर्ण है ।

2. **प्रयोग परिणत शब्द** - शंख, वीणा, बांस, भेरी, पटह, झालर और मृदंग के शब्द और कण्ठ ओष्ठ आदि से उत्पन्न हुए शब्द भी प्रयोग परिणत शब्द है । *(ध. पु. 14, पृ. 24)*

3. **प्रयोग परिणत गंध** - गंध बनाने की युक्ति का कथन करने वाले शास्त्र में जो विधि कही है उसके अनुसार उत्पन्न किये गये गंध प्रयोग परिणत गंध है । *(ध. पु. 14, पृ. 24)*

4. **प्रयोग परिणत रस** - भोजन शास्त्र में कही गई विधि के अनुसार उत्पन्न किये गये रस 'प्रयोग परिणत' रस है या रस नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए रस 'प्रयोग परिणत रस' है । *(ध. पु. 14, पृ. 24)*

5. **प्रयोग परिणत स्पर्श** - स्पर्श नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए आठ प्रकार के स्पर्श 'प्रयोग परिणत स्पर्श' है । अथवा रूई आदि में संस्कार से जो आठ प्रकार के स्पर्श उत्पन्न किये जाते हैं, वे 'प्रयोग परिणत स्पर्श' है । *(ध.पु. 14, पृ. 24)*

6. **प्रयोग परिणत गति** - लकड़ी, शैल, यन्त्र, गोफन और पत्थर आदि की गति 'प्रयोग परिणत गति' है ।

7. **प्रयोग परिणत अवगाहना** - कृत्रिम जिनभवन आदि की अवगाहना 'प्रयोग परिणत अवगाहना' है ।

8. **प्रयोग परिणत संस्थान** - बनाये गये काष्ठ, शिला, स्तम्भ और तराजू आदि के आकार 'प्रयोग परिणत संस्थान' है ।

9. **प्रयोग परिणत स्कन्ध** - बनाये गये घट, पिढ़र और राजन आदि के भी स्कन्ध 'प्रयोग परिणत स्कंध' है । *(ध. पु. 14, पृ. 24)*

10. **प्रयोग परिणत स्कन्ध देश** - प्रयोग परिणत स्कन्धों का चौथा भाग या तृतीय भाग 'प्रयोग परिणत स्कन्ध देश' है । *(ध. पु. 14, पृ. 24)*

11. **प्रयोग परिणत स्कन्ध प्रदेश** - भेद को प्राप्त हुए प्रयोग परिणत स्कन्धों का चौथा भाग या पांचवाँ भाग 'प्रयोग परिणत स्कन्ध प्रदेश' है । *(ध. पु. 14, पृ. 24)*

विशेष - ये या इनसे लेकर इसी प्रकार के प्रयोग परिणत जो दूसरे भी संयुक्त भाव हैं वह सब विपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 24)*

18. जो अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है -

1. **विस्रसा परिणत वर्ण** - अकृत्रिम भवन, विमान, मेरु पर्वत और कुल पर्वत आदि के वर्ण या पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के अकृत्रिम वर्ण विस्रसा परिणत वर्ण हैं ।

2. **विस्रसा परिणत शब्द** - बाँस आदि मूर्त द्रव्यों के संघर्षण से उत्पन्न हुए शब्द विस्रसा परिणत शब्द हैं ।

3. **विस्रसा परिणत गंध** - कस्तूरी, कुमकुम, अगुरु और तमाल पत्र आदि की जो स्वभाविक गंध होती है वह विस्रसा परिणत गन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 25)*

4. **विस्रसा परिणत रस** - जम्बू, जंबीर, पनस और आम्र आदि फलों के तथा फूल और अंकुर आदि के जो स्वभाविक रस होते हैं वे विस्रसा परिणत रस हैं ।

5. **विस्रसा परिणत स्पर्श** - पद्म और उत्पल आदि के जो स्वभाविक स्पर्श होते हैं वे विस्रसा परिणत स्पर्श है ।

6. **विस्रसा परिणत गति** - चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं की तथा वायु की जो गति होती है वह विस्रसा परिणत गति है ।

7. **विस्रसा परिणत अवगाहना** - अकृत्रिम भवन, विमान और जिनघर आदि तथा सिद्ध क्षेत्र के आकाश की अवगाहना है वह विस्रसा परिणत अवगाहना है ।

शंका - जिन पदार्थों में पूर्व निर्दिष्ट गंध, रस और स्पर्श नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए गंध, रस और स्पर्श होते हैं वे अविपाक प्रत्यय नहीं बन सकते ?

समाधान - यदि ऐसा है तो इन्हें छोड़कर पुद्गलों के जो स्वभाविक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं वे यहाँ पर लेने चाहिये । ***(ध. पु. 14, पृ. 25)***

8. **विस्रसापरिणत संस्थान** - चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारकाओं के भवन, विमान और कुलाचल आदि के जो स्वभाविक संस्थान होते हैं ये विस्रसा परिणत संस्थान है ।

9. **विस्रसा परिणत स्कन्ध** - उन्हीं चन्द्र, सूर्य बिम्ब आदि के जो स्कन्ध होते हैं वे विस्रसा परिणत स्कन्ध हैं ।

10. **विस्रसा परिणत स्कन्ध देश** - स्वभाव से परिणत हुए मेघादिक के स्कन्धों के जो स्कन्ध होते हैं वे विस्रसा परिणत स्कन्ध देश है ।

11. **विस्रसा परिणत स्कन्ध प्रदेश** - मेघ, इन्द्र-धनुष, बिजली-चंद्र और सूर्य आदि के जो अवयव होते हैं वे विस्रसा परिणत स्कन्ध प्रदेश हैं ।

विशेष - ये पूर्वोक्त और इनसे लेकर इसी प्रकार के विस्रसा परिणत और भी जो संयोग को प्राप्त हुए भाव है वह सब अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध है ।

(ध. पु. 14, पृ. 26-27)

19. जो तदुभय परिणत अजीव भाव बन्ध हैं उसका निर्देश इस प्रकार है - प्रयोग परिणत स्कन्धों के वर्णादि के साथ विस्रसा परिणत स्कन्धों के वर्णों का जो संयोग होता है वह तदुभय प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध है । अर्थात् सूत्रगत के वर्णादि से स्कन्ध प्रदेश तक ये और इनसे लेकर प्रयोग परिणत और विस्रसा परिणत जितने भी संयुक्त भाव हैं वह सब तदुभय प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध है । ***(ध. पु. 14, पृ. 26-27)***

20. यहाँ संयोग सम्बन्ध और समवाय सम्बन्ध दोनों ग्रहण किये गये हैं ।

21. संयोग दो प्रकार के हैं - 1. देश प्रत्यासक्ति कृत संयोग सम्बन्ध और 2. गुण प्रत्यासक्ति कृत संयोग सम्बन्ध ।

(1) **देश प्रत्यासक्ति कृत संयोग** - दो द्रव्यों के अवयवों का सम्बद्ध होकर रहना यह देश प्रत्यासक्ति कृत संयोग है ।

(2) **गुण प्रत्यासक्ति कृत संयोग** - गुणों के द्वारा जो परस्पर एक दूसरे को ग्रहण करना वह गुणप्रत्यासक्ति कृत संयोग सम्बन्ध है । ***(ध. पु. 14, पृ. 27)***

22. द्रव्य बन्ध दो प्रकार के है - 1. आगम द्रव्य बन्ध और 2. नो आगम द्रव्य बन्ध ।

23. स्थितजित आदि से लेकर धर्मकथा पर्यन्त तथा इनसे लेकर जो अन्य अनुप्रयोग हैं उनमें द्रव्य निक्षेप रूप से जितने अनुपयुक्त भाव हैं वे सब आगम द्रव्य बन्ध है ।

(ध. पु. 14, पृ. 27 व 28)

विशेषार्थ - यहाँ आगम के भेद और उनके प्रयोग के प्रकार बतलाकर अनुपयुक्त दशा में आगम द्रव्य बन्ध कहा है, आशय यह है कि बन्ध विषयक शास्त्र के जितने प्रकार के जानकार है और उनके उपयोग हैं वे सब जब अनुपयुक्त दशा में रहते हैं तब उनकी आगम द्रव्य संज्ञा है । *(ध.पु. 14, पृ. 28)*

24. नो आगम द्रव्य दो प्रकार का है - 1. प्रयोग बन्ध और विस्रसा बन्ध ।

विशेष - इसका आगे अधिक कथन होने से यहाँ कथन स्थगित है ।

25. विस्रसा बन्ध दो प्रकार का है - सादि विस्रसा बन्ध और अनादि विस्रसा बन्ध ।

विशेष - सादि विस्रसा बन्ध का वर्णन आगे बहुत होने से यहाँ स्थगित है ।

26. अनादि विस्रसा बन्ध तीन प्रकार है - 1. धर्मास्तिक विषयक, 2. अधर्मास्तिक विषयक, 3. आकाशास्तिक विषयक ।

27. एक-एक द्रव्य बन्ध तीन प्रकार का है यथा - 1. धर्मास्तिक, 2. धर्मास्तिक देश, 3. धर्मास्तिक प्रदेश अधर्मास्तिक, अधर्मास्तिक देश, अधर्मास्तिक प्रदेश, आकाशास्तिक, आकाशास्तिक देश व आकाशास्तिक प्रदेश, इन तीनों ही अस्तिकायों का परस्पर प्रदेश बन्ध होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 29)*

28. **धर्मास्तिक** - धर्मद्रव्य के सब अवयवों के समूह का नाम धर्मास्तिक है ।

29. **धर्मास्तिक बन्ध** - अवयवी रूप इस धर्मास्तिक का अपने अवयवों के साथ जो बन्ध है वह धर्मास्तिक बन्ध कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 30)*

30. **धर्मास्तिक देश** - इसके आधे से लेकर चौथे भाग तक के हिस्से को धर्मास्तिक देश कहते हैं ।

31. **धर्मास्तिक देश बन्ध** - इन धर्मास्तिक के देशों का अपने अवयवों के साथ जो बन्ध है वह धर्मास्तिक देश बन्ध कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 30)*

32. **धर्मास्तिक प्रदेश** - इसी के चौथे भाग से लेकर आगे के सब अवयव प्रदेश कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 30)*

33. **धर्मास्तिक प्रदेश बन्ध** - इन अवयवों का परस्पर जो बन्ध है वह धर्मास्तिक प्रदेश बन्ध कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 30)*

विशेष - इसी प्रकार अधर्मास्तिक और आकाशास्तिक के सम्बन्ध में कथन करना चाहिये । इन तीनों ही अस्तिकायों का जो परस्पर में प्रदेश बन्ध होता है वह सब अनादि विस्रसाबन्ध है ।

34. सादि विस्रसा बन्ध का निर्देश - विसदृश स्निग्धता, विसदृश रूक्षताबन्ध है ।

35. मादा का अर्थ सदृशता है । जिसमें सदृशता नहीं होती उसे विमादा कहते हैं *(ध. पु. 14, पृ. 30)*

36. द्विमात्रा अर्थात् मात्रा का अर्थ अविभाग प्रतिच्छेद है । उसका प्रमाण - गुण की जघन्य वृद्धिमात्र उसका प्रमाण है । *(ध. पु. 14, पृ. 32)*

37. दो अविभाग प्रतिच्छेद अधिक स्निग्ध पुद्गलों का दो अविभाग प्रतिच्छेद हीन स्निग्ध पुद्गलों के साथ बन्ध होता है तथा दो अविभाग प्रतिच्छेद अधिक रुक्ष पुद्गलों का दो अविभाग प्रतिच्छेद हीन रुक्ष पुद्गलों के साथ बन्ध होता है इस प्रकार बन्ध को प्राप्त होकर वे पुद्गल परिणमन करते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 35)*

38. **सादि विस्त्रसाबन्ध** - इस प्रकार वे पुद्गल बन्ध परिणाम को प्राप्त होकर विविध प्रकार के अभ्र रूप से, मेघ रूप से, सन्ध्या रूप से, बिजली रूप से, उल्का रूप से, कनक रूप से, दिशादाह रूप से, धूमकेतु रूप से, इन्द्रधनुष रूप से, क्षेत्र के अनुसार, काल के अनुसार, ऋतु के अनुसार, अयन के अनुसार, पुद्गल के अनुसार, जो बन्धन परिणाम रूप से परिणत होते हैं वह सब सादि विस्त्रसाबन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 34)*

(1) **अभ्र** - वर्षा ऋतु के सिवा अन्य समय में जो मेघ होते हैं वे अभ्र कहलाते हैं ।

(2) **मेघ** - उन अभ्र रूप से जो परिणत होते है अथवा वर्षा ऋतु में जो कृष्ण वर्ण के बादल होते हैं वे मेघ कहलाते हैं ।

(3) **सन्ध्या** - सूर्योदय के समय और सूर्यास्त के समय पूर्वा पर दिशाओं में जो जपा कुसुमके सदृश दिखाई देती है वह सन्ध्या कहलाती है ।

(4) **विद्युत** - जो रक्त-धवल और श्याम वर्ण की होती है जिसमें अत्यधिक तेज होता है जो कुपित हुए भुजंग के समान चञ्चल शरीर वाली होती है और जो मेघों में उपलब्ध होती है वह विद्युत कहलाती है ।

(5) **उल्का** - जो जलते हुए अग्नि पिण्ड के समान अनेक आकार वाली होकर आकाश से गिरती है वह उल्का कहलाती है ।

(6) **कनक** - जिससे मनुष्य, पशु, पक्षी मर जाते है तथा जो वृक्ष और पर्वतों के शिखरों का विदारण करती है ऐसी अशनि को कनक कहते हैं ।

(7) **दिशादाह** - उत्पात काल में अग्नि के बिना दावानल के समान जो दसों दिशाओं में उपलब्ध होता है उसे दिशादाह कहते हैं ।

(8) **धूमकेतु** - उत्पात काल में ही धूमयष्टि के समान जो आकाश में उपलब्ध होता है उसे धूमकेतु कहते हैं ।

(9) **इन्द्रायुध** - जो पांच वर्ण का होकर धनुषाकार रूप से या त्रुटित आकार रूप से पूर्वापर दिशाओं में उपलब्ध होता है उसे इन्द्रायुध कहते हैं ।

शंका - इन मेघ आदि से लेकर इन्द्रायुध पर्यंत आकार रूप से वे पुद्गल परिणत किस कारण से होते हैं ?

समाधान - अपने-अपने योग्य क्षेत्र कालादि को प्राप्त होकर वे पुद्गल उन मेघ आदि के आकार रूप से परिणत होते हैं । अन्यथा सर्वत्र और सर्वदा उनकी उत्पत्ति का प्रसंग आता है । *(ध. पु. 14, पृ. 36)*

(10) **क्षेत्र** - विशिष्ट आकार देश का नाम क्षेत्र है ।

(11) **काल** - शीत, उष्ण और वर्षा से उपलक्षित समय का नाम काल है ।

(12) **ऋतु** - शिशिर, वसन्त, निदाघ, वर्षा, शरद और हेमन्त का नाम ऋतु है ।

(13) **अयन** - सूर्य का दक्षिण और उत्तर को नमन करना अयन है ।

(14) **पुद्गल** - जिनका पूरण और गलन स्वभाव है वे पुद्गल कहलाते हैं ।

विशेष - जो ये और अन्य शरीर मल आदि पदार्थ हैं यहाँ प्रभृति शब्द से सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र इनका उपराग तथा परिवेश और गन्धर्व नगर आदि लेने चाहिये । यह सब सादिविस्रसा बन्ध है ।

विशेषार्थ - आगम द्रव्य बन्ध के सिवा शेष सब बन्ध नो आगम द्रव्य बन्ध कहलाता है । इसके प्रयोग बन्ध और विस्रसाबन्ध ये दो भेद हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 36)*

(1) **प्रयोग बन्ध** - जीव के व्यापार द्वारा जो बन्ध समुत्पन्न होता है अर्थात् जिसमें जीवके व्यापार की अपेक्षा होती है वह प्रयोग बन्ध कहलाता है ।

(2) **विस्रसा बन्ध** - जो जीव के व्यापार के बिना अपनी योग्यतानुसार हो जाता है वह विस्रसाबन्ध कहलाता है ।

यहाँ सादि विस्रसा बन्ध का विचार किया जा रहा है यह पुद्गलों की अपनी-अपनी योग्यानुसार होता है यों तो जितने भी कार्य होते हैं वे सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होते हैं किन्तु बाह्यनिमित्त को ध्यान में रखकर बन्ध के प्रयोग बन्ध और विस्रसा बन्ध के ये भेद किये गये हैं । कर्मबन्ध प्रयोगबन्ध में आता है। पर समय प्राभृत में लिखा है कि रागादि का निमित्त पाकर कर्म पुद्गल स्वयं कर्मरूप से परिणत होते हैं । और कर्म का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप से परिणमन करता है । समय प्राभृत के उक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बलात् अन्य-अन्य का परिणमन कराने वाला कोई नहीं है किन्तु एक दूसरे का निमित्त पाकर प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन करता है *(ध. पु. 14, पृ. 36)*

39. प्रयोग बन्ध दो प्रकार है - कर्मबन्ध और नो कर्म बन्ध । *(ध. पु. 14, पृ. 36)*

40. नो कर्म बन्ध पाँच प्रकार का है -

(1) **आलापन बन्ध** - रस्सी, वरत्रा (रस्सी विशेष) और काष्ठ द्रव्य आदिक से जो पृथग्भूत द्रव्य बांधे जाते हैं वह आलापन बन्ध है ।

(2) **अल्लीबन बन्ध** - लेप विशेष से परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त हुए द्रव्यों का जो बन्ध होता है वह अल्लीवन बन्ध कहलाता है ।

(3) **संश्लेष बन्ध** - आलापन बन्ध और अल्लीवन बन्ध के बिना चिक्कण और अचिक्कण द्रव्यों का अथवा चिक्कण द्रव्यों का परस्पर बन्ध होता है वह संश्लेष बंध कहलाता है ।

(4) **शरीर बन्ध** - पाँच शरीरों का जो परस्पर बन्ध होता है वह शरीर बन्ध है ।

(5) **शरीरि बन्ध** - जीव प्रदेशों का जीव प्रदेशों के साथ और पांच शरीरों के साथ जो बन्ध होता है वह शरीरि बन्ध कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 37)*

41. **आलापन बन्ध निर्देश** - जो शकटों का, यानो का, युगों का, गड्डियों का, गिल्लियों का, रथों का, स्पन्दों का, शिविकाओं का, ग्रहों का, प्रासादों का, गोपुरों का, तोरणों का, काष्ट से, लोट से, रस्सी से, चमड़े की रस्सी से और दर्भ से जो बन्ध होता है तथा इनसे लेकर अन्य द्रव्यों से आलापित अन्य द्रव्यों का जो बन्ध होता है वह सब आलापन बन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 38)*

(1) **शकट** - जिसकी धुर, गाड़ी का नाभि और महाचक्र लोहे से बंधे हुए हैं जिनके छुट्य पर्यन्त लोहे से बन्धे हुए है और जो नमक आदि भारी भार को ढोने में समर्थ है वे शकट कहलाते हैं ।

(2) **यान** - नाना प्रकार के भाण्डों से आपूरित होकर भी समुद्र में गमन करने में समर्थ जो जहाज होते हैं वे यान कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 38)*

(3) **युग** - जो बहुत भारी होने से और बहुत बड़े होने से घोड़ा और खच्चर आदि के द्वारा ढोया जाता है वह युग कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 38)*

(4) **गड्डी** - जिन के दो चके छोटे है और जो धान्यादि हलके भार के ढोने से समर्थ है वे गड्डी कहलाती है । *(ध. पु. 14, पृ. 38)*

(5) **गिल्ली** - फिरकी को गिल्ली कहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 38)*

(6) **फिरक्की** - जिसकी नेमि और तुम्ब की आधारभूत आठ लकड़ियाँ वर्तुलाकार चुन्द से घटित है उसे फिरक्की कहते है । *(ध. पु. 14, पृ. 38)*

(7) **रथ** - जो युद्ध में अधिरथी और महारथियों के चढ़ने योग्य होते हैं वे रथ कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 38)*

(8) **स्पन्दन** - जो चक्रवर्ती और बलदेवों के चढ़ने योग्य होते हैं जो सब आयुधों से परिपूर्ण होते हैं । जो पवन के समान वेग वाले होते हैं और धुर के टूट जाने पर भी जिनके चक्रों की इस प्रकार की रचना होती है जिस गुण के कारण जिनके गमनागमन में बाधा नहीं पड़ती वे स्पन्दन कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 39)*

(9) **शिविका** - जो मनुष्यों द्वारा उठाकर ले जाई जाती हैं, वे शिविका कहलाती हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 39)*

(10) **गृह** - जिनकी भीत लकड़ियों की बनाई जाती है और जिनका छप्पर बाँस और तृण से छाया जाता है, वे गृह कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 39)*

(11) **प्रासाद** - ईंटों और पत्थरों के बने हुए पत्थर बहुल आवासों को प्रासाद कहतेहैं । *(ध. पु. 14, पृ. 39)*

(12) **गोपुर** - कोटों के दरवाजों पर जो घर बने होते हैं वे गोपुर कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 39)*

(13) **तोरण** - प्रत्येक पुर और प्रासादों पर वन्दन माला बाँधने के लिये आगे जो वृक्ष विशेष रखे जाते हैं वे तोरण कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 39)*

विशेष - इन पूर्वोक्त शकट आदि के जो बन्ध होते हैं वे आलापन बन्ध कहलाते हैं ।

शंका - इनका बन्धन किस पदार्थ से होता है ?

समाधान - काष्ठ से, लोहे से, रस्सी से, वर्ध से और दर्भ से होता है । 'वा' शब्द से वकले से, शुम्ब अर्थात् तृण विशेष से और लकड़ी से होता है । इत्यादि अर्थ लेना चाहिये । काष्ठ आदि अन्य द्रव्यों से जो आलापित अर्थात् परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त हुए अन्य द्रव्यों का जो बन्ध होता है वह सब आलापन बन्ध है ।

42. अल्लीवण बन्ध है उसका यह निर्देश है - कटकों का, कुड्डों का, गोबर पीडों का, प्राकारों का और शाटिकाओं का तथा इनसे लेकर और जो दूसरे पदार्थ है उनका जो बन्ध होता है अर्थात् अन्य द्रव्यों से सम्बन्ध को प्राप्त हुए अन्य द्रव्यों का जो बन्ध होता है वह सब अल्लीवण बन्ध है ।

(1) **कटक** - बाँस की कमचियों के द्वारा परस्पर बुनकर घर और अवन आदि के ढाकने के लिये जो बनाई जाती हैं वे कटक अर्थात् चटाई कहलाती है ।

(2) **कुड्डू** - जिनगृह, घर और अवन की जो भीतें बनाई जाती हैं उन्हें कुड्डु कहते हैं । कुड्डों का जो पुद्गल बन्ध होता है वह अल्लीवण बन्ध कहलाता है । वर्ध्र-दर्भ-लोह-काष्ठ और रस्सी के बन्ध बिना परस्पर मिलाने मात्र से ही यह बन्ध उपलब्ध होता है । यह बन्ध संश्लेष बंध के अन्तर्भूत होकर यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि, गीली मिट्टी में चिक्कण गुण का अभाव है ।

(3) **गोबर पीड़** - गोबर से लेपकर जो पीड बनाये जाते हैं वे गोबर पीड कहलाते हैं ।

(4) **प्राकार** - जिन गृह आदि की रक्षा के लिये पार्श्व में जो भीतें बनाई जाती हैं वे प्राकार कहलाते हैं । अथवा पकी हुई ईटों से जो वरण्डा बनाये जाते हैं वे प्राकार कहलाते हैं । यहाँ भी ईंटों से पृथग्भूत बन्ध के कारण नहीं पाये जाते । *(ध.पु. 14, पृ.40)*

शंका - पहले ईंटों से बने हुए प्रासाद और गोपुर आदि का आलापन बन्ध कहा है ऐसा कह आये हैं और अब यहाँ अल्लीवण बन्ध कह रहे हैं सो यह कथन कैसे विरोध को प्राप्त नहीं होता ?

समाधान - नहीं, क्योंकि प्रासाद और गोपुर आदि का लोहे से तथा लोह और काष्ठ की कीलों से बन्ध देखकर आलापन बंध कहा है परन्तु उनकी भीतों का तो अल्लीवण बन्ध ही होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है । *(ध. पु. 14, पृ. 40)*

(5) **शाटिका** - स्त्रियों के द्वारा देश विशेष में जी पहिनी जाती हैं वे शाटिका कहलाती हैं तथा इनका जो तन्तु सन्तान बन्ध होता है वह अल्लीवण बंध है क्योंकि इनमें तन्तुओं के सिवा अलग से बन्ध के कारण उपलब्ध नहीं होते । 'अण्णे एवमादिया' इस वचन से नेत्र पट्ट और कपास के सूत से बुने हुए वस्त्रों का ग्रहण करना चाहिये ।

43. जो संश्लेष बन्ध है उसका यह निर्देश है - जैसे परस्पर संश्लेष को प्राप्त हुए काष्ठ और लाख का बन्ध होता है वह संश्लेष बंध है । जतु (लाख) और काष्ठ के परस्पर संश्लेष से जो बन्ध होता है वह संश्वलेष बन्ध है ।

विशेष - यह बन्ध अल्लीवण बन्ध में अन्तर्भूत नहीं होता क्योंकि यहाँ पानी से संयोग को प्राप्त हुए द्रव्य का अभाव है, आलापन बन्ध में भी अन्तर्भूत नहीं होता, क्योंकि, इनसे पृथग्भूत द्रव्यादि बन्ध के कारण नहीं है । *(ध. पु. 14, पृ. 41)*

44. जो शरीर बन्ध है वह पाँच प्रकार का है - औदारिक शरीर बन्ध, वैक्रियक शरीर बन्ध, आहारक शरीर बन्ध, तैजस शरीर बंध और कार्माण शरीर बंध । यह पाँच प्रकार का ही शरीर बन्ध पाया जाता है इनसे पृथग्भूत दूसरा शरीर बन्ध नहीं पाया जाता । *(ध. पु. 14, पृ. 41)*

45. औदारिक स्कन्धों का वैक्रियक और आहारक शरीर के साथ बन्ध नहीं होता, क्योंकि औदारिक शरीर रूप से परिणत हुए जीव में शेष दो शरीरों का अभाव पाया जाता है ।

शंका - इसके वैक्रियक शरीर का अभाव भले ही रहा आवे क्योंकि उसका अस्तित्व देव और नारकियों के देखा जाता है, किन्तु आहारक शरीर तो मनुष्यों के ही होता है, इसलिये औदारिक शरीर के साथ आहारक शरीर का सम्बन्ध होना चाहिये ?

समाधान - नहीं, क्योंकि आहारक शरीर से परिणमन करने वाले जीवों के औदारिक शरीर का उदय नहीं होने से उसके साथ सम्बन्ध नहीं होता । *(ध. पु. 14, पृ. 43)*

46. **औदारिक, तैजस, कार्माण शरीर बन्ध** - एक जीव में निविष्ट हुए औदारिक शरीर, तैजस शरीर और कार्माण शरीर के स्कन्धों का जो परस्पर बन्ध होता है वह औदारिक, तैजस, कार्माण शरीर बन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 43)*

विशेष - पाँच प्रकार का शरीर बन्ध भंगों की अपेक्षा पन्द्रह प्रकार का शरीर बन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 44)*

47. जो शरीरि बन्ध है वह दो प्रकार है - सादि शरीरि बन्ध और अनादि शरीरि बन्ध ।

48. **सादि शरीरि बन्ध** - जो सादि शरीरि बन्ध है वह शरीर बन्ध के समान जानना । शरीरि जीव को कहते हैं उसका जो औदारिक आदि शरीरों के साथ बन्ध होता है वह शरीरि बन्ध है । इसके भंगों का कथन जिस प्रकार शरीर के भंगों का कथन किया है उसी प्रकार करना चाहिये । यथा - औदारिक शरीर के साथ शरीरि का बन्ध, वैक्रियिक शरीर के साथ शरीरि का बन्ध, आहारक शरीर के साथ शरीरि का बन्ध, तैजस शरीर के साथ शरीरि का बन्ध, कार्माण शरीर के साथ शरीरि का बन्ध और शरीरि के साथ शरीर का बंध ।

शंका - यहाँ छठवाँ भंग कैसे बन सकता है ?

समाधान - नहीं क्योंकि जो कर्म और जो कर्मों का अनादि सम्बन्ध होने से मूर्तपने को प्राप्त हुआ है और जिसके घन लोक प्रमाण जीव प्रदेश योग के वश से संकोच और विस्तार धर्म वाले है ऐसे जीव के अवयवों के परतन्त्र लक्षण सम्बन्ध से छठे भंग की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं आता । *(ध. पु. 14, पृ. 45)*

49. **अनादि शरीरि बन्ध** - जो जीव के आठ मध्यप्रदेशों का परस्पर प्रदेश बन्ध होता है यह सब अनादि शरीरि बन्ध है ।

शंका - जीव के 8 मध्यप्रदेशों का जो बन्ध है वह अनादि शरीरि बन्ध है यह ठीक है किन्तु यह प्रयोग बन्ध नहीं है, क्योंकि यह स्वभाविक होता है ।

समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि दृष्टान्त द्वारा अनादि शरीरि बन्ध का यहाँ निर्देश किया है। जिस प्रकार जीव के आठ मध्य प्रदेशों का अनादि बन्ध होता है उसी प्रकार शरीर का जो पूर्वकाल की मर्यादा से रहित बन्ध है वह अनादि शरीरि बन्ध है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 46)*

50. शरीरि का कर्म और नो कर्म सामान्य के साथ जो बन्ध है वह अनादि शरीरि बन्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 46)*

51. जो बन्धनीय है उसका इस प्रकार अनुगमन करते हैं । वेदन स्वरूप पुद्गल है, पुद्गल स्कन्ध स्वरूप है और स्कन्ध वर्गणा स्वरूप हैं ।

52. **बन्धनीय** - जो वेदे जाते हैं उन्हें वेदन कहते हैं जीव से पृथग्भूत बन्ध योग्य कर्म और नो कर्म स्कन्ध बन्धनीय कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 48)*

शंका - वे वेदन रूप कैसे हो सकते हैं ?

समाधान - नहीं, क्योंकि जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा वेदना योग्य हैं, उनमें द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वेदना शब्द की प्रवृत्ति स्वीकार की गई है ।

53. वेदनपना जिनका आत्मा (स्वरूप) है वे वेदनात्मा कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 48)*

54. एक परमाणु रूप वर्गणा से लेकर एक-एक परमाणु की वृद्धि क्रम से महास्कन्ध तक सब वर्गणाओं की एक श्रेणि है । इस बात का कथन करने के लिये वर्गणा अनुयोग द्वार की प्ररूपणा की है।

55. **वर्गणा द्रव्य समुदाहार अनुयोग द्वार** - पूर्वोक्त वर्गणाओं के पुद्गल क्या समान है या अन्य प्रकार नहीं है, कौन वर्गणाये ध्रुव है - कौन वर्गणायें अध्रुव है, कौन वर्गणायें सान्तर है और कौन वर्गणाये निरन्तर है इस प्रकार चौदह अनुयोग द्वारों के द्वारा नाना श्रेणि गत और एक श्रेणि गत वर्गणा विशेष का कथन करने के लिये यह अनुयोग द्वार आया है ।

56. **शंका - अनन्तरोपनिधा द्वार किसलिये आया है ?**
समाधान - परमाणु द्रव्य वर्गणा से द्विप्रदेशी द्रव्य वर्गणा, द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता की अपेक्षा क्या सदृश है या विसदृश है, द्विप्रदेशी द्रव्य वर्गणा से त्रिप्रदेशी द्रव्य वर्गणा द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता की अपेक्षा क्या सदृश है या विसदृष है इस प्रकार अनन्तर पूर्व, पूर्व वर्गणा से अनन्तर उपरिम उपरिम वर्गणा की द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता का कथन करने के लिये यह अनुयोग द्वार आया है ।

57. **शंका - परम्परोपनिधा अनुयोग द्वार किसलिये आया है?**
समाधान - परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य वर्गणा से कितनी दूर जाने पर दूना होता है या द्विगुणा हीन होता है ऐसा पूछने पर इतना स्थान जाकर दूना या आधा होता है इस बात का ज्ञान कराने के लिये यह अनुयोग द्वार आया है । *(ध. पु. 14, पृ. 50)*

58. **शंका - अवहार अनुयोग द्वार किसलिये आया है ?**
समाधान - एक-एक वर्गणा द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता की अपेक्षा सब वर्गणाओं का कितनेवाँ भाग है इस बात का ज्ञान कराने के लिये यह अनुयोग द्वार आया है *(ध. पु. 14, पृ. 50)*

59. **शंका - यवमध्यप्ररूपणा किसलिये आई है ?**
समाधान - विशेषाधिक क्रम से जाती हुई वर्गणाओं का किस स्थान पर प्रदेशों की अपेक्षा यवमध्य होता है अथवा नहीं होता ऐसा पूछने पर इतना स्थान जाकर यवमध्य होता है इस बात का ज्ञान कराने के लिये यह अनुयोग द्वार आया है । *(ध. पु. 14, पृ. 50)*

60. **शंका - पद मीमांसा अनुयोग द्वार किसलिये आया है ?**
समाधान - सब वर्गणाओं के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य आदि पदों की गवेषणा करने के लिये यह अनुयोग द्वार आया है ।

61. **शंका - अल्पबहुत्व प्ररूपणा किसलिये आई है ?**
समाधान - तेईस वर्गणाओं की द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता के अल्पबहुत्व का कथन करने के लिये यह प्ररूपणा आई है ।

62. अप्रकृत अर्थ का निराकरण करने के लिये प्रकृत अर्थ का कथन करने के लिये संशय का विनाश करने के लिये और तत्वार्थ का निश्चय करने के लिये निक्षेप किया जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 51)*

63. वर्गणा प्ररूपणा अनुयोग द्वार वर्गणाओं की एक श्रेणि का कथन करता है किन्तु वर्गणा द्रव्य समुदाहार वर्गणाओं की नाना और एक श्रेणियों का कथन करता है, इसलिये वर्गणा द्रव्य

समुदाहार प्ररूपणा-वर्गणा प्ररूपणा की अविनाभाविनी है ऐसा समझकर वर्गणा द्रव्य समुदाहार का कथन आरम्भ किया है। *(ध. पु. 14, पृ. 51)*

64. एक प्रदेशी पुद्गल द्रव्य वर्गणा परमाणु स्वरूप होती है, अन्यथा 'एकप्रदेशी' यह विशेषण नहीं बनता।

65. **शंका - परिकर्म में परमाणु को अप्रदेशी कहा है परन्तु यहाँ उसे एक प्रदेशी कहा है, इसलिये इन दोनों सूत्रों में विरोध कैसे नहीं होगा ?**
समाधान - यह कोई दोष नहींहै क्योंकिपरमाणु के एक प्रदेश को छोड़कर द्वितीयादि प्रदेश नही होते, इस बात का परिकर्म में निषेध किया है । जिसमें द्वितीयादि प्रदेश नहीं है वह अप्रदेश परमाणु है, यह उसकी व्युत्पत्ति है । यदि 'अप्रदेश' पद का यह अर्थ न किया जाय तो जिस प्रकार गधे के सींगों का असत्त्व है, उसी प्रकार परमाणु के भी असत्त्व का प्रसंग आता है। *(ध. पु. 14, पृ. 54)*

66. **शंका - परमाणु पुद्गल रूप है यह बात कैसे सिद्ध होती है ?**
समाधान - उसमें अन्य पुद्गलों के साथ मिलने की शक्ति सम्भव है, इससे सिद्ध होता है कि परमाणु पुद्गल स्वरूप है । *(ध. पु. 14, पृ. 55)*

67. **शंका - परमाणु सदा काल परमाणु रूप से नही रहते इसलिये उनमें द्रव्यपना नहीं बनता?**
समाधान - नहीं, क्योंकि परमाणु का पुद्गल रूप से उत्पाद और विनाश नहीं होता इसलिये उनमें भी द्रव्यपना सिद्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 55)*

68. पाँच शरीर तथा भाषा और मन के अयोग्य जो पुद्गल स्कन्ध है उनकी अग्रहण वर्गणा संज्ञा है । *(ध. पु. 14, पृ. 60)*

69. भाषा के समान होने से भाषा है इस प्रकार के उपचार से नगारा आदि के शब्दों की भी भाषा संज्ञा है ।

70. **शंका - यहाँ तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट से क्या तात्पर्य है ?**
समाधान - योगवृद्धि के बिना उत्कर्षण और अपकर्षण विस्रसोपचय सहित जितने परमाणुओं की वृद्धि सम्भव हो मात्र उतने परमाणु अधिक करना, यही तत् प्रायोग्य उत्कृष्ट पद से तात्पर्य है । *(ध. पु. 14, पृ. 70)*

71. **शंका - योग से परमाणुओं की वृद्धि क्यों नहीं ली गई है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि योग से परमाणुओं की वृद्धि ग्रहण करने पर तीनों शरीरों की युगपत् वृद्धि प्राप्त होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 70)*

72. आगम में ऐसे आठ प्रकार के जीव बतलाये हैं जिनके शरीरों के आश्रय से अन्य जीव नहीं रहते, वे आठ प्रकार के जीव है - 1. केवली जिन, 2. देव, 3. नारकी, 4. आहारक शरीर, 5. पृथ्वीकायिक, 6. जलकायिक, 7. अग्निकायिक और 8. वायुकायिक ।

73. **शंका - जघन्य प्रत्येक वर्गणा का स्वामी कौन जीव है ?**

समाधान - जीव दो प्रकार के होते हैं - क्षपित कर्मांशिक और गुणित कर्मांशिक । उपर्युक्त 8 प्रकार के जीवों में जो क्षपित कर्मांशिक जीव होते हैं उनके कर्म वर्गणायें उत्तरोत्तर ह्रस्व होती जाती हैं और अयोगी के अन्तिम समय में वे सबसे न्यून होती है इसलिये अयोगी जिन के अन्तिम समय में प्रत्येक शरीर द्रव्य वर्गणा सबसे जघन्य होती है इसलिये अयोगी जिन ही जघन्य प्रत्येक शरीर द्रव्य वर्गणा के स्वामी है । *(ध. पु. 14, पृ. 78)*

विशेष - उपर्युक्त कथन में - औदारिक शरीर, तैजस शरीर और कार्माण शरीर तथा इनके विस्रसोपचय इन छह पुञ्जो का ग्रहण होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 78)*

74. **शंका - उत्कृष्ट प्रत्येक शरीर द्रव्य वर्गणा का स्वामी कौन ?**

समाधान - गुणित कर्मांशिक वे जीव कहलाते है जिनके कर्म वर्गणायें उत्तरोत्तर महा परिणाम वाली होती जाती हैं और तेतीस सागर की आयु वाले नारकी जीव के अन्तिम समय में वे सबसे उत्कृष्ट होती हैं इसलिये नारकी जीव के अन्तिम समय में प्रत्येक शरीर द्रव्य वर्गणा सबसे उत्कृष्ट होती है (यहाँ इन वर्गणा से वैक्रियक शरीर, तैजस शरीर और कार्माण शरीर तथा इनके विस्रसोपचय इन छह पुञ्जों का ग्रहण होता है । मध्य में इस वर्गणा के अनेक विकल्प है जिनका निर्देश मूल में किया ही है । *(ध. पु. 14, पृ. 78 व 79)*

75. ध्रुव शून्य द्रव्य वर्गणाओं के ऊपर बादर निगोद वर्गणा है, । उत्कृष्ट ध्रुव शून्य वर्गणा में एक अंक के मिलाने पर सबसे जघन्य बादर निगोद द्रव्य वर्गणा होती है ।

शंका - वह कहाँ दिखाई देती है ?

समाधान - क्षीण कषाय के अन्तिम समय में ।

शंका - क्षीण कषाय में किस प्रकार होती है ?

समाधान - जो जीव क्षपित कर्मांशिक विधि से आकर पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, अनन्त गर्भ से लेकर आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त होने पर सम्यक्त्व और संयम को युगपत ग्रहण करके पुनः कुछ कम पूर्वकोटि काल तक कर्म की उत्कृष्ट गुणश्रेणि निर्जरा करके सिद्ध होने के लिये अन्तर्मुहूर्त काल अवशेष रहने पर क्षपक श्रेणि पर आरोहण किया अनन्तर क्षपक श्रेणि में सबसे उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा कर्म निर्जरा करके क्षीण कषाय हुए इस जीव के प्रथम समय में अनन्त बादर निगोद जीव मरते हैं । दूसरे समय में विशेष अधिक जीव मरते हैं ।

शंका - कितने विशेष अधिक जीव मरते हैं ?

समाधान - प्रथम समय में मरे हुए जीवों के प्रमाण में आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो एक भाग लब्ध आवे, उतने विशेष अधिक जीव मरते हैं । इसी प्रकार तीसरे आदि समयों में विशेष अधिक-विशेष अधिक जीव मरते हैं, यह क्रम क्षीण कषाय के प्रथम समय से लेकर आवलि पृथक्त्व काल तक चाल रहता है । इसके बाद संख्यातवाँ भाग अधिक-संख्यातवाँ भाग अधिक मरते हैं और यह क्रम क्षीण कषाय के काल में आवलि का असंख्यातवाँ भाग शेष

रहने तक चालू रहता है । इसके आगे के लगे हुए समय में असंख्यात गुणे जीव मरते हैं इस प्रकार क्षीण कषाय के अन्तिम समय तक असंख्यातगुणे जीव मरते हैं । गुणकार सर्वत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । विशेषाधिक मरने के अन्तिम समय में मरने वाले जीवों के प्रमाण को तत्प्रायोग्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर गुणश्रेणि क्रम से मरने के प्रथम समय में मरे हुए जीवों का प्रमाण होता है । इसी प्रकार आगे भी क्षीण कषाय के अन्तिम समय तक जानकर कथन करना चाहिये, यह गुणकार प्रत्येक समय में मरने वाले जीवों का ही कहना चाहिये पुलवी जीवों का नहीं । *(ध. पु. 14, पृ. 85)*

76. **शंका - निगोद किन्हें कहते हैं ?**
समाधान - पुलवियों को निगोद कहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 85)*

77. तीन लोक, भरतक्षेत्र, जनपद, ग्राम और पुर के समान स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और शरीर होते है । पुनः यहाँ पर क्षीण कषाय जीव के शरीर की स्कन्ध संज्ञा है क्योंकि वह असंख्यात लोक प्रमाण अण्डरों का आधारभूत है । वहाँ अण्डरों के भीतर स्थित हुए अनन्तानन्त जीवों में से शुक्ल ध्यान के द्वारा प्रतिसमय असंख्यात गुणे श्रेणि रूप से जीवों के मरने पर क्षीण कषाय के अन्तिम समय में मरने वाले जीव अनन्त होते हैं इतने होते हुए भी पहले द्विचरम समय में मरने वाले जीवों से असंख्यात गुणे होते हैं । पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग गुणकार है । *(ध. पु. 14, पृ. 87)*

78. **शंका - ये निगोद जीव यहाँ क्यों मरते हैं ?**
समाधान - क्योंकि, ध्यान से निगोद जीवों की उत्पत्ति और उनकी स्थिति के कारण का निरोध हो जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 89)*

79. **शंका - ध्यान के द्वारा अनन्तानन्त जीव राशि का हनन करने वाले जीवों को निवृत्ति कैसे मिल सकती है ?**
समाधान - अप्रमाद से । पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायों के अभाव का नाम अप्रमाद है । *(ध. पु. 14, पृ. 89)*

80. सरों की वर्षा होने पर किस प्रकार दृढ कवच वाला व्यक्ति सरों से नहीं भिदता है उसी प्रकार पर कायिक जीवों के मध्य में समिति पूर्वक गमन करने वाला साधु पाप से लिप्त नहीं होता । *(ध. पु. 14, पृ. 90)*

81. अहिंसा स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं होती है यहाँ ये दोनों पराधीन नहीं है जो प्रमाद हीन है वह अहिंसक है, किन्तु जो प्रमादयुक्त है वह सदैव हिंसक ही जानना । *(ध. पु. 14, पृ. 90)*

82. क्षीण कषाय के प्रथम समय से लेकर बादर निगोद जीव तब तक उत्पन्न होते हैं जब तक क्षीण कषाय के काल में उनका जघन्य आयु का काल शेष रहता है । इसके बाद उत्पन्न नहीं होते क्योंकि, उत्पन्न होने पर उनके जीवित रहने काल नहीं रहता, इसलिये बादर निगोद जीव यहाँ से क्षीण कषाय के अन्तिम समय तक केवल मरते ही हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 91)*

83. यहाँ क्षीण कषाय के अन्तिम समय मे जो आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुलवियाँ हैं जो कि पृथक्-पृथक् असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीरों से आपूर्ण हैं उनमें स्थित अनन्तानन्त निगोद जीवों के जो अनन्तानन्त विस्रसोपचय से युक्त कर्म और नो कर्म संघात है वह सबसे जघन्य बादर निगोद द्रव्य वर्गणा है । *(ध. पु. 14, पृ. 91)*

84. जीव की बंधनीय संज्ञा नहीं है । पुद्गलों की ही बन्धनीय संज्ञा है । परन्तु जीव पुद्गल नहीं हो सकता, क्योंकि अमूर्त को मूर्त रूप होने में विरोध आता है । *(ध. पु. 14, पृ. 96)*

85. **शंका - अन्तिम समयवर्ती क्षीण कषाय जीव के यह उत्कृष्ट बादर निगोद वर्गणा होती है इसका स्वामी कौन जीव है ?**
समाधान - जो गुणित कर्मांशिक और सबसे उत्कृष्ट शरीर अवगाहना से युक्त है ऐसा अन्तिम समयवर्ती क्षीण कषाय जीव उक्त उत्कृष्ट वर्गणा का स्वामी है । *(ध. पु. 14, पृ. 98)*

86. यहाँ पर उत्कृष्ट वर्गणा की पुलवियाँ आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही होती है, असंख्यात लोक प्रमाण नहीं होती, ऐसा स्वभाव है ।

87. **शंका - असंख्यात लोक प्रमाण पुलवियाँ कहाँ पर होती है ?**
समाधान - मूली, महामत्स्य, थूहर और लतादिकायें होती हैं । एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीर होते हैं । और एक-एक निगोद शरीर में अनन्तानन्त निगोद जीव होते हैं परन्तु उन जीवों में आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण जीव गुणित कर्मांशिक होते हैं तथा बाकी के सब जीव गुणित घोलमान होते हैं । इस प्रकार बढ़ाकर स्थित हुए क्षीणकषाय के अन्तिम समय में और वृद्धि नहीं होती क्योंकि यहाँ स्थित हुए जीवों के औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर सर्वोत्कृष्ट भाव को प्राप्त हो गये हैं । यह अन्तिम समयवर्ती क्षीण कषाय के उत्कृष्ट वादर निगोद वर्गणा क्षीण कषाय के साथ ग्रहण करनी चाहिये क्योंकि वह एक बन्धन बद्ध है । *(ध. पु. 14, पृ. 98)*

88. **शंका - क्षीण कषाय जीव निगोद पर्याय रूप नहीं है इसलिये वह बादर निगोद, वर्गणा कैसे हो सकता है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि प्राधान्य पद की अपेक्षा उसे भी बादर निगोद वर्गणा होने में कोई विरोध नहीं आता । *(ध. पु. 14, पृ. 99)*

89. ध्रुव शून्य वर्गणाओं के ऊपर महास्कन्ध द्रव्य वर्गणा होती है ।

उत्कृष्ट ध्रुव शून्य वर्गणा में एक अंक के मिलाने पर सबसे जघन्य महास्कन्ध द्रव्य वर्गणा होती है अनन्तर एक अधिक के क्रम से सब जीवों से अनन्त गुणे स्थान जाकर उत्कृष्ट महास्कन्ध द्रव्य वर्गणा होती है । यह जघन्य से उत्कृष्ट विशेष अधिक है । विशेष का प्रमाण - सबसे जघन्य महास्कन्ध वर्गणआ में पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना विशेष का प्रमाण है । *(ध. पु. 14, पृ. 117)*

90. तेईस वर्गणाओं के नाम - 1. अणु वर्गणा, 2. संख्याताणु वर्गणा, 3. असंख्याताणु वर्गणा, 4. अनन्ताणु वर्गणा, 5. आहार वर्गणा, 6. अग्राह्य वर्गणा, 7. तैजस वर्गणा, 8. अग्राह्य वर्गणा, 9. भाषा वर्गणा, 10. अग्राह वर्गणा, 11. मनो वर्गणा, 12. अग्राह्य वर्गणा, 13. कार्माण वर्गणा, 14. ध्रुव स्कन्ध वर्गणा, 15. सान्तर निरन्तर वर्गणा, 16. शून्य वर्गणा, 17. प्रत्येक शरीर वर्गणा, 18. ध्रूव शून्य वर्गणा, 19. वादर निगोद वर्गणा, 20. शून्य वर्गणा, 21. सूक्ष्म निगोद वर्गणा, 22. शून्य वर्गणा और 23. महास्कन्ध वर्गणा । *(ध. पु. 14, पृ. 117)*

91. सब वर्गणायें परमाणु पुद्गलों से ही उत्पन्न हुई हैं अत: सब वर्गणाओं की परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा यह संज्ञा है तथा उस वर्गणा के एकादि प्रदेश यत: विशेषण हैं । अत: एक प्रदेशी और परमाणु पुद्गल इन दोनों पदों का ग्रहण करना चाहिये ।

92. 1. भेद - स्कन्धों का विभाग होना भेद है । 2. संघात - परमाणु पुद्गलों का समुदाय समागम को होना संघात है । 3. भेद संघात - भेद को प्राप्त होकर पुन: समागम का होना भेद संघात है ।

93. **शंका - एक प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा क्या भेद से, या संघात से अथवा क्या भेद संघात से उत्पन्न होती है ?**
समाधान - ऊपर के द्रव्यों के भेद से उत्पन्न होती है । द्विप्रदेशी आदि उपरिय वर्गणाओं के बेद से ही एक प्रदेशी वर्गणा होती है, क्योंकि सूक्ष्म की स्थूल के भेद से ही उत्पत्ति देखी जाती है, संघात से और भेद संघात से एक प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा नहीं होती है । क्योंकि सूक्ष्म की स्थूल के भेद से ही उत्पत्ति देखी जाती है, संघात से और भेद संघात से एक प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा नहीं होती है । क्योंकि इससे नीचे अन्य वर्गणाओं का अभाव है । *(ध. पु. 14, पृ. 121)*

94. **शंका - द्विप्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा क्या भेद से - क्या संघात से - या क्या भेद संघात से होती है ?**
समाधान - ऊपर के द्रव्यों के भेद से, नीचे के द्रव्यों के संघात से तथा स्वस्थान में भेद संघात से होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 121)*

95. **शंका - नाना श्रेणि किसे कहते हैं ?**
समाधान - सदृश धन वालों की मुक्ताफलों की पंक्ति के समान पंक्ति को नाना श्रेणि कहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 134)*

96. **वर्गणा देश** - वर्गणाओं के सम्भव सामान्य को वर्गणा देश कहते हैं ।

97. **ध्रुव वर्गणा** - वर्गणा देश की अपेक्षा सब वर्गणायें सर्वदा हैं इसलिये ध्रुव हैं ।

98. जो भव्यों के योग्य प्रत्येक शरीर वर्गणायें सयोगी और अयोगी जीवों के प्राप्त होती हैं वे शून्य रूप भी है और अशून्य रूप भी है, क्योंकि सब जीवों से अनन्त गुणे संयोगी अयोगी प्रायोग्य प्रत्येक शरीर वर्गणा स्थानों में से वर्तमान काल में संख्यात जीव ही उपलब्ध

होते है। यह कहना कि वर्तमान काल में सबजीवों से अनन्त गुणे प्रत्येक शरीर वर्गणा स्थानों को भर देंगे, ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा होने में विरोध आता है । यहाँ जो वर्गणायें शून्य है वे शून्य रूप से अध्रुव हैं, क्योंकि सर्वदा इस वर्गणा को शून्य रूप से ही होनी चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं हैं । जो वर्गणायें अशून्य स्वरूप हैं वे अशून्य रूप से अध्रुव हैं क्योंकि उन वर्गणाओं का एक रूप से अवस्थान नहीं रहता *(ध. पु. 14, पृ. 136)*

99. दृश्यमान (वर्तमान) काल में भी सान्तर हैं ।

100. **दृश्यमान काल** - वर्तमान काल को दृश्यमान काल कहते हैं ।

101. **शंका - इसमें वर्गणायें सान्तर कैसे कही जाती हैं ?**
समाधान - सर्वदा अतीत काल सब जीव राशि के अनन्तवें भाग प्रमाण रहता है, अन्यथा सब जीवों के अभाव होने का प्रसंग आता है । *(ध. पु. 14, पृ. 143)*

102. सिद्ध जीव सर्वदा अतीत काल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही होते हैं । क्योंकि, छह महिने के अन्तर से मोक्ष जाने का नियम है । तथा एक-एक सिद्ध जीव के उत्कृष्ट से कुछ कम एक-एक पूर्वकोटि काल मात्र प्रत्येक शरीर स्थान प्राप्त होते हैं, क्योंकि केवली का विहारकाल कुछ कम एक पूर्व कोटिमात्र ही उपलब्ध होता है । इसलिये पश्यमान काल में वर्गणायें सान्तर ही होती हैं ऐसा ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 143)*

103. पूर्वोक्त तेईस वर्गणाओं से पाँच शरीर पृथग्भूत हैं, इसलिये इनकी बाह्य संज्ञा है, यथा पाँच शरीर अचित्त वर्गणाओं में से सम्मिलित नहीं किये जा सकते, क्योंकि सचित्तों को अचित्त मानने में विरोध आता है उनका सचित्त वर्गणाओं में भी अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि विस्रसोपचयों के बिना पाँच शरीरों के परमाणुओं का ही सचित्त वर्गणाओं में ग्रहण किया है इसलिये पाँच शरीरों की बाह्य वर्गणा यह संज्ञा सिद्ध होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 224)*

104. वहाँ ये चार अनुयोग द्वार ज्ञातव्य हैं । 1. शरीरि शरीर प्ररूपणा, 2. शरीर प्ररूपणा, 3. शरीर विस्रसोपचय प्ररूपणा, 4 विस्रसोपचय प्ररूपणा । *(ध. पु. 14, पृ. 224)*

(1) **शरीरि शरीर प्ररूपणा** - शरीरि जीवों को कहते हैं । उनके प्रत्येक और साधारण भेद वाले शरीरों का प्ररूपण करने वाला होने से अथवा प्रत्येक और साधारण लक्षण वाले शरीरि और शरीरों का प्ररूपण करने वाला होने से शरीरि शरीर प्ररूपणा संज्ञा है ।

(2) **शरीर प्ररूपणा** - पाँचों शरीरों के प्रदेशों के प्रमाण का, उनके निषेक क्रम का और प्रदेशों के अल्प बहुल का कथन करता है इसलिए शरीर प्ररूपणा संज्ञा है ।

(3) **शरीरि विस्रसोपचय प्ररूपणा** - जिसमें औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, और कार्माण परमाणुओं को विषय करने वाले पाँच शरीरों के विस्रसोपचय के सम्बन्ध के कारण स्निग्ध और रूक्ष गुणों के अविभाग-प्रतिच्छेदों की प्ररूपणा की जाती है उसकी शरीर विस्रसोपचय प्ररूपणा संज्ञा है ।

(4) **विस्रसोपचय प्ररूपणा** - जिसमें जीव से मुक्त हुए उन्हीं परमाणुओं के विस्रसोपचय की प्ररूपणा की जाती है उसकी विस्रसोपचय प्ररूपणा संज्ञा है ।

(ध. पु. 14, पृ. 224)

105. **शरीरि शरीर** - प्ररूपणा की अपेक्षा जीव प्रत्येक शरीर वाले और साधारण शरीर वाले हैं ।

(1) **प्रत्येक शरीर** - एक ही जीव का जो शरीर है उसकी प्रत्येक शरीर संज्ञा है ।

(2) **प्रत्येक शरीरि** - वह शरीर जिन जीवों के है वे प्रत्येक शरीरि (जीव) कहलाते हैं ।

(3) **साधारण शरीर** - बहुत जीवों का जो एक शरीर है वह साधारण शरीर कहलाता है।

(4) **साधारण शरीरि** - उनमें जो जीव निवास करते हैं वे साधारण शरीरि (जीव) कहलाते हैं ।

विशेष - इस प्रकार शरीर और शरीरि दो प्रकार के ही होते हैं, तीसरा प्रकार उपलब्ध नहीं होता ।

(ध. पु. 14, पृ. 225)

106. उनमें से जो साधारण शरीर जीव हैं वे नियम से वनस्पति कायिक होते हैं, अवशेष जीव प्रत्येक शरीर है । साधारण शरीर जीव वनस्पति कायिक ही होते हैं, इस वचन से साधारण शरीर वनस्पति कायिकों में नियमित किया गया है । परन्तु वनस्पति कायिक अनियत है क्योंकि, जहाँ एवकार किया जाता है उससे अन्यत्र अवधारणा होता है ऐसा वचन है, इसलिये वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर भी है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये परन्तु अवशेष जीव प्रत्येक शरीर ही है ।

(ध. पु. 14, पृ. 225)

107. **शंका - लक्षण का कथन किसलिये किया जाता है ?**

समाधान - नहीं, क्योंकि लक्षण के भेद के बिना शरीरि और शरीरों का भेद नहीं हो सकता, इसलिये उनके भेदों का कथन करने के लिये लक्षण के भेद का कथन किया है ।

(ध. पु. 14, पृ. 226)

108. साधारण आहार और साधारण उच्छवास, नि:श्वास का ग्रहण यह साधारण जीवों का साधारण लक्षण कहा गया है ।

(ध. पु. 14, पृ. 226)

109. **शंका - साधारण जीव कौन है ?**

समाधान - एक शरीर में निवास करने वाले जीव साधारण है ।

विशेष - अन्य शरीरों में निवास करने वाले जीवों के उससे भिन्न शरीरों में निवास करने वाले जीवों के साथ साधारणपना नहीं है, क्योंकि उनमें एक शरीर के आवास से उत्पन्न हुई प्रलासक्ति का अभाव है, इसका अभिप्राय यह है - सबसे जघन्य पर्याप्ति काल के द्वारा यदि पहले उत्पन्न हुए निगोद जीव शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, आहार पर्याप्ति और उच्छ्वास नि: श्वास पर्याप्ति से पर्याप्त होते हैं तो उसी शरीर में उनके साथ उत्पन्न हुए मन्द योग वाले निगोद जीव भी उसी काल के द्वारा इन पर्याप्तियों को पूरा करते हैं अन्यथा आहार ग्रहण आदि का

साधारणपना नहीं बन सकता है । यदि दीर्घ काल के द्वारा पहले उत्पन्न हुए जीव चारों पर्याप्तियों को प्राप्त करते हैं तो उसी शरीर में पीछे उत्पन्न हुए जीव उसी काल के द्वारा उन पर्याप्तियों को पूरा करते हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 14, पृ. 227)*

110. **शंका - एक जीव के द्वारा ग्रहण किया गया आहार उस काल में वहाँ अनन्त जीवों का कैसे हो सकता है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उस आहार से उत्पन्न हुई शक्ति का बाद में उत्पन्न हुए जीवों के उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही ग्रहण हो जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 251)*

111. **शंका - यदि ऐसा है तो 'आहार साधारण है' इसके स्थान पर 'आहार जनित शक्ति साधारण है' ऐसा कहना चाहिये ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्य में कारण का उपचार कर लेने से आहारजनित शक्ति के भी आहार संज्ञा सिद्ध होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 227)*

112. एक जीव का जो अनुग्रहण (उपकार) है वह बहुत साधारण जीवों का है और इसका भी है । तथा बहुत जीवों का जो अनुग्रहण है वह मिलकर इस विवक्षित जीव का भी है । *(ध. पु. 14, पृ. 228)*

113. **शंका - एक जीव के द्वारा दिये गये पुद्गलों का फल अन्य जीव कैसे भोगते हैं ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक के द्वारा भी दिये गये धन धान्यादिक को अविभक्त धन वाले भाई, लड़की, पिता, पुत्र और नाती तक के जीव भोगते हुए देखे जाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 229)*

114. एक साथ उत्पन्न होने वालों के उनके शरीर की निष्पत्ति एक साथ होती है, एक साथ अनुग्रहण होता है और एक साथ उच्छ्वास नि:श्वास होता है । एक शरीर में जो पहले उत्पन्न हुए अनन्त जीव है और बाद में उत्पन्न हुए अनन्त जीव है वे एक साथ उत्पन्न हुए कहे जाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 229)*

115. **शंका - भिन्न काल में उत्पन्न हुए जीवों का एक साथपना कैसे बन सकता है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि एक शरीर के सम्बन्ध से उन जीवों के भी एक साथपना होने में कोई विरोध नहीं आता । *(ध. पु. 14, पृ. 230)*

116. **शंका - एक शरीर में बाद में उत्पन्न हुए जीव हैं ऐसी अवस्था में उनकी प्रथम समय में ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि प्रथम समय में उत्पन्न हुए जीवों के अनुग्रहण का फल बाद में उत्पन्न हुए जीवों में भी उपलब्ध होता है इसलिये एक निगोद शरीर में उत्पन्न होने वाले सब जीवों की प्रथम समय में ही उत्पत्ति इस न्याय के अनुसार बन जाती है । *(ध. पु. 14, पृ. 230)*

117. एक शरीर में उत्पन्न हुए अनन्त जीवों की चार पर्याप्तियाँ अपने-अपने स्थान में एक साथ समाप्त होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 230)*

118. जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ अनन्त जीवों का मरण होता है और जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 230)*

जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ नियम से अनन्त निगोद जीवों का मरण होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 231)*

119. बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव ये परस्पर में बद्ध और स्पष्ट होकर रहते हैं तथा वे अनन्त जीव है जो मूली, थुवर और आर्द्रक आदि के निमित्त से होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 232)*

एक शरीर में स्थित बादर निगोद जीव वहाँ स्थित अन्य बादर निगोद जीवों के साथ तथा एक शरीर में स्थित सूक्ष्म निगोद जीव वहाँ स्थित अन्य जीवों के साथ बद्ध (समवेत) होकर रहते हैं, वह समवाय देश समवाय और सर्व समवाय के भेद से दो प्रकार का है उनमें से देश समवाय का प्रतिषेध करने के लिये कहते हैं, परस्पर सब अवयवी से स्पष्ट होकर ही वे रहते हैं । अबद्ध और अस्पष्ट होकर वे नहीं रहते *(ध. पु. 14, पृ. 232)*

120. वे संख्यात और असंख्यात नहीं होते हैं किन्तु वे जीव अनन्त ही होते हैं । तथा मूली थूवर और आर्द्रक आदि कारण से होते हैं । आदि शब्द से वनस्पति के अन्य भेद भी ग्रहण करने चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 232)*

121. इसके द्वारा बादर निगोदों की योनि गई है, सूक्ष्म निगोदों की नहीं, क्योंकि जल, थल और आकाश में सर्वत्र उनकी योनि देखी जाती है, भावार्थ यह है कि मूली, थूवर और आर्द्रक आदि के शरीर बादर निगोदों की योनि होते हैं इसलिये मूली, थूवर और आर्द्रक आदि के प्रत्येक शरीर जीवों की बादर निगोद प्रतिष्ठित संज्ञा हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 232)*

122. मूली, थूवर और आर्द्रक आदिक तथा मनुष्यों आदि के शरीरों में असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीर होते हैं । वहाँ एक-एक निगोद शरीर में अनन्तानन्त बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव प्रथम समय में उत्पन्न होते हैं, वहीं पर द्वितीय समय में असंख्यात गुणे हीन उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल व्यतीत होने तक असंख्यात गुणे हीन श्रेणि रूप से निरन्तर जीव उत्पन्न होते हैं । पुनः एक-दो और तीन समय से लेकर उत्कृष्ट रूप से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल का अन्तर देकर निरन्तर जीव उत्पन्न होते है । इस प्रकार सान्तर निरन्तर क्रम से तब तक जीव उत्पन्न होते हैं जब तक उत्पत्ति सम्भव है । इस प्रकार इस क्रम से उत्पन्न हुए बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव एक शरीर में बद्ध और स्पष्ट होकर रहते हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है । जीवन राशि आय से रहित और व्यय सहित है क्योंकि उसमें से मोक्ष को जाने वाले शरीर जीव उपलब्ध होते हैं । इसलिये संसारी जीवों का अभाव प्राप्त होता है ऐसा कहने पर उत्तर देते हैं कि नहीं होता है, क्योंकि त्रस भाव को नहीं प्राप्त हुए अनन्त निगोद जीव सम्भव है । *(ध. पु. 14, पृ. 233)*

123. जिन्होंने अतीत काल में त्रसभाव को नहीं प्राप्त किया है ऐसे अनन्त जीव हैं क्योंकि वे भाव कलंक प्रचुर होते हैं इसलिये निगोद वास को नहीं त्यागते । जिन्होंने अतीत काल में कदाचित भी त्रस परिणाम को नहीं प्राप्त किया है वे वैसे अनन्त जीव नियम से है अन्यथा संसार में भव्य जीवों का अभाव प्राप्त होता है और उनका अभाव है नहीं, क्योंकि उनका अभाव होने पर अभव्य जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है और वह भी नहीं है क्योंकि उनका अभाव होने पर असंसारी जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है । और वह भी नहीं है क्योंकि संसारी जीवों के अभाव होने पर संसारी जीवों का भी अभाव का प्रसंग आता है क्योंकि सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा नहीं बन सकती । *(ध. पु. 14, पृ. 233 व 234)*

124. भाव कलंक (संक्लेश) की प्रचुरता से यहाँ के जीव निगोद वास को नहीं छोड़ते हैं । संक्लेश को जो ग्रहण करता है वह भाव कलंक कहलाता है तथा वह भाव एकेन्द्रिय जाति में उत्पत्ति का हेतु है । *(ध. पु. 14, पृ. 234)*

125. एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा देखे गये जीव सब अतीत काल के द्वारा सिद्ध हुए जीवों से भी अनन्त गुणे हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 234)*

126. संसारी जीवों की व्युच्छित्ति नहीं होने में एक कारण (हेतु) भाव कलंक की प्रचुरता और दूसरा हेतु जीव द्रव्य का प्रमाण निगोद राशि का दिखाया है । *(ध. पु. 14, पृ. 235)*

127. **शंका - वह कौनसी युक्ति है जिससे एक निगोद शरीर अनन्त जीव उपलब्ध होते हैं ?**
समाधान - सब जीव राशि का अनन्त होना यही युक्ति है । *(ध. पु. 14, पृ. 235)*

128. आय रहित जिन संख्याओं का व्यय होने पर सत्त्व का विच्छेद होता है वे संख्यायें संख्यात और असंख्यात संज्ञावाली होती हैं । आय से रहित जिन संख्याओं का संख्यात और असंख्यात रूप से व्यय होने पर भी विच्छेद नहीं होता है उनकी अनन्त संज्ञा होती है और सब जीव राशि अनन्त है इसलिये वह विच्छेद को प्राप्त नहीं होती है । अन्यथा उसके अनन्त होने में विरोध आता है । *(ध. पु. 14, पृ. 235)*

129. द्रव्यर्थिक जनों का अनुग्रह करने के लिये ओघ से और पर्यायार्थिक जनों का अनुग्रह करने के लिये आदेश से प्ररूपणा करते है ।

130. संक्षिप्त वचन कलाप का नाम ओघ और असंक्षिप्त वचन कलाप का नाम आदेश है । *(ध. पु. 14, पृ. 237)*

131. ओघ से दो शरीर वाले, तीन शरीर वाले, चार शरीर वाले और शरीर रहित जीव है । विग्रह गति में विद्यमान चारों गति के जीव दो शरीर वाले हैं क्योंकि उनके वहाँ पर तैजस शरीर और कार्माण शरीर है । मनुष्य तिर्यंच गति को प्राप्त तीन शरीर (औदारिक, तैजस, कार्माण) वाले अथवा देव और नरक गति को प्राप्त तीन शरीर (वैक्रियक, तैजस, कार्माण) वाले होते हैं । चार शरीर वाले जीव (औदारिक, वैक्रियक, तैजस और कार्माण) शरीर वाले होते है यहाँ लब्धि प्रत्यय वैक्रियक शरीर होता है । अथवा औदारिक, आहारक, तैजस और कार्माण चार शरीर वाले होते है । जिनके शरीर नहीं है वे अशरीरी अर्थात् परिनिर्वत्ति को प्राप्त अशरीरी कहलाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 238)*

132. **शंका - मनुष्यों में पाँच शरीर वाले जीव क्यों नहीं कहे ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि वैक्रियक ऋद्धि को प्राप्त ऋषियों के आहारक लब्धि का अभाव है। *(ध. पु. 14, पृ. 240)*

133. **शंका - उत्तर शरीर की विक्रिया करने वाले जीवों के औदारिक काय योग कैसे सम्भव है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उत्तर शरीर भी औदारिक काय योग है, यदि कहा जाय कि औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से पैदा हुए विक्रिया स्वरूप शरीर का औदारिकपना नहीं रहता सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा होने में विरोध आता हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 243)*

134. मनोयोगी और वचन योगी जीवों में औदारिक, वैक्रियक, तैजस और कार्माण अथवा औदारिक, आहारक, तैजस और कार्माण इस तरह दो प्रकार से चार शरीर सम्भव है । किन्तु औदारिक काय योगी जीवों में औदारिक, वैक्रियक, तैजस और कार्माण ये चार शरीर ही सम्भव है क्योंकि आहारक शरीर के समय औदारिक काय योग नहीं होता है किन्तु मनोयोग वचन योग सम्भव है । *(ध. पु. 14, पृ. 243)*

135. काय योगी जीवों का भंग ओघ के समान है । क्योंकि वहाँ विग्रह गति में दो शरीर - विक्रिया करने पर और आहारक शरीर के उत्पन्न होने पर चार शरीर तथा अन्यत्र तीन शरीर उपलब्ध होते हैं ।

136. जिस समय प्रमत्त संयत जीव आहारक शरीर का प्रारम्भ करता है, उस समय से लेकर आहारक शरीर की क्रिया समाप्त होने तक उसके औदारिक शरीर नाम कर्म का उदय नहीं होता, इसलिये वहाँ औदारिक शरीर का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक तो उसके औदारिक शरीर के पुनः उदय होने की शक्ति विद्यमान है दूसरे उसके औदारिक शरीर के उदय का फल औदारिक शरीर पूर्ववत् विद्यमान रहता है इसलिये आहारक काय योगी और आहारक मिश्रकाय योगी जीव के चार शरीर कहे गये हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 244)*

137. प्रतर और लोक पूरण समुद्धात को प्राप्त हुए केवली जिनके तैजस शरीर और कार्माण शरीर के साथ औदारिक शरीर भी उपलब्ध होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 244)*

138. **शंका - स्त्रीवेदी और नपुंसक वेदी जीवों में आहारक शरीर का उदय नहीं होने से चार शरीर नहीं होते ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उनमें भी उत्तर शरीर की विक्रिया करने पर चार शरीर उपलब्ध होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 245)*

139. संयम मार्गणा के अनुवाद से संयत, सामायिक शुद्धिसंयत, छेदोपस्थापना शुद्धि संयत, संयतासंयत जीव तीन शरीर वाले व चार शरीर वाले होते हैं । दो शरीर वाले नहीं होते, क्योंकि, विग्रह गति में अणुव्रतों और महाव्रतों का अभाव है । *(ध. पु. 14, पृ. 246)*

140. **शंका - परिहार शुद्धि संयत जीवों में चार शरीर वाले क्यों नहीं होते ?**
समाधान - परिहार शुद्धि संयत जीव के विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि के साथ इस संयम के होने का विरोध है । *(ध. पु. 14, पृ. 247)*

141. अपर्याप्त काल में सम्यग्मिथ्यात्व का अभाव है । *(ध. पु. 14, पृ. 248)*

142. कार्माण काय योगी जीवों का प्रमाण अनन्त होने से यहाँ दो शरीर वाले जीव अनन्त कहे हैं, तीन शरीर वाले जीव अनन्तहै यह तो स्पष्ट ही है रह गये चार शरीर वाले जीव सो पर्याप्त अग्निकायिक और वायुकायिक तथा पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में ही चार शरीर वाले जीव सम्भव है अत: इनका प्रमाण असंख्यात कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 249)*

143. दो शरीर वाले कार्माण काय योगी होते हैं । और तीन शरीर वाले प्राय: आहारक होते है इनका क्षेत्र सर्वलोक प्रमाण होने से यहाँ दो शरीर वाले और तीन शरीर वाले जीवों का सर्वलोक प्रमाण क्षेत्र कहा है तथा चार शरीर वाले वे ही होते हैं जो औदारिक शरीर से या तो विक्रिया कर रहे हैं या आहारक ऋद्धि के उपस्थापक है । ऐसे जीव लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में पाये जाते हैं इसलिये योग से चार शरीर वालों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा है यद्यपि बादर वायु कायिक पर्याप्त जीवों का क्षेत्र लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण कहा है परन्तु उनमें विक्रिया करने वाले जीव स्वल्प होने से उनका वर्तमान क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही प्राप्त होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 253)*

144. अनाहारक अवस्था अयोग केवलियों के भी होती हैं वहाँ तीन शरीरों का सद्भाव बन जाता है इसलिये तीन शरीर वालों की अपेक्षा अनाहारकों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही कहा है । परन्तु यह क्षेत्र कार्माण काय योगी जीवों में घटित न होने से उनमें इसका निषेध किया है । *(ध. पु. 14, पृ. 256)*

145. औदारिक शरीर से विक्रिया करते समय मारणान्तिक समुद्धात सम्भव है । इसलिये चार शरीर वालों का अतीत स्पर्शन सर्वलोक प्रमाण कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 256)*

146. मनुष्य गति में मारणान्तिक समुद्धात और उपपाद पद की अपेक्षा सर्वलोक प्रमाण स्पर्शन सम्भव है इसलिये यहाँ तीन प्रकार के मनुष्यों में दो शरीर वाले और चार शरीर वाले जीवों का अतीत कालीन स्पर्शन सर्वलोक प्रमाण कहा है मात्र उपपाद पद के समय चार शरीर वाले नहीं होते, इतना विशेष जानना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 258)*

147. सब देवों में जिसका जो उपपाद पद की अपेक्षा स्पर्शन बतलाया है वह यहाँ दो शरीर वालों का स्पर्शन जानना चाहिये और शेष तीन शरीर वालों का जानना चाहिये, यहाँ आनत प्राणत कल्पों में दो शरीर वालों का स्पर्शन त्रस नाली के कुछ कम 6/14 भाग प्रमाण कहा है सो यह सामान्य कथन प्रतीत होता है । क्योंकि कुछ कम 5.5 भाग राजू का अन्तर्भाव कुछ कम 6/14 भाग मेंहो जाता है । वास्तव में इनमें उपपाद पद की अपेक्षा स्पर्शन कुछ कम 5.5 भाग प्रमाण बतलाया है अत: यहाँ दो शरीर वालों का स्पर्शन भी इतना ही प्राप्त होगा । *(ध. पु. 14, पृ. 259)*

148. सासादन सम्यग्दृष्टियों में चार शरीर वालों का नीचे कुछ कम पाँच राजु स्पर्शन नहीं उपलब्ध होता, क्योंकि एक तो सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य नारकियों में तथा मेरु के नीचे एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्धात नहीं करते, दूसरे नारकी तिर्यंचों और मनुष्यों में मारणान्तिक समुद्धात करते हुए भी चार शरीर वाले नहीं होते इसलिये सासादनों में चार शरीर वालों का स्पर्शन कुछ कम 7/14 राजू प्रमाण कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 266)*

149. कार्माण काय योग का नाना जीवों की अपेक्षा सर्वदा काल होने से यहाँ नाना जीवों की अपेक्षा दो शरीर वालों का सर्वदा काल कहा है, इसी प्रकार तीन शरीर वाले और चार शरीर वाले जीव भी निरन्तर पाये जाते हैं इसलिये नाना जीव की अपेक्षा इनका सर्वदा काल कहा है तथा एक जीव की अपेक्षा कार्माण काय योग का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल तीन समय होने से दो शरीर वालों का एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल तीन समय कहा है । जो औदारिक शरीर के साथ विक्रिया कर रहा है वह एक समय के लिये तीन शरीर वाला होकर यदि द्वितीय समय में मरकर दो शरीर वाला हो जाता है तो उसके तीन शरीर वालों का जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है । यह देखकर एक जीव की अपेक्षा तीन शरीर वालों का जघन्य काल एक समय कहा है तथा आहारक अवस्था का उत्कृष्ट काल अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है इसलिये एक जीव की अपेक्षा तीन शरीर वालों का उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण कहा है, किसी जीव ने औदारिक शरीर से विक्रिया प्रारम्भ की और दूसरे समय में मरकर वह दो शरीर वाला हो गया, यह देखकर एक जीव की अपेक्षा चार शरीर वालों का जघन्य काल एक समय कहा है तथा एक जीव के विक्रिया का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है इसलिये एक जीव की अपेक्षा चार शरीर वालों का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 267)*

150. नरक में नाना जीव विग्रह गति से यदि निरन्तर उत्पन्न हो तो कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक ही उत्पन्न होते हैं । सामान्य से और प्रत्येक पृथ्वी में यही नियम है, इसलिये यहाँ सर्वत्र नाना जीवों की अपेक्षा दो शरीर वालों का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा है तथा एक जीव यहाँ सर्वत्र यदि विग्रह से उत्पन्न हो तो कम से कम एक विग्रह और अधिक से अधिक दो विग्रह लेकर उत्पन्न होता है इसलिये यहाँ एक जीव के अपेक्षा दो शरीर वालों का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल दो समय कहा है विग्रह के दो समयों की अपनी जघन्य स्थिति में से कम कर देने पर सर्वत्र एक जीव की अपेक्षा तीन शरीर वालों का जघन्य काल होता है और उत्कृष्ट काल अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण है यह स्पष्ट ही है तथा नरक गति निरन्तर मार्गणा है, इसलिये नाना जीवों की अपेक्षा तीन शरीर वालों का काल सर्वदा है यह भी स्पष्ट है । *(ध. पु. 14, पृ. 269)*

151. पहले ओघ से काल का स्पष्टीकरण कर आए हैं, सामान्य तिर्यंचों में उसी प्रकार स्पष्टीकरण कर लेना चाहिये । पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि में भी उसी प्रकार अपनी-अपनी विशेषता जानकर

काल का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिये । तात्पर्य यह है कि जिस मार्गणा में एक जीव और नाना जीवों की अपेक्षा अनाहारकों का जघन्य और उत्कृष्ट जो काल हो वह वहाँ दो शरीर वाले काल जानना चाहिये । तीन शरीर वालों और चार शरीर वालों का काल लाते समय कई बातों का ध्यान रखने की आवश्यकता है, यथा मार्गणा का द्रव्य प्रमाण कितना है और मार्गणा सान्तर है या निरन्तर (आदि) ओघ से काल का स्पष्टीकरण करते समय कुछ विशेषताओं का निर्देश किया ही है उन्हें ध्यान में रखकर यहाँ और आगे स्पष्टीकरण कर लेना चाहिये ।

(ध. पु. 14, पृ. 270)

152. बादर वनस्पति कायिक पर्याप्तकों में दो शरीर वाले और तीन शरीर वाले जीवों का भंग बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के समान है, इतनी विशेषता है कि इन तीनों ही वनस्पति कायिकों में तीन शरीर वालों का एक समय काल नहीं है । *(ध. पु. 14, पृ. 277)*

153. **शंका - चार शरीर वालों का एक समय काल कैसे है ?**
समाधान - सम्यग्मिथ्यात्व के काल में एक समय शेष रहने पर विक्रिया करने वालों के एक समय काल प्राप्त होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 283)*

154. दो शरीर वाले अनाहारक होते हैं और अनाहारक जीवों का कभी अभाव नहीं होता, इसलिये नाना जीवों की अपेक्षा दो शरीर वाले जीवों के अन्तर का निषेध किया है।

(ध. पु. 14, पृ. 284)

155. चार शरीर वाले नाना जीव भी निरन्तर पाये जाते हैं इसलिये नाना जीवों की अपेक्षा चार शरीर वालों के अन्तर काल का निषेध किया है तथा विक्रिया करके उसका उपसंहार करने के बाद भी आहारक शरीर को उत्पन्न करने के बाद पुन: विक्रिया या आहारक शरीर की उत्पत्ति अन्तर्मुहूर्त काल का अन्तर पड़े बिना नहीं हो सकती, इसलिये एक जीव की अपेक्षा चार शरीर वालों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त कहा है और जो जीव अग्निकायिक पर्याप्त और वायुकायिक पर्याप्त अवस्था को छोड़कर अनन्त काल तक निरन्तर एकेन्द्रियों में परिभ्रमण करता रहता है उसके इतने काल तक चार शरीर की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये एक जीव की अपेक्षा चार शरीर वालों का उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल प्रमाण कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 285)*

156. नाना जीवों की अपेक्षा सब पृथ्वीयों में जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर पहली पृथ्वी में अड़तालीस मुहूर्त, दूसरी पृथ्वी में एक पक्ष, तीसरी पृथ्वी में एक मास, चौथी पृथ्वी में 2 मास, पांचवीं पृथ्वी में चार मास, छठवीं पृथ्वी मे छह मास और सातवीं पृथ्वी में बारह मास (1 वर्ष) है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर नहीं निरन्तर है । *(ध. पु. 14, पृ. 285)*

157. तीन शरीर वालों का नाना जीव और एक जीव दोनों प्रकार से भी अन्तर नहीं है निरन्तर है।

(ध. पु. 14, पृ. 286)

158. नरक में यदि विग्रह गति से उत्पन्न होता है तो प्रारम्भ के एक या दो समय तक जीव दो शरीर वाला रहता है और उसके बाद तीन शरीर वाला हो जाता है । जो अपनी पर्याय के अन्त समय

तक तीन शरीर वाला ही रहता है । तथा नरक से निकल कर पुनः नरक में जीव उत्पन्न नहीं होता । इसलिये तो यहाँ एक जीव की अपेक्षा दो शरीर वालों और तीन शरीर वालों के अन्तर काल का निषेध किया है । तथा नरक गति का कभी अभाव नहीं होता, इसलिये नाना जीवों की अपेक्षा तीन शरीर वालों के अन्तर काल का निषेध किया है । परन्तु यह सम्भव है कि नरक में या प्रथमादि नरकों में कोई जीव कम से कम एक समय उत्पन्न न हो, इसलिये सर्वत्र दो शरीर वालों का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय कहा है और सामान्य से नरक में अधिक से अधिक 24 (चौबीस) मुहूर्त तक कोई जीव उत्पन्न नहीं होता । तथा प्रथमादि नरकों में अधिक से अधिक अड़तालीस मुहूर्त, एक पक्ष, एक माह, दो माह, चार माह, छह माह और एक वर्ष तक नहीं उत्पन्न होता । इसलिये नाना जीवों की अपेक्षा दो शरीर वालों का सामान्य से नरक में और प्रथमादि नरकों में उत्कृष्ट अन्तर उक्त प्रमाण कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 286)*

159. सामान्य तिर्यंचों का भंग ओघ के समान है यह स्पष्ट ही है । पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि में दो शरीर वाले आदि का अन्तर घटित करते समय तिर्यंच-तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं इस बात को ध्यान में रखकर अन्तर को घटित करना चाहिये । यहाँ जो विशेष बात कहनी है वह यह है कि (1) पंचेन्द्रिय तिर्यंच, (2) पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त, (3) पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिनी और पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त जीवों में लगातार यदि कोई जीव उत्पन्न न हो तो अधिक से अधिक प्रथम में अन्तर्मुहूर्त काल तक, दूसरे, तीसरे भेद में चौबीस (24) मुहूर्त तक और अन्त के भेद में अन्तर्मुहूर्त तक नहीं उत्पन्न होता । इन सबमें नहीं उत्पन्न होने का काल कम से कम एक समय है यह स्पष्ट ही है । यही कारण है कि इनमें नाना जीवों की अपेक्षा दो शरीर वालों का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर अपने-अपने अनुत्पत्ति के काल प्रमाण कहा है । इसी प्रकार आगे भी अपनी-अपनी विशेषता का विचार कर अन्तर काल घटित कर लेना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 287)*

160. **शंका - मनुष्य गति की अपेक्षा मनुष्यों में मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यनियों में दो शरीर वालों का अन्तर काल कितना है ?**

समाधान - (1) नाना जीवों की अपेक्षा तीनों का ही जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर चौबीस (24) मुहूर्त है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर प्रथम भेद में दो समय कम क्षुल्लक भव ग्रहण प्रमाण और शेष दो भेदों में दो समय कम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व कोटि पृथक्त्व प्रमाण है ।

(2) **तीन शरीर वालों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है निरन्तर है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है ।

(3) **चार शरीर वालों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है, निरन्तर है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्व कोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्य है ।

(4) **मनुष्य अपर्याप्तकों में दो शरीर वालों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर दो समय कम क्षुल्लक भव ग्रहण प्रमाण है और उत्कृष्ट अन्तर सात मुहूर्त है ।

(5) **तीन शरीर वालों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर दो समय है ।

विशेषार्थ - पहले अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में एक जीव की अपेक्षा दो शरीर वालों का उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह अन्तर्मुहूर्त कह आये हैं और यहाँ सात अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही कहा है सो इसका कारण यह है कि तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी दो प्रकार के होते हैं इसलिये वहाँ संज्ञी के आठ व असंज्ञी के आठ इस प्रकार 16 भवों को ग्रहण कर उत्कृष्ट अन्तर प्राप्त किया गया है, परन्तु मनुष्यों में संज्ञी ही होते हैं । संज्ञी के आठ भवों को ग्रहण कर उत्कृष्ट अन्तर लाया गया है । यहाँ दोनों स्थलों पर भव ग्रहण के प्रारम्भ में और अन्तिम भव के ग्रहण करने के प्रारम्भ में दो शरीर वाला उत्पन्न कराकर यह अन्तर लाना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 288)*

161. (1) देवगति की अपेक्षा दो शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर चौबीस मुहूर्त है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है।

(2) तीन शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा अन्तर काल नही है ।

(3) भवनवासियों से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमानवासी पर्यन्त देवों में दो शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर सबका एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिषी और सौधर्म एशान कल्प तक के देवों में अड़तालीस मुहूर्त, सानत्कुमार माहैन्द्र में एक पक्ष, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठ में एक माह शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पवासी देवों में दो माह, आनत और प्राणत के देवों में चार माह, आरण और अच्युत के देवों में छह माह, नौ गैवेयक के देवों में बारह माह, नौ अनुदिश और चार अनुत्तरवासी देवों में वर्ष पृथक्त्व और सर्वार्थसिद्धि में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । एक जीव की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है ।

(4) तीन शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा दोनों प्रकार (जघन्य व उत्कृष्ट) से अन्तर काल नहीं है, निरन्तर है । *(ध. पु. 14, पृ. 289)*

विशेषार्थ - षट्खण्डागम कृति अनुयोग द्वार में अन्तर प्ररूपणा के समय भी देवों और उनके अवान्तर भेदों में इस अन्तर काल का निर्देश किया है, पर वहाँ भवनत्रिक के अड़तालीस मुहूर्त, सौधर्मादिक में एक पक्ष, सनत्कुमार द्विक में एक माह, ब्रह्मोत्तर आदि चार में दो माह, शुक्र आदि चार में चार माह, आनत आदि चार में छह माह, नौ गैवेयकों में बारह माह, अनुदिश और अनुत्तर विमानों में वर्ष पृथक्त्व और सर्वार्थसिद्धि में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर कहा है । यहाँ कहे गये अन्तर से उसमें कहीं-कहीं अन्तर आता है सो जानकर इसका निर्णय करना चाहिये । यह सम्भव है कि इस विषय में दो उपदेश मिलते हो और उनमें से एक का संकलन वहाँ किया हो और दूसरे का यहाँ । जो भी हो हमें यहाँ सब प्रतियों में यह पाठ मिला है, इसलिये उसे वैसा ही रखा है । *(ध. पु. 14, पृ. 289)*

162. नरक में और देवों में अधिक से अधिक काल तक कोई जीव उत्पन्न न हो तो चौबीस मुहूर्त तक नहीं उत्पन्न होता पर सम्मिलित रूप से विचार करने पर अधिक से अधिक काल तक कोई नरक गति या देवगति में उत्पन्न न हो तो बारह मुहूर्त तक उत्पन्न नहीं होता, इसलिये वैक्रियक मिश्र काय योग में तीन शरीर वालों का नाना जीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर बारह मुहूर्त कहा है । कार्मण काय योगियों में तीन शरीर वालों का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर काल केवलि समुद्धात की अपेक्षा से बतलाया है तात्पर्य यह है कि केवली जीव एक समय के अन्तर से भी केवलि समुद्धात कर सकते हैं और अधिक से अधिक काल तक यदि कोई जीव केवलि समुद्धात को न प्राप्त हो तो वर्ष पृथक्त्व काल तक नहीं प्राप्त होता है *(ध. पु. 14, पृ. 295 व 296)*

163. सम्यक्त्व मार्गणा के अनुवाद से सम्यग्दृष्टियों का भंग अवधि ज्ञानियों के समान है ।

(1) **क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में दो शरीर वालों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथक्त्व प्रमाण हैं । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर दो समय कम चौरासी (84) हजार वर्ष प्रमाण है और उत्कृष्ट अन्तर एक समय कम तैतीस (33) सागर है ।

तीन शरीर वालों का भंग ओघ के समान है ।

चार शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है, एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर साधिक तैतीस सागर है ।

(2) **वेदक सम्यग्दृष्टियों में दो शरीर वालों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर मास पृथक्त्व प्रमाण है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर वर्ष पृथक्त्व प्रमाण है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम छयासठ (66) सागर है ।

तीन शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है निरन्तर है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है ।

चार शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है निरन्तर है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तमुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम छयासठ (66) सागर है।

(3) **उपशम सम्यग्दृष्टियों में दो शरीर वालों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथक्त्व प्रमाण है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर काल नही है।

तीन शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर सात रात दिन है । एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है ।

चार शरीर वालों का अन्तर काल - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है । और उत्कृष्ट अन्तर सात रात दिन है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है।

(4) **सासादन सम्यग्दृष्टियों में दो शरीर वाले-तीन शरीर वाले और चार शरीर वाले जीवों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । एक जीव की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है ।

(5) **सम्यग्मिथ्यादृष्टियों में तीन शरीर वाले और चार शरीर वाले जीवों का अन्तर काल** - नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है एक जीव की अपेक्षा अन्तर काल नहीं है ।

(6) मिथ्यादृष्टियों का भंग ओघ के समान है । *(ध. पु. 14, पृ. 300)*

164. अयोग केवली का उत्कृष्ट अन्तर छह माह है इसलिये अनाहारकों में तीन शरीर वालों का उत्कृष्ट अन्तर छह महिना कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 301)*

165. अल्पबहुत्वानगम की अपेक्षा निर्देश दो प्रकार है - 1. ओघ और 2. आदेश ।

(ध. पु. 14, पृ. 301)

ओघ से चार शरीर वाले जीव सबसे स्तोक है । उनसे अशरीरी जीव अनन्तगुणी है, उनसे दो शरीर वाले जीव अनन्त गुणे हैं, उनसे तीन शरीर वाले जीव असंख्यात गुणे हैं ।

(ध. पु. 14, पृ. 302)

166. मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यिनियों में चार शरीर वाले जीव सबसे स्तोत है । क्योंकि विक्रिय करने वाले और आहारक शरीर रूप से परिणत हुए मनुष्य अति स्तोक देखे जाते हैं ।

(ध. पु. 14, पृ. 305)

उनसे दो शरीर वाले मनुष्य संख्यातगुणे हैं, क्योंकि विक्रिया करने वाले जीवों से विग्रह गति से उत्पन्न होने वाले उक्त मनुष्य संख्यातगुणे उपलब्ध होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 305)*

उनसे तीन शरीर वाले मनुष्य संख्यात गुणे हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 306)*

मनुष्य अपर्याप्तकों में पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्तकों के समान भंग है । यथा दो शरीर वाले सबसे स्तोत है उनसे तीन शरीर वाले असंख्यातगुणे हैं . इनका गुणकार आवलि के असंख्यात भाग प्रमाण है । *(ध. पु. 14, पृ. 306)*

167. (1) ज्ञान मार्गणा के अनुवाद से मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी जीवों में ओघ के समान भंग है । क्योंकि चार शरीर वाले जीव सबसे स्तोक है, उनसे दो शरीर वाले जीव अनन्तगुणे हैं और उनसे तीन शरीर वाले जीव असंख्यातगुणे हैं ।

(2) विभंगज्ञानी जीवों में चार शरीर वाले जीव सबसे स्तोक हैं । उनसे तीन शरीर वाले असंख्यातगुणे हैं ।

(3) अभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुत ज्ञानी और अवधि ज्ञानी जीवों में पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के समान भंग है । क्योंकि चार शरीर वाले जीव सबसे स्तोक है, उनसे दो शरीर वाले जीव असंख्यातगुणे हैं । उनसे तीन शरीर वाले असंख्यातगुणे हैं इन दोनों का गुणकार आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । *(ध. पु. 14, पृ. 312)*

(4) मन: पर्यय ज्ञानियों में चार शरीर वाले जीव सबसे स्तोक हैं क्योंकि विक्रिया करने वाले मन: पर्यय ज्ञानी संयत जीव बहुत ही स्तोक पाये जाते हैं उनसे तीन शरीर वाले जीव संख्यातगुणे हैं । संख्यात समय गुणकार है ।

(5) केवलज्ञानियों में अल्प बहुत्व नहीं है । क्योंकि उनमें एक ही पद पाया जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 313)*

168. (1) संयम मार्गणा के अनुवाद से संयत, सामायिक शुद्धि संयत और छेदोपस्थापना शुद्धि संयत जीवों में मन: पर्यय ज्ञानियों के समान भंग है । क्योंकि चार शरीर वाले जीव सबसे स्तोक है । उनसे तीन शरीर वाले जीव संख्यातगुणे हैं ।

(2) परिहार शुद्धि संयत, सूक्ष्म साम्पराय शुद्धि संयत और यथाख्यात विहार शुद्धि जीवों का अल्पबहुत्व नहीं है । *(ध. पु. 14, पृ. 313)*

केवल दर्शन वालों में अल्प बहुत्व नहीं है । क्योंकि इनमें एक ही पद है ।

169. **विशेषार्थ** - बाह्य वर्गणा के शरीरि शरीर प्ररूपणा आदि चार भेदों का कथन पूर्व में कर चुके हैं । साधारणत: संसारी जीवों के कुल पाँच शरीर होते हैं उनका जीवों के साथ कथन करना कि किस जीव के किस अपेक्षा से कितने शरीर होते हैं, इसे शरीरिशरीर प्ररूपणा कहते हैं यहाँ इसी अनुयोग द्वार का सत् संख्या आदि आठ अनुयोग द्वारों का आश्रय लेकर कथन किया गया है, साधारणत: यहाँ यही बात बीज रूप में बतलानी है कि ये पाँच शरीर किस नियम के साथ कितने होते हैं ।

(1) यह तो सामान्य नियम है कि सब संसारी जीवों के तैजस शरीर और कार्माण शरीर निरन्तर बना रहता है इन दो शरीरों का अयोग केवली के अन्तिम समय तक अभाव नहीं होता, इसका अर्थ यह नहीं है कि अनादि काल पहले जीव के साथ जिस तैजस और कार्माण शरीर का सम्बन्ध था उसी का आज भी सम्बन्ध बना हुआ है । अभिप्राय यह है कि बन्ध सन्तति का विच्छेद न होने से इन दोनों शरीरों का संसार में कभी अभाव नहीं होता ।

(2) अब शेष रहे तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियक और आहारक) सो ये किसके और कबसे होते हैं इस बात का पहले यहाँ निर्णय कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है । निश्चय नियम यह है कि जीव विग्रह गति में अनाहारक होता है । वर्तमान पर्याय का वियोग होकर उत्तर पर्याय के शरीर के ग्रहण के लिये जीव की गति दो प्रकार की होती है - पहली ऋजुगति और दूसरी विग्रह गति । मोडे रहित गति को ऋजुगति कहते हैं और विग्रह गति का अर्थ मोडे वाली गति से है ।

जो जीव वर्तमान पर्याय का त्यागकर ऋजुगति से दूसरी पर्याय के शरीर को ग्रहण करने के लिये गमन करता है वह अनाहारक नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर शरीर का त्याग होकर उत्तर पर्याय के शरीर के ग्रहण में काल भेद उपलब्ध नहीं होता । अब रहा मोड वाली गति का विचार सो उसमं पूर्व पर्याय के त्याग के साथ ही यद्यपि उत्तर पर्याय की प्राप्ति हो जाती है परन्तु उत्तर पर्याय की अवस्थिति के लिये शरीर का ग्रहण जब तक जीव मोडों को पार नहीं करता तब तक नहीं होता, इसलिये यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि जीव विग्रह गति में कम से कम दो शरीर वाला होता है । उन दो शरीरों के नाम तैजस शरीर और कार्माण शरीर है । और ये ही अनादि सम्बन्ध वाले हैं ।

हम पहले कह आये हैं कि विग्रह गति में जीव अनाहारक रहता है । यहाँ अनाहारक से तात्पर्य है किऐसा जीव औदारिक वैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता, इसलिये उसके इनमें से किसी भी एक शरीर की सत्ता नहीं होती । दूसरे पूर्व पर्याय में ग्रहण किये गये शरीर का उसी पर्याय के त्याग के साथ त्याग हो जाता है । इसलिये भी उसके इन तीन शरीरों में से किसी एक शरीर की सत्ता नहीं होती ।

अब यह देखना है कि ये तीन शरीर किस जीव के किस क्रम से उपलब्ध होते हैं इस सम्बन्ध में साधारण नियम यह है कि तिर्यंचों और मनुष्यों के जब औदारिक शरीर नाम कर्म का उदय होता है तब इन पर्यायों के मिलने पर आहारक होने के प्रथम समय से इस जीव के औदारिक शरीर पाया जाता है । देवों और नारकियों के वैक्रियक शरीर नाम कर्म का उदय होता है, इसलिये इनके भव ग्रहण करने पर आहारक होने के प्रथम समय से लेकर वैक्रियक शरीर उपलब्ध होता है । तथा प्रमत्त संयत जीव के आहारक ऋद्धि की प्राप्ति होने पर आहारक शरीर नाम कर्म के उदय के कारण विशेष के सद्भाव में अन्तर्मुहूर्त काल तक आहारक शरीर उपलब्ध होता है । इस प्रकार अधिकारी भेद से यह तो ज्ञात हो जाता है कि किसके कब से लेकर कितने शरीर होते है ।

यदि तिर्यंच और मनुष्य है तो आहारक होने के पूर्व उसके तैजस और कार्माण ये दो शरीर उपलब्ध होंगे और आहारक होने के प्रथम समय से लेकर उसके औदारिक, तैजस और कार्माण ये तीन शरीर अवश्य ही उपलब्ध होंगे । यदि देव और नारकी है तो आहारक होने के पूर्व उसके तैजस और कार्माण ये दो शरीर उपलब्ध होंगे और आहारक होने के प्रथम समय से लेकर वैक्रियक, तैजस और कार्माण ये तीन शरीर उपलब्ध होंगे । इस प्रकार अधिकारी भेद से तीन शरीर किस प्रकार पाये जाते हैं । इसका विचार किया, अब चार शरीर किसके किस प्रकार सम्भव हैं इसका विचार करना है ।

पहले हम यह तो कह ही आये हैं कि किसी प्रमत्त संयत जीव के योग्य सामग्री के सद्भाव में अन्तर्मुहूर्त काल तक आहारक शरीर की प्राप्ति सम्भव है । इसका यह अर्थ हुआ कि मनुष्य होने के नाते उसके औदारिक तैजस और कार्माण ये तीन शरीर तो पाये ही जाते हैं । साथ ही उसके चौथा आहारक शरीर भी हो जाता है यह कैसे होता है ? इसका खुलासा इस प्रकार है -

कि जब किसी प्रमत्त संयत जीव की तत्व विषयक सूक्ष्म शंका होती है और जिस क्षेत्र में वह है वहाँ उसका परिहार होना सम्भव नहीं होता या जब किसी तीर्थंकर को निष्क्रमण आदि कल्याणक की प्राप्ति होती है और देवादिक के जाने आने से उसकी सूचना मिलने पर वह प्रमत्त संयत जीव वन्दना के लिये जाना चाहता है या इसी प्रकार का अन्य कारण मिलने पर वह प्रमत्त संयत जीव आहारक ऋद्धि के सद्भाव में आहारक शरीर नाम कर्म के उदय से औदारिक शरीर से भिन्न आहारक शरीर को उत्पन्न करता है और वह आहारक शरीर उक्त प्रयोजन की पूर्ति कर विघटित हो जाता है । जिस समय आहारक शरीर उत्पन्न होकर अपना कार्य करता हैं उस समय औदारिक शरीर नाम कर्म का उदय नहीं रहता और औदारिक काय योग भी नहीं होता । उतने काल तक औदारिक शरीर बना अवश्य रहता है और पूरी तरह से जीव का उससे विच्छेद भी नहीं होता पर क्रिया का प्रयोजक वह नहीं होता । इस प्रकार ऐसे जीव के औदारिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये चार शरीर होते हैं ।

चार शरीरों की प्राप्ति का दूसरा प्रकार यह है कि पर्याप्त अग्निकायिक और पर्याप्त वायुकायिक जीव तथा पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्य औदारिक शरीर के रहते हुए भी विक्रिया करतेहैं । इनके वैक्रियक शरीर नाम कर्म का उदय न होकर औदारिक शरीर की ही यह विशेषता होती है फिर भी विक्रिया रूप गुण को देखकर इसकी वैक्रियक शरीर संज्ञा है । साथ ही यह ऐसे ही जीव के होता है जिसके वैक्रियक शरीर चतुष्क की सत्ता होती है । श्वेताम्बर कर्म साहित्य में तो उस समय वैक्रियक शरीर चतुष्क का उदय तक माना गया है । इस प्रकार इन जीवों के औदारिक वैक्रियक तैजस और कार्माण ये चार शरीर बन जाते हैं ।

पाँच शरीर किसी एक के सम्भव नहीं हैं क्योंकि वैक्रियक और आहारक शरीर की प्राप्ति एक साथ नहीं होती, इस प्रकार गति आदि मार्गणाओं में किस प्रकार किस मार्गणा में कितने शरीर घटित होते हैं । यह घटित कर लेना चाहिये ।

केवली जिन केवलि समुद्धात के समय तीन समय तक अनाहारक होते हैं और अयोग केवली भी अनाहारक होते हैं फिर भी उनके औदारिक, तैजस और कार्माण ये तीन शरीर उपलब्ध होते हैं ।

(ध. पु. 14, पृ. 318 से 320 तक)

170. **उराल** - स्थूल और महान ये एकार्थवाची शब्द है ।
उराल - अवगाहना की अपेक्षा उराल है, शेष शरीरों की अवगाहना से इस शरीर की अवगाहना बहुत है । इसलिये औदारिक शरीर उराल है । उपार पुद्गलों से हुआ है इसलिये औदारिक है। *(ध. पु. 14, पृ. 322)*

171. **शंका - इसकी अवगाहना के बहुत्व का ज्ञान कैसे होता है ?**
समाधान - क्योंकि महामत्स्य का औदारिक शरीर पाँच सौ योजन विस्तार वाला और एक हजार आयाम वाला देखा जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 322)*

172. **शंका - औदारिक शरीर की वर्गणाओं की अवगाहना बहुत है यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?**
समाधान - चूलिका के अल्प बहुत्व से जाना जाता है यथा कार्माण शरीर को द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा सबसे स्तोक हैं । मनोद्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी है भाषा द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी है । तैजस शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी है । आहारक शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी है । वैक्रियक शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी है औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असख्यात गुणी है । *(ध. पु. 14, पृ. 323)*

173. **शंका - उदार शब्द से उराल शब्द की निष्पत्ति होने पर औदारिक शरीर की महत्ता कैसे बनती हैं ?**
समाधान - क्योंकि यह निर्वृत्ति गमन का हेतु है और अठारह हजार शीलों की उत्पत्ति का निमित्त हैं इसलिये इसकी महत्ता बन जाती है । *(ध. पु. 14, पृ. 323)*

174. यह अल्प बहुत्व बन्धन गुण के अविभाग प्रतिच्छेदों के अल्प बहुत्व का प्रतिपादन करने वाले सूत्र से सिद्ध है यथा - औदारिक शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद सबसे स्तोक है, उनसे वैक्रियक शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त गुणे हैं । उनसे आहारक शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त गुणे हैं, उनसे तैजस शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त गुणे हैं उनसे कार्माण शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त गुणे हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 325)*

175. विविध गुण ऋद्धियों से युक्त हैं, इसलिये वैक्रियक हैं । अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व और कामरुपित्व इत्यादि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ हैं । इन ऋद्धि गुणों से युक्त है ऐसा समझकर वैक्रियक ऐसा कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 325)*

176. निपुण, स्निग्ध और सूक्ष्म आहार द्रव्यों में सूक्ष्मतर है, इसलिये आहारक है ।
(1) असंयम की बहुलता, (2) आज्ञा कनिष्ठता और (3) अपने क्षेत्र में केवलि विरह, इस प्रकार इन तीन कारणों से साधु आहारक शरीर को प्राप्त होते हैं ।
(1) **असंयम बहुलता** - जल, स्थल और आकाश के एक साथ दुष्परिहार्य सूक्ष्म जीवं से आपूरित होने पर असंयम बहुलता होती है, उसका परिहार करने के लिये साधु हंस

और वस्त्र के समान धवल, अप्रतिहत आहार वर्गणा के स्कन्धों से निर्मित और एक हाथ प्रमाण उत्सेध वाले आहारक शरीर को प्राप्त होते हैं । इसलिये यह आहारक शरीर का प्राप्त करना 'असंयम बहुलता' निमित्तक कहा जाता है ।

(2) **आज्ञा कनिष्ठता** - आज्ञा, सिद्धान्त और आगम ये एकार्थकवाची शब्द हैं । उसकी कनिष्ठता अर्थात् अपने क्षेत्र में उसका थोड़ा होना आज्ञा कनिष्ठता कहलाती है । यह द्वितीय कारण है । आगम को छोड़कर द्रव्य और पर्यायों के अन्य प्रमाण को विषय न होने पर तथा उनमें सन्देह होने पर अपने सन्देह को दूर करने के लिये पर क्षेत्र में स्थित श्रुत केवली और केवली के पाद मूल में जाता है, ऐसा विचार कर आहारक शरीर रूप से परिणमन करके गिरि, नदी, सागर, मेरु, पर्वत, कुलाचल और पाताल में केवली और श्रुत केवली के पास जाकर तथा विनय से पूछकर सन्देह से रहित होकर लौट आते हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है ।

(3) **केवलि विरह** - पर क्षेत्र में महामुनियों के केवलज्ञान की उत्पत्ति और परिनिर्वाण गमन तथा तीर्थंकरों के परिनिष्क्रमण कल्याणक यह तीसरा कारण है । विक्रिया ऋद्धि से रहित और आहारक लब्धि से युक्त साधु अवधिज्ञान से या श्रुतज्ञान से या देवों के आगमन के विचार से केवलज्ञान की उत्पत्ति जानकर वन्दना भक्ति से जाता हूँ, ऐसा विचार कर आहारक शरीर रूप से परिणमन कर उस प्रदेश में जाकर उन केवलियों की और दूसरे जिनों व जिनालयों की वन्दना कर वापिस आते हैं । यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

विशेष - इन तीनों ही कारणों का अवलम्बन लेकर ग्रहण किये जाने वाले आहारक शरीर की नाम निरुक्ति कहते हैं - यथा निपुण अर्थात् अण्हा और मृदु यह उक्त कथन का तात्पर्य है स्निग्ध अर्थात् धवल, सुगन्ध, सुष्ठु और सुन्दर यह उक्त कथन का तात्पर्य है अप्रतिहत का नाम सूक्ष्म है । आहार द्रव्यों में से आहारक शरीर को उत्पन्न करने के लिये निपुणतर और स्निग्धतर स्कन्ध को आहरण करता है अर्थात् ग्रहण करता है इसलिये आहारक कहलाता है । अथवा आहारक द्रव्य प्रमाण है, उनमें से निपुणों में अति निपुण, निष्णातों में अति निष्णात और सूक्ष्मों में अति सूक्ष्म को आहरण करता है (जानता है) इसलिये आहारक है । *(ध. पु. 14, पृ. 326-327)*

शंका - आहारक शरीर के परमाणु पाँच वर्ण वाले हैं, उनमें केवल शुक्लपना कैसे बन सकता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि विस्रसोपचय के वर्ण की अपेक्षा धवलपना उपलब्ध है ।

(ध. पु. 14, पृ. 327)

177. तेज और प्रभा रूप गुण से युक्त है इसलिये तैजस है । शरीर स्कन्ध के पद्मराग मणि के समान वर्ण का नाम तेज है तथा शरीर से निकली हुई रश्मि कलाप का नाम प्रभा इससे हुआ तैजस शरीर है । वह तैजस शरीर 1. निःसरणात्मक व 2. अनिसरणात्मक इस तरह दो प्रकार का है, उसमें भी निःसरणात्मक शरीर शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है ।

(1) **शुभ तैजस** - उग्र चारित्र वाले तथा दयापूर्वक, अनुकम्पा से आपूरित, संयत के इच्छा होने पर दाहिने कंधे से हंस और शंख के वर्ण वाला शरीर निकल कर मारी, दिरमर, व्याधि, वेदना, दुर्भिक्ष और उपसर्ग आदि के प्रशमन द्वारा सब जीवों और संयत के जो सुख उत्पन्न करता है वह शुभ तैजस कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 328)*

(2) **अशुभ तैजस** - क्रोध को प्राप्त हुए संयत के बाये कंधे से बारह योजन लम्बा नो योजन चौड़ा और सूच्यंगल के संख्यातवें प्रमाण मोटा तथा जपा कुसुम के रंग वाला शरीर निकलकर अपने क्षेत्र के भीतर स्थित हुए जीवों का विनाश करके पुनः प्रवेश करते हुए जो उसी संयत को व्याप्त करता है वह अशुभ तैजस शरीर है ।

अनि:सरणात्मक तैजस शरीर - नहीं निकलने वाला वह तैजस शरीर भुक्त अन्नपात्र पाचन में समर्थ होकर भीतर रहता है । यह तेज और प्रभा से युक्त होता है तैजस कहते है । अर्थात् यह अनि:सरणात्मक तैजस शरीर कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 328)*

178. सब कर्मों का प्ररोहण (आधार), उत्पादक और सुख-दु:ख का बीज है इसलिये कार्माण शरीर है । **प्ररोहण** - कर्म इसमें उगते हैं इसलिये प्ररोहण कहलाता है । आधार - कूष्मांड फल के वृन्त के समान कार्माण शरीर सब कर्मों का आधार है । यह उक्त कथन का तात्पर्य है । कार्माण शरीर केवल सब कर्मों की उत्पत्ति का आधार ही नहीं है । किन्तु सब कर्मों का उत्पादक भी है क्योंकि उसके बिना उनकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये वह सुख दु:खों का बीज है - क्योंकि, उसके बिना उनका सत्व भी नहीं होता । इस द्वारा नाम कर्म के अवयव रूप कार्माण शरीर की प्ररूपणा की है अब आठों कर्मों के कलाप रूप कार्माण शरीर के लक्षण के प्रतिपादकपने की अपेक्षा इस सूत्र का व्याख्यान करते हैं, यथा - आगामी सब कर्मों का प्ररोहण, उत्पादक और त्रिकाल विषयक समस्त सुख-दु:ख का बीज है इसलिये आठों कर्मों का समुदाय कार्माण शरीर है क्योंकि कर्म में हुआ इसलिये कार्माण है अथवा कर्म ही कार्माण है इस प्रकार यह कार्माण शब्द की व्युत्पत्ति है । अर्थात् नाम कर्म की 93 प्रकृतियों में एक कार्माण शरीर प्रकृति है उसके उदय से ज्ञानावरणादि कर्म कार्माण संज्ञा को प्राप्त होते हैं अथवा ये सब ज्ञानावरणादि कर्म कार्माण ही है । *(ध. पु. 14, पृ. 328-329)*

179. **तद्भवस्थ** - उस भव में जो स्थित है वह तद्भवस्थ कहलाता है । प्रथम समयवर्ती जो तद्भवस्थ वह प्रथम समय में तद्भवस्थ है। *(ध. पु. 14, पृ. 332)*

180. जिस शरीर के प्रथमादि समयों में जितने परमाणु मिलते हैं उनका अपनी-अपनी आयु स्थित के अनुसार बंटवारा होकर उनमें से जिनकी जितनी स्थिति पड़ती है उतने काल तक वे रहते हैं, उदाहरणार्थ - तीन पल्य की आयु वाले किसी मनुष्य ने प्रथम समय में ही तद्भवस्थ होकर औदारिक शरीर के परमाणुओं को ग्रहण करके उन्हें तीन पल्य के जितने समय हैं उनमें बांट दिया तो इनमें से जिनकी स्थिति एक समय है वे एक समय तक रहकर निर्जीण हो

जाते हैं, जिनकी स्थिति दो समय है वे दो समय तक रहकर निर्जीण हो जाते है इसी प्रकार क्रम से 1-1 समय बढ़ते हुए तीन पल्य के अन्तिम सयम तक ले जाना चहिये । यह प्रथम समय में ग्रहण किये गये परमाणुओं की अपेक्षा कथन किया, आहारक होने के दूसरे समय में जिन परमाणुओं का ग्रहण होता है उनकी निषेक रचना प्रथम समय से नहीं होती, क्योंकि इनके लिये प्रथम समय गत हो चुका है इसी प्रकार तृतीयादि समय में ग्रहण किये हुए परमाणुओं के विषय में भी जानना चाहिये ।

यहाँ दो बातें खासरूप से समझने की है, प्रथम तो यह है कि नो कर्म की अबाधा नहीं होती, इसलिये इनकी निषेक रचना उसी समय से होती है जिस समय में उनको ग्रहण किया है और दूसरी बात यह है कि नो कर्म की स्थिति भुज्यमान आयु के अनुसार होती है और इसलिये जिसकी जितनी भव स्थिति होती है या शेष रहती है ग्रहण किये गये नो कर्म की उतनी ही स्थिति पड़ती है । ***(ध. पु. 14, पृ. 333)***

इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है - जो औदारिक आदि तीन शरीरों के लिये वर्गणायें आती हैं उनमें से जिसकी जितनी स्थिति है उसके अनुसार उनकी निषेक रचना होती है,

निषेक - निषेक शब्द नि उपसर्ग पूर्वक सिच् धातु से बना है जिसका अर्थ सिञ्चन करना हैं जो जीव एक पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय को ग्रहण करता है वह यदि विग्रह गति में स्थित होता है तो उसके विग्रह गति में रहते हुए अपनी-अपनी पर्याय के अनुसार औदारिक आदि तीन शरीर के योग्य वर्गणाओं का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उसके यथा सम्भव औदारिक शरीर और वैक्रियक शरीर नाम कर्म का उदय नहीं होता, किन्तु जब ऐसा जीव यथा सम्भव एक दो या तीन मोड़ों को पारकर अवस्थित होता है तब उसके इन नाम कर्मों का उदय होता है और तभी यह जीव इन शरीरों के योग्य वर्गणाओं को ग्रहण करता है अर्थात् यदि वह मनुष्य और तिर्यंच है तो उसके औदारिक शरीर नाम कर्म का उदय होता है और इसलिये वह औदारिक शरीर के योग्य नो कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता है तथा यदि देव और नारकी है तो उसके वैक्रियिक शरीर नाम कर्म का उदय होता है और इसलिए वह वैक्रियिक शरीर के योग्य नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता है । सूत्र में प्रथम समय आहारक और प्रथम समय तद्भवस्थ कहने का ही तात्पर्य है ।

अब देखना है कि इस प्रकार जो औदारिक और वैक्रियक शरीर के योग्य नो कर्म वर्गणाओं प्रथमादि समयों में ग्रहण होता है उनकी निषेक रचना किस प्रकार होती है । सूत्र में कहा है कि प्रथम समय में जो वर्गणायें ग्रहण की है उनमें से कुछ को प्रथम समय में निपिक्त करता है, कुछ को द्वितीय समय में निषिक्त करता है । इस प्रकार प्रत्येक समय में निषक्त करता हुआ अपनी अपनी स्थिति के अन्तिम समय तक निपिक्त करता है और फिर उसके बाद सूत्र में औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और वैक्रियक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और वैक्रियक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस (33) सागर बतलाई है सो इसका इतना ही अभिप्राय है कि मनुष्यों और तिर्यंचों के क्षुल्लक भव ग्रहण से लेकर तीन पल्य के भीतर तथा देव और नारकियों के 10 हजार वर्ष से लेकर तैतीस सागर से भीतर जिसकी जितनी आयु के अनुसार उसके शरीर के लिये ग्रहण किये गये परमाणुओं की निषेक रचना होती है ।

उदाहरणार्थ - कोई मनुष्य सौ वर्ष की आयु लेकर ऋजु गति से उत्पन्न हुआ तो उसके प्रथम समय में औदारिक शरीर की जिन वर्गणाओं का ग्रहण होगा उनमें से कुछ वर्गणाओं की एक समय स्थिति पड़ेगी कुछ वर्गणाओं की दो समय स्थिति पड़ेगी और कुछ वर्गणाओं की तीन समय की, कुछ वर्गणाओं की चार समय की आदि से लेकर सौ वर्ष स्थिति प्रमाण पड़ेगी, कर्म वर्गणाओं के ग्रहण होने पर अबाधा काल को छोड़कर उनकी अपनी स्थिति के अनुसार निषेक रचना होती है, उस इन दो शरीरों की बात नहीं है क्योंकि इनका भोग प्रथम समय से ही होने लगता है इसलिये स्वभावत: निषेक रचना भी इसी क्रम से होती है । यह तो प्रथम समय में ग्रहण किये गये पुद्गलों का विचार किया गया, द्वितीयादि समयों में जो नो कर्म वर्गणायें आती हैं उनकी निषेक रचना भी इसी प्रकार जाननी चाहिये । मात्र वहाँ आयु में एक समय कम हुआ है इसलिये उनकी निषेक रचना जिस समय में जितनी स्थिति शेष रहती है उसके अनुसार होती है । अर्थात् उक्त मनुष्य दूसरे समय में औदारिक शरीर के योग्य जिन वर्गणाओं का ग्रहण करेंगे, उनकी निषेक रचना एक समय कम सौ वर्ष के जितने समय होंगे, तत्प्रमाण करेगा । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये यह तो औदारिक शरीर और वैक्रियक शरीर के सम्बन्ध में विचार हुआ । *(ध. पु. 14, पृ. 334)*

आहारक शरीर की निषेक की रचना तो इसी प्रकार होती है मात्र इसके निषेकों की रचना भव स्थिति काल प्रमाण न होकर आहार शरीर के अवस्थितकाल प्रमाण होती है, क्योंकि आहारक शरीर का ग्रहण प्रथम समयवर्ती आहारक और प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ जीव नहीं करता, किन्तु इसकी प्राप्ति संयत जीव के होती है । इसलिये जिस समय से संयत जीव आहार शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, उस समय से लेकर आहारक शरीर के समाप्ति काल तक जो अन्तर्मुहूर्त काल लगता है उतने समयों में इस शरीर के योग्य पुद्गलों की रचना करता है, शेष सब व्यवस्था पूर्ववत् जाननी चाहिये, यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि यद्यपि संयत जीव आहारक शरीर को उत्पन्न करते समय नवीन पर्याय धारण नहीं करता फिर भी उसका उतने काल तक औदारिक शरीर से योग क्रिया का सम्पर्क छूटकर आहारक शरीर से सम्पर्क स्थापित होता है, उसी प्रकार छह पर्याप्तियों की पूर्णता आदि विधि होती है इसलिये इसके एक तरह से अन्य पर्याय का ग्रहण ही है, यही देखकर इस शरीर की निषेक रचना का विधान करते हुए भी प्रथम समय में आहारक हुआ और प्रथम समय में तद्भवस्थ हुआ यह विशेषण लगाया है इस प्रकार इन तीन शरीर की निषेक रचना का विचार किया । *(ध. पु. 14, पृ. 335)*

181. तैजस शरीर वाले जीव के द्वारा तैजस शरीर रूप से जो प्रदेशाग्र प्रथम समय में बांधे जाते हैं उनमें से कुछ जीव में एक समय तक रहता है कुछ दो समय तक रहता है और कुछ तीन समय तक रहता है । इस प्रकार से उत्कृष्ट रूप से छयासठ सागर काल तक रहता है ।

(ध. पु. 14, पृ. 335)

शंका - एक सूत्र न करके अलग रूप से यह सूत्र किसलिये कहा है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि प्रथम समय में आहार करने वाला और प्रथम समय में तद्भवस्थ हुआ जीव निषेक रचना करता है, इस प्रकार यहाँ कोई नियम नहीं है तथा अनादि से संसार में घूमते हुए जीव के जहाँ कही भी स्थापित करके तैजस शरीर की प्रदेश रचना उपलब्ध होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 335)*

182. कार्माण शरीर वाले जीव के द्वारा कार्माण शरीर रूप से जो प्रदेशाग्र बांधे जाते हैं उनमें से कुछ जीव में एक समय अधिक आवलि प्रमाण काल तक रहता है कुछ दो समय अधिक आवलि प्रमाण काल तक रहता है और कुछ तीन समय अधिक आवलि प्रमाण काल तक रहता है इस प्रकार उत्कृष्ट रूप से कर्म स्थिति प्रमाण काल तक रहता है । यहाँ पर कर्म स्थिति ऐसा कहने पर सत्तर कोडाकोडि सागर का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि आठों कर्मों के समुदाय को कार्माण शरीर रूप से स्वीकार किया है, प्रथम समय में जो प्रदेशाग्र निपिक्त होता है, उनमें से कुछ जीव में एक समय अधिक एक आवलि प्रमाण काल तक रहता है, क्योंकि बन्धावलि के बाद द्रव्य का अपकर्षण करके एक समय अधिक आवलि रूप उदय समय में लाये गये द्रव्य का दो समय अधिक आवलि के अन्तिम समय में अकर्मपना देखा जाता है इस अर्थपद को ग्रहण करके आगे सर्वत्र कहना चाहिये ।

तैजस शरीर और कार्माण शरीर सन्तति की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध वाले हैं, भव के परिवर्तन के साथ जिस प्रकार औदारिक और वैक्रियिक शरीर बदल जाते हैं उस प्रकार ये नहीं बदलते । विग्रह गति में इनकी परम्परा चालू रहती है । इसलिये इन दोनों की निषेक रचना प्रथम समय में आहरण करने वाले और प्रथम समय में तद्भवस्थ हुए जीव के द्वारा प्रारम्भ नहीं कराई गई है । किन्तु बन्ध की अपेक्षा कहीं भी प्रथम समय मानकर शरीरों की निषेक रचना का विधान किया है, तैजस शरीर का शेष विचार औदारिक आदि तीन शरीरों की समान है मात्र कार्माण शरीर की निषेक रचना और अवस्थितकाल में कुछ विशेषता है । तात्पर्य यह है कि कार्माण शरीर की निषेक रचना अबाधा काल को छोड़कर होती है तथा कोई भी निषेक बन्धकाल से लेकर कम से कम एक समय एक आवलि प्रमाण काल तक अवश्य ही अवस्थित रहता है शेष विचार अन्यत्र से जान लेना चाहिये ।

(ध. पु. 14, पृ. 335-336)

183. **प्रदेश विरच** - कर्म पुद्गल प्रदेश जिसमें विरचा जाता है अर्थात् स्थापित किया जाता है वह प्रदेश विरच कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 352)*

184. **शंका - जीवनीय स्थान बन्ध स्थानों के समान न होकर विशेष अधिक कैसे ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि भुज्यमान आयु का कदली घात सम्भव होने से जघन्य निर्वृत्ति स्थान से नीचे जीवनीय स्थान उपलब्ध होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 354)*

185. **शंका - भुज्यमान आयु का कदली घात होता है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?**
समाधान - इसी सूत्र से जाना जाता है, अन्यथा निर्वृत्ति स्थानों से जीवनीय स्थान विशेष अधिक नहीं बन सकते । *(ध. पु. 14, पृ. 354)*

186. पहले कहे गये सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त की सबसे जघन्य आयु के निर्वृत्ति स्थान का कदली घात नहीं होता, इसी प्रकार एक समय अधिक और दो समय अधिक आदि निर्वृत्तियों का घात नहीं होता, पुनः इस जघन्य निर्वृत्ति स्थान से संख्यात गुणी आयु का बन्ध करके सूक्ष्म पर्याप्तकों में उत्पन्न हुए जीव का कदली घात होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 354)*

187. जघन्य निर्वृत्ति स्थान से नीचे जीवनीय स्थान ही हैं निर्वृत्ति स्थान नहीं है क्योंकि वहाँ आयु बन्ध के विकल्पों का अभाव है । ऊपर निर्वृत्ति स्थान और जीवनीय स्थान सदृश हैं क्योंकि, जीवों की बँधी हुई आयु मात्र काल तक जी कर अन्यत्र गमन पाया जाता है *(ध. पु. 14, पृ. 355)*

188. **शंका - पूर्व कोटि काल के ऊपर निरन्तर वृद्धि कैसे सम्भव है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि उत्सर्पिणी काल का आश्रय लेकर भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों में पूर्व कोटि के ऊपर एक समय अधिक आदि के क्रम से तीन पल्य प्रमाण काल तक निरन्तर वृद्धि देखी जाती है । *(ध. पु. 14, पृ. 359)*

189. **शंका - निवृत्ति स्थानों की अपेक्षा जीवनीय स्थान यहाँ विशेष अधिक क्यों नहीं कहे हैं?**
समाधान - नहीं, क्योंकि देव और नारकियों में आयु का कदली घात नहीं होता ।
(ध. पु. 14, पृ. 360)

190. **शंका - देवों और नारकियों में आयु का कदली घात नहीं होता, यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?**
समाधान - 'वहाँ निर्वृत्ति स्थान और जीवनीय स्थान तुल्य है' यह सूत्र अन्यथा बन नहीं सकता है। इससे जाना जाता है कि देवों और नारकियों में कदली घात नहीं होता ।
(ध. पु. 14, पृ. 360)

191. **निर्वत्ति स्थान** - एक जीव के जितनी आयु का बंध होता है उसकी निर्वृत्ति स्थान संज्ञा है ।

192. **जीवनीय स्थान** - एक जीव के भव ग्रहण के प्रथम समय से लेकर जितने काल तक जीवित रहता है उसकी जीवनीय स्थान संज्ञा है । *(ध. पु. 14, पृ. 361)*

193. यह एकान्त नियम नहीं है कि जिस भव की जितनी आयु का बन्ध होता है वह उस भव के ग्रहण के समय उतनी नियम से रहती है, यदि आयु बन्ध के भव में उसका अपवर्तन न हो या द्वितीयादि त्रिभागों में अधिक आयु का बन्ध न हो तो भव ग्रहण के समय उतनी ही रहती है और यदि पूर्वोक्त क्रिया हो लेती है तो वह घट बढ़ भी जाती है । इस प्रकार भव ग्रहण करने के बाद यदि कदली घात न हो तो भव ग्रहण के समय जितनी आयु होती है, उतने काल तक यह जीव जीवित रहता है, अन्यथा कदली घात होने से जीवन काल अल्प हो जाता है ।

194. दूसरे मतानुसार आचार्य कहते है कि जो जघन्य पर्याप्त निर्वृत्ति को लेकर उत्पन्न होता है उसके यह कदलीघात होकर जघन्य जीवनीय स्थान नहीं प्राप्त होता किन्तु जघन्य पर्याप्त निर्वृत्ति स्थान से अधिक आयु लेकर उत्पन्न होने वाले जीव के ही यह जघन्य जीवनीय स्थान प्राप्त होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 361)*

195. यहाँ पर क्षुल्लक भव ग्रहण दो प्रकार का है-1. निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण, 2. घात क्षुल्लक भव ग्रहण।

(1) **निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण** - जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त से युक्त जघन्य आयु का बन्ध है वह निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण है । *(ध. पु. 14, पृ. 362)*

(2) **घात क्षुल्लक भव ग्रहण** - निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण कम जो जीवनीय काल है वह अथवा निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण के संख्यात बहुभाग का घात करके स्थापित किया गया जो संख्यातवाँ भाग है वह घात क्षुल्लक भव ग्रहण है । सबसे जघन्य जीवनीय काल प्रमाण घात क्षुल्लक भव ग्रहण है । *(ध. पु. 14, पृ. 362)*

196. अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस (66336) मरण और उतने ही क्षुल्लक भव ग्रहण होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 362)*

197. **शंका - निवृत्ति किसे कहते हैं ?**
समाधान - कदली घात के बिना आयु कर्म के बन्ध काल के भीतर जो जीवनकाल है उसे निर्वृत्ति कहते हैं । परन्तु जीवनीय स्थान निवृत्ति नहीं होता, क्योंकि उसका बंध स्थानों में अन्तर्भाव होने का कोई नियम नहीं है । *(ध. पु. 14, पृ. 363 व 364)*

198. उत्कृष्ट स्थिति प्रदेशाग्र - तीन पल्यों के समय से लेकर एक समय प्रबद्ध के क्रम से निक्षिप्त होने पर तीन पल्यों के अन्तिम समय में जो प्रदेशाग्र निक्षिप्त होता है । उसकी उत्कृष्ट स्थिति प्रदेशाग्र संज्ञा है । *(ध. पु. 14, पृ. 364)*

199. (1) **जघन्य पद** - जघन्य द्रव्य का का आश्रय कर जो गुणकार है वह जघन्य पद कहलाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 371)*

(2) **उत्कृष्ट पद** - उत्कृष्ट द्रव्य का आश्रय कर जो गुणकार है वह उत्कृष्ट पद कहलाता है ।

(3) **जघन्य उत्कृष्ट पद** - दोनों प्रकार द्रव्यों का आश्रय कर जो गुणाकार है वह जघन्य उत्कृष्ट पद कहलाता है ।

200. जो तीन पल्य की आयु वाला उत्तर कुरु और देव कुरु का अन्यतर मनुष्य है । स्त्रीवेद और पुरुष वेद के कारण तथा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व आदि गुणों के कारण द्रव्य विशेष नहीं होता इस बात का ज्ञान कराने के लिये अन्यतर पद का निर्देश किया है । शेष गतियों का निषेध करने के लिये तथा शेष मनुष्यों का निषेध करने के लिये उत्तर कुरु और देव कुरु के मनुष्यों के इस पद का ग्रहण किया है । *(ध. पु. 14, पृ. 398)*

201. **शंका - अन्य के उत्कृष्ट स्वामित्व का निषेध किसलिये किया है ?**
समाधान - क्योंकि अन्यत्र बहुत साता का अभाव है, क्योंकि असाता से औदारिक शरीर के बहुत पुद्गल का अपचय देखा जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 398)*

202. **शंका - उत्तर कुरु और देव कुरु के सब मनुष्य तीन पल्य की स्थिति वाले ही होते हैं, इसलिये तीन पल्य की स्थिति वाले के यह विशेषण युक्त नहीं है ?**
समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि उत्तर कुरु और देवकुरु के मनुष्य तीन पल्य की स्थिति वाले ही होते हैं ऐसा कहने का फल वहाँ पर शेष आयु स्थिति के विकल्पों का निषेध

करना है और इस सूत्र को छोड़कर अन्य सूत्र नहीं है, जिससे यह ज्ञान हो कि उत्तर कुरु और देव कुरु के मनुष्य तीन पल्य को स्थिति वाले ही होते हैं, अत: यह विशेषण सफल है । अथवा एक समय अधिक दो पल्य को लेकर एक समय कम तीन पल्य तक के स्थिति विकल्पों का निषेध करने के लिये सूत्र में तीन पल्य की स्थिति वाले पद का ग्रहण किया है। सर्वार्थसिद्धि के देवों की आयु जिस प्रकार निर्विकल्प होती है उस प्रकार वहाँ की आयु निर्विकल्प नहीं होती क्योंकि इस प्रकार की आयु की प्ररूपणा करने वाला सूत्र और व्याख्यान उपलब्ध नहीं होता । *(ध. पु. 14, पृ. 399)*

203. उसी मनुष्य ने प्रथम समय में आहारक और प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट योग सेआहार को ग्रहण किया ।

(1) **आहार** - शरीर के योग्य पुद्गल पिण्ड का ग्रहण करना आहार है । वहाँ प्रथम समय में आहारक होकर आहार ग्रहण किया, द्वितीय आदि समयों में आहार का प्रतिषेध करने के लिये 'प्रथम समय' पद से आहार को विशेषित किया है *(ध. पु. 14, पृ. 399)*

204. **शंका - विग्रह गति से उत्पन्न होने में क्या दोष है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि दो समय में संचित हुए द्रव्य के अभाव का प्रसंग आता है । प्रथम समय में आहारक जिस जीव के जो उत्कृष्ट योग होता है वह उत्कृष्ट योग वहाँ पर विवक्षित है । उस उत्कृष्ट योग से आहार ग्रहण किया । अनाहार विकल्प का निषेध करने के लिये 'एवकार' पद का निर्देश किया है । इस प्रकार उत्पन्न होने के प्रथम समय में आहार विशेष का कथन किया - आगे प्रथम समय के योग से द्वितीयादि समयों के योग असंख्यात गुणे, असंख्यात गुणे होते हैं इस प्रकार एकान्तानुवृद्धि योग तक ले जाना चाहिये । गुणकार जघन्य भी है और उत्कृष्ट भी है । तथा जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यात गुणा है यहाँ जघन्य का निषेध कर उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह कहा है । इस द्वारा एकान्तानुवृद्धि से आहार ग्रहण का क्रम कहा । *(ध. पु. 14, पृ. 399-400)*

205. **शंका - उत्कृष्ट योग से ही आहार ग्रहण क्यों कराया ?**
समाधान - बहुत पुद्गलों के ग्रहण करने के लिये । *(ध. पु. 14, पृ. 401)*

206. अन्तर्मुहूर्त अर्थात् सबसे लघु काल द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ । छह पर्याप्तियों के पूरा होने का काल जघन्य भी है और उत्कृष्ट भी है उनमें से सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ । *(ध. पु. 14, पृ. 400)*

207. **शंका - लघु अपर्याप्त काल किसलिये ग्रहण किया है ?**
समाधान - पर्याप्तकालीन परिणाम योगों से अपर्याप्त कालीन एकान्तानु वृद्धियोग असंख्यात गुणे हीन होते हैं । अत: उनके द्वारा बहुत पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता इसलिये अपर्याप्त काल लघु ग्रहण किया है । *(ध. पु. 14, पृ. 400)*

208. उसके बोलने के काल अल्प है । सब पर्याप्तियों को समाप्त करके बोलते हुए जिसके भाषा काल अल्प है वह उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी है । *(ध. पु. 14, पृ. 401)*

209. **शंका - भाषा काल का स्तोकपना किसलिये चाहते हैं ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि भाषा के व्यापार से जो परिश्रम होता है उससे तथा भाषा रूप पुद्गलों का अभिघात होने से बहुत औदारिक शरीर के पुद्गलों की निर्जरा होने का प्रसंग आता है इसलिये भाषाकाल का स्तोकपना चाहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 407)*

210. मनोयोग के काल अल्प है । चिन्ता के कारण जो परिश्रम होता है उससे गलने वाले पुद्गल स्कन्धों का निषेध करने के लिये 'मनोयोग के काल अल्प है' यह कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 407)*

211. छवि छेद अल्प है - छवि शरीर को कहते हैं उसके नख आदि का क्रिया विशेष द्वारा खण्डन करना छेद है । वे छेद वहाँ अल्प है अर्थात् स्तोक हैं क्योंकि बहुत क्रियाओं के बिना उसके होने में कोई विरोध नहीं आता । जिनसे शरीर पीड़ा होती है वे वहाँ अल्प हैं । यह इसका भावार्थ है । *(ध. पु. 14, पृ. 401)*

212. जीवितव्य काल के स्तोक शेष रहने पर योग यव मध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा ।
यव मध्य - आठ समय प्रायोग्य योग स्थानों को यव मध्य कहते हैं । उससे अधस्तन योग स्थानों से असंख्यात गुणे उपरिय योग स्थानों में अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा ।*(ध. पु. 14, पृ. 402)*

213. **शंका - वहाँ अन्तर्मुहूर्त काल तक किसलिये रहा ?**
समाधान - बहुत पुद्गलों का संग्रह करने के लिये । *(ध. पु. 14, पृ. 402)*
शंका - वहाँ बहुत काल तक क्यों नहीं रहता ?
समाधान - नहीं क्योंकि अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक काल तक वहाँ रहना सम्भव नहीं है ।
विशेष - काल देशामर्षक सूत्र के अर्थ का कथन करने के लिये यह वचन है । इससे उपयोग भव मध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है यह ग्रहण नहीं करना चाहिये । किन्तु तीन पल्य प्रमाण काल के भीतर जब-जब सम्भव है तब-तब भव मध्य के ऊपर के योग स्थानों में ही परिणमन करता है ऐसा समझना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 402)*

214. अन्तिम जीव गुण हानि स्थानान्तर में आवलि के असंख्यातवें भाग तक रहा । क्योंकि, जो अन्तिम जीव गुणहानि है वहाँ आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल का आश्रय लेकर अन्तिम योग से वहाँ के योग असंख्यात गुणे होते हैं ।

215. **शंका - काल भव मध्य के ऊपर रहने वाले जीवों में से यदि अन्तिम जीव गुणहानि स्थानान्तर में रहने वाले जीवों को बहुत द्रव्य का लाभ होता है तो आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल को छोड़कर वहाँ बहुत काल तक क्यों नहीं ठहराया ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि वहाँ बहुत काल तक रहना सम्भव नहीं है इसलिये वहाँ आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल से अधिक नहीं ठहराया ।
विशेष - यह भी काल देशामर्षक सूत्र है इसलिये मात्र काल की विवक्षा न करके भव मध्य के ऊपर रहता हुआ जब तक सम्भव है तब तक अन्तिम जीव गुण हानि स्थानान्तर में ही रहता है यह उक्त सूत्र के कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 14, पृ. 403)*

216. चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ ।

शंका - यहाँ उत्कृष्ट योग को किसलिये प्राप्त कराया है ?

समाधान - योगवृद्धि से प्रदेशबन्ध की वृद्धि बहुत होती है इस बात का ज्ञान कराने के लिये यहाँ उत्कृष्ट योग को प्राप्त कराया ।

शंका - दो समय को छोड़कर सर्वत्र भव स्थिति के भीतर उत्कृष्ट योग को क्यों नहीं प्राप्त कराया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट योग के साथ दो समय, तीन समय और चार समय को छोड़कर सर्वत्र भव-स्थिति के भीतर बहुत काल तक परिणमन करने की शक्ति का अभाव है ।

विशेष - यह भव देषामर्षक सूत्र है, इसलिये इस भव में जब तक सम्भव है तब तक उत्कृष्ट योग को ही प्राप्त हुआ ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 404)*

शंका - यहाँ पर संक्लेश वास का कथन क्यों नही किया ?

समाधान - क्योंकि मरकर ऋजुगति के प्राप्त होने पर कषाय की वृद्धि और हानि से कोई प्रयोजन नहीं है और संक्लेश के सद्भाव में अवलम्बना करण के करने से बहुत नो कर्म पुद्गलों के गलने का प्रसंग प्राप्त होता है । इसलिये यहाँ संक्लेशवास का ग्रहण नहीं किया । *(ध. पु. 14, पृ. 404)*

217. अन्तिम समय में तद्भवस्थ हुए उस जीव के औदारिक शरीर का उत्कृष्ट प्रदेशाग्र होता है ।

भावार्थ - किसी तिर्यंच और मनुष्य ने दान या दान के अनुमोदन से तीन पल्य की स्थिति वाले देव कुरु और उत्तर कुरु वाले मनुष्यों की आयु का बन्ध किया । इस प्रकार इस क्रम से मरकर ऋजुगति से देवकुरु और उत्तर कुरु में उत्पन्न हुआ पुनः प्रथम समय में आहारक और प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट उपपाद भोग से आहार ग्रहण कर उन ग्रहण किये गये नो कर्म प्रदेशों को तीन पल्य के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक गोपुच्छाकार से निक्षिप्त किया, फिर द्वितीय समय से लेकर उत्कृष्ट एकान्तानुवृद्धि योग से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल तक असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से नो कर्म प्रदेशों को ग्रहण कर तीन पल्य प्रमाण काल में निक्षिप्त किया पुनः अतिशीघ्र पर्याप्तियों को समाप्त करके और परिणाम योग को प्राप्त होकर सूत्र में कही गई विधि से आकर जो अन्तिम समय में स्थित होता है वह उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी होता है । यह उक्त कथन का तात्पर्य है। सूत्र में द्वितीय 'तप्स' पद का निर्देश निष्फल नहीं है क्योंकि उस चरम समयवर्ती तद्भवस्थ जीव के जो औदारिक शरीर होता है उसके उत्कृष्ट प्रदेशाग्र होता है ऐसा सम्बन्ध करने पर उसकी सफलता उपलब्ध होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 405)*

218. उससे अतिरिक्त, अनुत्कृष्ट प्रदेशाग्र है । अनुत्कृष्ट स्थान - पहले जो उत्कृष्ट प्रदेशाग्र कह आये हैं उसमें से अपकर्षणवश एक परमाणु के नष्ट होने पर अनुत्कृष्ट स्थान होता है ।

(ध. पु. 14, पृ. 410)

शंका - उत्कृष्ट पद की अपेक्षा वैक्रियक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी कौन है?
समाधान - जो बाईस सागर की स्थिति वाला आरण और अच्युत कल्पवासी अन्यतर देव है।

शंका - दीर्घ आयु वाले सर्वार्थसिद्धि के देवों में उत्कृष्ट स्वामित्व क्यों नहीं दिया ?
समाधान - नहीं, क्योंकि नौ ग्रैवेयक आदि ऊपर के देवों में उत्कृष्ट योग परावर्तन के बार प्रचुर मात्रा में नहीं उपलब्ध होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 411)*

शंका - नीचे के देवों में उत्कृष्ट स्वामित्व क्यों नहीं दिया जाता ?
समाधान - नहीं, क्योंकि वहाँ लम्बी आयु का अभाव है । *(ध. पु. 14, पृ. 412)*

शंका - सातवी पृथ्वी के नारकियों की आयु लम्बी होती है और उत्कृष्ट योग भी है इसलिये वहाँ उत्कृष्ट स्वामित्व क्यों नहीं दिया जाता है ?
समाधान - नहीं, क्योंकि वे संक्लेश बहुल होते हैं इसलिये उनमें बहुत नो कर्मों की निर्जरा देखी जाती है ।

219. आरण अच्युत कल्प के देवों में शेष आयु का प्रतिषेध करनें के लिये बाईस सागर की स्थिति वाले पद का निर्देश किया है । उसी देव ने प्रथम समय में आहारक और प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट योग से आहार को ग्रहण किया, उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ, सबसे लघु अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ उसके बोलने के काल अल्प है । मनोयोग के काल अल्प है तथा उसके छविच्छेद नहीं होते, क्योंकि वैक्रियक शरीर के छेद व भेद आदिक नहीं पाये जाते । उसने अल्पतर विक्रिया की क्योंकि, बहुत विक्रिया करने से बहुत परमाणु पुद्गलों के गलन होने का प्रसंग प्राप्त होता है । जीवितव्य के स्तोक शेष रहने पर वह योग्य भव मध्य के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा । अन्तिम जीव गुण हानि स्थानान्तर में आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रहा । चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ । अन्तिम समय में तद्भवस्थ हुआ वह जीव वैक्रियिक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी है । *(ध. पु. 14, पृ. 412 व 413)*

220. **प्रश्न - उत्कृष्ट पद की अपेक्षा आहारक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी कौन है ?**
उत्तर - उत्तर शरीर की विक्रिया करने वाला जो अन्यतर प्रथम संयत जीव हैं । उसी जीव ने प्रथम समय में आहारक और प्रथम समय में तद्भवस्थ होकर योग द्वारा आहार को ग्रहण किया, उत्कृष्ट वृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ । सबसे लघु अन्तमुहूर्त काल द्वारा सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ । उसके बोलने का काल अल्प हैं । मनोयोग के काल अल्प है । छविच्छेद नहीं है । निवृत्त होने के काल के थोड़ा शेष रहने जाने पर योगभव मध्य के ऊपर परिमित काल तक रहा । अन्तिम जीव गुण हानि स्थानान्तर में आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रहा । चरम और द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग को प्राप्त हुआ । निवृत्त होने वाला वह जीव अन्तिम समय में आहारक शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी है *(ध.पु. 14, पृ.414-415)*

आहारक शरीर को निर्जरा होने का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल है । इसी प्रकार तिर्यंच और मनुष्यों में वैक्रियिक शरीर की भी निषेक रचना कहनी चाहिये अन्यथा वहाँ पर क्षीण होने का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होने में विरोध आता है ।

221. **प्रश्न - उत्कृष्ट पद की अपेक्षा तैजस शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी कौन है ?**
उत्तर - जो अन्यतर जीव है । जो पूर्व कोटि की आयु वाला जीव नीचे सातवीं पृथ्वी के नारकियों के आयु कर्म का बन्ध करता है ।

विशेष - जो पूर्व कोटि की आयु वाला जीव सातवीं पृथ्वी के नारकियों में आयु कर्म का बन्ध करता है वह तैजस शरीर के छयासठ सागर प्रमाण स्थिति के प्रथम समय प्रबद्ध से लेकर अन्तिम समय तक गोपुच्छाकार रूप से निषेक रचना करता है जो सातवी पृथ्वी के नारकियों की आयु का बन्ध करता हुआ है वही तैजस शरीर नो कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करता है ऐसा नहीं ग्रहण करना चाहिये । किन्तु जो पूर्वकोटि की आयु वाला पर्याप्त और उत्कृष्ट योग वाला जीव आगे पूर्व कोटि के त्रिभाग शेष रहने पर सातवीं पृथ्वी के नारकियों की आयु का बन्ध करने में समर्थ है वह तैजस शरीर नो कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करता है । ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा पूर्व कोटि की आयु वाला बांधता है इस प्रकार के नियम करने का कोई फल नहीं रहता । *(ध. पु. 14, पृ. 416-417)*

शंका - पूर्व कोटि की आयु वाले जीव के ही तैजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध क्यों कराया है ?
समाधान - क्योंकि वहाँ पर उत्कृष्ट योग के परावर्तन के बार प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं । नारकियों की आयु का बन्ध कराते समय कुछ कम दो पूर्व कोटि कम तैतीस सागर प्रमाण आयु कर्म का बन्ध कराना चाहिये । अन्यथा नारकी के अन्तिम समय में छयासठ सागर की परिसमाप्ति होने में विरोध आता है । वह क्रम से मरा और सातवीं पृथ्वी में उत्पन्न हुआ ।

शंका - सातवी पृथ्वी में ही क्यों उत्पन्न कराया है ?
समाधान - नहीं, क्योंकि वहाँ पर संक्लेश के कारण बहुत द्रव्य का उत्कर्षण उपलब्ध होता है तथा अन्यत्र इस प्रकार का संक्लेश नहीं पाया जाता ।

शंका - आयु के प्रमाण का निर्देश किसलिये नहीं किया ?
समाधान - उसकी आयु कुछ कम होती है इस बात का कथन करने के लिये आयु के प्रमाण का निर्देश नहीं किया है ।

वहाँ से निकलकर फिर भी पूर्वकोटि की आयु वालों में उत्पन्न हुआ *(ध. पु. 14, पृ. 418)*

शंका - पुनः पूर्व कोटि की आयु वालों में किसलिये उत्पन्न कराया है ?
समाधान - नहीं, क्योंकि वहाँ पर उत्कृष्ट योग के परावर्तन के बार प्रचुरता से पाये जाते है। उसी क्रम से आयु का पालन करके मरा और पुनः नीचे सातवी पृथ्वी के नारकियों में उत्पन्न हुआ । कदली घात और अपरावर्तन घात के बिना जीवन धारण कर मरा इस बात का ज्ञान कराने

के लिये 'उसी क्रम से आयु का पालन कर यह पद कहा है' दूसरी पूर्व कोटि के अन्तिम समय में तैतीस सागर समाप्त करके तैतीस सागर की आयु वाले नारकियों में उत्पन्न हुआ । यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 14, पृ. 419)*

222. जो जीव बादर पृथ्वी जीवों में दो हजार सागर कम कर्म स्थिति प्रमाण काल तक रहा है वह कार्माण शरीर के उत्कृष्ट प्रदेशाग्र का स्वामी है । *(ध. पु. 14, पृ. 422)*

223. **शंका - विस्रसोपचय किसकी संज्ञा है ?**
समाधान - पाँच शरीरों के परमाणु पुद्गलों के मध्य जो पुद्गल स्निग्ध आदि गुणों के कारण उन पाँच शरीरों के पुद्गलों में लगे हुए हैं उनकी विस्रसोपचय संज्ञा है ।
(ध. पु. 14, पृ. 430)

224. **शंका - अविभाग प्रतिच्छेद किसे कहते हैं ?**
समाधान - एक परमाणु में जो जघन्य वृद्धि होती है उसे अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं ।
(ध. पु. 14, पृ. 431)

225. उस प्रमाण से परमाणुओं के जघन्य गुण अथवा उत्कृष्ट गुण का छेद करने पर सब जीवों से अनन्त गुणे अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 431)*

226. एक-एक परमाणु में जितने अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं, एक-एक परमाणु मं एक बन्धनबद्ध विसस्रोपचय परमाणु भी उतने ही होते हैं क्योंकि कार्य कारण के अनुसार देखा जाता है । यहाँ पर सब जीवों से अनन्त गुणत्व की अपेक्षा समानता है, संख्या की अपेक्षा नहीं, क्योंकि जघन्य अनुभाग के कारण लगे हुए स्तोक विस्रसोपचयों से निष्पन्न जघन्य प्रत्येक शरीर वर्गणा की अपेक्षा जघन्य अनुभाग से अनन्त गुणे अनुभाग के कारण आये हुए विस्रसोपचयों से निष्पन्न उत्कृष्ट प्रत्येक शरीर वर्गणा के अनन्त गुणे होने का प्रसंग आता है । *(ध. पु. 14, पृ. 432)*

227. **शंका - विस्रसोपचयों की अविभाग प्रतिच्छेद संज्ञा कैसे है ?**
समाधान - कार्य में कारण का उपचार करने से अविभाग प्रतिच्छेदों के कार्य रूप विस्रसोपचयों की वह संज्ञा सिद्ध होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 432)*

228. स्पर्धक प्ररूपणा की अपेक्षा अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण जो अनन्त वर्गणायें हैं वे मिलकर एक स्पर्धक होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 433)*

229. **शंका - स्पर्धक किसे कहते हैं ?**
समाधान - जहाँ पर कम वृद्धि और कम हानि दिखाई देती है उसे स्पर्धक कहते हैं ।
(ध. पु. 14, पृ. 433)

230. प्रथम वर्गणा से द्वितीय वर्गणा जितने अविभाग प्रतिच्छेदों से वृद्धि को प्राप्त हुई है उतने ही अविभाग प्रतिच्छेदों से जो अनन्तर उपरिय वर्गणा में वृद्धि है वह क्रम है जहाँ पर यह क्रम है वह एक स्पर्धक है इस क्रम के बिगड़ने पर दूसरा स्पर्धक प्रारम्भ होता है । इस प्रकार सब स्पर्धकों का अलग-अलग कथन करना चाहिये ।

231. इस प्रकार अभव्यों से अनन्त गुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण अनन्त स्पर्धक होते हैं। इतने स्पर्धकों को मिलाकर एक-एक औदारिक शरीर स्थान होता है । यहाँ पर अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि यह मिलाकर एक षट्स्थान होता है, ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण षट्स्थान होते है ऐसे यहाँ ग्रहण करना चाहिये उनका कथन करने पर जिस प्रकार भाव विधान में कथन किया है उस प्रकार करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 434)*

232. शरीर प्ररूपणा की अपेक्षा शरीर के बन्धन के कारण भूत गुणों का प्रज्ञा से छेद करने पर उत्पन्न हुए अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं । शरीर, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची शब्द है, उसकी प्ररूपण करने पर अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं ऐसा पहले अविभाग प्रतिच्छेद प्ररूपणा के समय कह आये है । वे किससे उत्पन्न होते है ऐसा पूछने पर वे शरीरबन्ध के कारणभूत गुणों का प्रज्ञा से छेद करने पर उत्पन्न होते हैं यह कहा है ।

233. **शरीर** - अनन्तानन्त पुद्गलों के समवाय का नाम शरीर है ।

234. **बन्धनगुण** - उन पुद्गलों का जिस गुण के कारण परस्पर बन्ध होता है उसका नाम बन्धन गुण है।

235. उस गुण का प्रज्ञा से छेद करने के कारण अर्थात् बुद्धि से छेद करने के कारण निष्पन्न हुए पूर्वोक्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं । क्योंकि गुणों में अन्य किसी द्वारा छेदों का होना सम्भव नहीं है। प्रज्ञाच्छेदन इस वचन द्वारा शेष नौ प्रकार के छेदों का निषेध किया है ।

236. **छेदना** - छिद्यते अर्थात् जिसके द्वारा पृथक किया जाता है उसकी छेदना संज्ञा है । *(ध. पु. 14, पृ. 435)*

237. छेदना दश प्रकार की है -

(1) **नाम छेदना** - उनमें से सचित्त और अचित्त द्रव्यों को अन्य द्रव्यों से पृथक करके जो संज्ञा का ज्ञान कराती है वह नाम छेदना है । *(ध. पु. 14, पृ. 435)*

(2) **स्थापना छेदना** - स्थापना दो प्रकार की है - 1. सद्भाव स्थापना, 2. असद्भाव स्थापना वह भी छेदना है क्योंकि उस द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वरूप का ज्ञान होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 435)*

(3) **द्रव्य छेदना** - जो उत्पाद, स्थिति, व्यय, लक्षण वाला है वह द्रव्य है वह भी छेदना है क्योंकि द्रव्य के दूसरे द्रव्य का ज्ञान होता हुआ देखा जाता है यह असिद्ध भी नहीं है क्योंकि, कुद्रव से धान्यों का तुला से तगर आदि का और दण्ड से भोजन आदि का परिज्ञान होता हुआ उपलब्ध होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 436)*

(4) **बन्धन गुण छेदना** - पाँच शरीरों का बन्धन गुण भी छेदना है, क्योंकि उसका प्रज्ञा द्वारा छेद किया जाता या अविभाग प्रतिच्छेद के प्रमाण से उसे छेदा जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 436)*

(5) **प्रदेश छेदना** - प्रदेश भी छेदना होती है, क्योंकि ऊर्ध्व प्रदेश, अधः प्रदेश और मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों के द्वारा सब द्रव्यों का छेद देखा जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 436)*

(6) **वल्लरि छेदना** - कुठार आदि के द्वारा जंगल के वृक्ष आदि का खण्ड करना वल्लरि छेदना कहलाती है । *(ध. पु. 14, पृ. 436)*

(7) **अणुच्छेदना** - परमाणु गत एकादि द्रव्यों की आकाशादि के निर्विभाग छेद का नाम अणुच्छेदना है ।

(8) **तटच्छेदना** - दोनों ही तटों द्वारा नदी के परमाण का परिच्छेद करना अथवा द्रव्यों का स्वयं ही छेद होन तटच्छेदना है । इसका प्रदेश छेद में अन्तर्भाव नहीं होता क्योंकि वह बुद्धि का कार्य है । वल्लरिच्छेद में भी अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि वह पौरुषेय होता है । अणुच्छेद में भी अन्तर्भाव नहीं होता क्योंकि इसका परमाणु पर्यन्त छेद नहीं होता ।

(9) **उत्पाद छेदना** - रात्रि में इन्द्रधनुष और धूमकेतु आदि की उत्पत्ति तथा प्रतिमारोध, भूमिकम्प और रुधिर की वर्षा आदि उत्पाद छेदना है, क्योंकि इन उत्पादों के द्वारा राष्ट्र भंग और राजा का पतन आदि का अनुमान किया जाता है ।

(10) **प्रज्ञाभाव छेदना** - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान के द्वारा छह द्रव्यों का ज्ञान होना प्रज्ञाभाव छेदना है । *(ध. पु. 14, पृ. 436)*

238. अल्पबहुत्व की अपेक्षा औदारिक शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद सबसे स्तोक है । औदारिक शरीर के अनन्त परमाणुओं के अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह स्तोक है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। उनसे वैक्रियक शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं उनसे आहारक शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं। उनसे तैजस शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं उनके कार्माण शरीर के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं ।

239. विस्रसोपचय प्ररूपणा की अपेक्षा एक-एक जीव प्रदेश पर कितने विस्रसोपचय उपचित हैं ? अनन्त विस्रसोपचय उपचित है जो कि सब जीवों से अनन्तगुणे हैं ।*(ध. पु. 14, पृ. 438)*

240. एक-एक जीव प्रदेश पर ऐसा कहने पर एक-एक परमाणु पर ऐसा ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 439)*

241. वे सब लोक में से आकर बद्ध हुए हैं । अपने-अपने कहे गये हेतु के अनुसार कर्म के योग्य सादि, अनादि और सब जीव प्रदेशों के साथ एक-एक क्षेत्रावगाहीपने को प्राप्त हुआ पुद्गल बँधता है । इस वचन के अनुसार जिस प्रदेश पर जो जीव स्थित है वहाँ स्थित जो पुद्गल हैं वे ही मिथ्यात्व आदि कारणों से जिस प्रकार पाँच रूप से परिणमन करते हैं उसी प्रकार वहाँ पर स्थित हुए ही विस्रसोपचय भी क्या बन्ध को प्राप्त होते हैं । या बन्ध को नहीं प्राप्त होते हैं इस बात का निर्णय करने के लिये यह सूत्र आया है । *(ध. पु. 14, पृ. 440)*

242. जो औदारिक शरीर के नौ कर्म प्रदेश जीव से अलग होने के समय में ही अन्य परमाणुओं से असंयुक्त होकर सब लोक को व्याप्तकर स्थित हैं उनकी ग्रहण की गई शलाकायें बहुत है । *(ध. पु. 14, पृ. 441)*

243. वे परमाणु अलग-अलग अनन्तानन्त विस्रसोपचयों से उपचित हैं क्योंकि उनमें बन्धन गुण के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद सम्भव है और परमाणु में औदयिक भाव से रहते हुए बन्धनगुण के अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने का विरोध है । *(ध. पु. 14, पृ. 441)*

244. यदि एक आकाश प्रदेश में अनन्त के अवगाहन करने का गुणन हो तो जीवों और पुद्गलों की संख्या अनन्त नहीं बन सकती । *(ध. पु. 14, पृ. 435)*

245. **शंका - एक गुण से क्या ग्रहण किया जाता है ?**
समाधान - जघन्य गुण ग्रहण किया जाता है, वह जघन्य गुण अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से निष्पन्न होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 445)*

246. **शंका - एक ही अविभाग प्रतिच्छेद की द्वितीय गुण संज्ञा कैसे है ?**
समाधान - क्योंकि मात्र उतने ही गुणान्तर की द्रव्यान्तर में वृद्धि देखी जाती है । गुण के द्वितीय अवस्था विशेष की द्वितीय गुण संज्ञा है । और तृतीय अवस्था विशेष की तृतीय गुण संज्ञा है । इसलिये जघन्य गुण के साथ द्विगुणपना-त्रिगुणपना बन जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 451)*

247. विवक्षित स्थान से अनन्त भाग हानि के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर शलाकाओं की असंख्यात भाग हानि होती है, फिर वहाँ से आगे असंख्यात भाग हानि के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर संख्यात भाग हानि होती है । पुनः वहाँ से आगे संख्यातभाग हानि के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर संख्यात गुण हानि होती है । पुनः यहाँ से आगे संख्यात गुण हानि के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर असंख्यात गुण हानि होती है पुनः वहाँ से आगे अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर अनन्त गुण हानि होती है । पुनः अनन्तगुण हानि के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान आगे जाकर स्थान समाप्त होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 453)*

248. जघन्य बादर निगोद वर्गणा का जघन्य विस्रसोपचय स्तोक है । शरीर की सबसे जघन्य अवगाहना में विद्यमान अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ जीव के जघन्य बादर निगोद वर्गणा है इस प्रकार यहाँ पर सद सम्बन्ध करना चाहिये । इसके आश्रय से जघन्य बादर निगोद वर्गणा के स्वामित्व की प्ररूपणा द्वारा जघन्य विस्रसोपचय का स्वामी कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 460)*

शंका - अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थों का ग्रहण किसलिये करते हैं ?
समाधान - नहीं, क्योंकि वहाँ पर गुणश्रेणि मरण से मरने के बाद बची हुई आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुलवियों के ग्रहण करने के लिये तथा असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से

कर्म प्रदेशों की और तत्रस्थविस्रसोपचयों की निर्जरा करने के लिये अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थों का ग्रहण करते हैं। सबसे जघन्य शरीर अवगाहना में ऐसा कहने पर 3.5 हाथ प्रमाण अवगाहना का ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 460)*

शंका - उसका ग्रहण किसलिये करते हैं ?

समाधान - स्तोक विस्रसोपचय का ग्रहण करने के लिये ।

249. रस, रुधिर, मांस, मैदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र इनकी विस्रसोपचय संज्ञा है वे जघन्य अवगाहना में स्तोक ही होते हैं बड़ी अवगाहना में नहीं क्योंकि उनका बहुत्व हुए बिना अवगाहना का बहुत्व होने में विरोध है । यह स्तोकपना भी बादर निगोद के स्तोकपने का विधान करने के लिये वहाँ ग्रहण किया है । इसलिये मनुष्य के मान से जिसका 3.5 अरत्नि प्रमाण उत्सेध है । नाना प्रकार के उपवासों द्वारा जिसने समस्तरोम और अधिक मांस को गला डाला है और ध्यान समाधि द्वारा जिसने बादर निगोद पुलवि कलाप को स्तोक कर दिया है ऐसा अन्तिम समयवर्ती क्षीण कषाय जीव जघन्य बादर निगोद वर्गणा के जघन्य विस्रसोपचयों का स्वामी होता है । इस प्रकार जघन्य बादर निगोद वर्गणा का जघन्य विस्रसोपचय स्तोक (अल्प) होता है । यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 14, पृ. 461)*

250. एक बन्धनबद्ध और पिण्ड-अवस्था को प्राप्त हुए जीवों की सर्वोत्कृष्ट शरीर अवगाहना में विद्यमान जीव की उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा का उत्कृष्ट विस्रसोपचय अनन्तगुणा है । इस सूत्र द्वारा सूक्ष्म निगोद उत्कृष्ट वर्गणा के स्वामित्व की प्ररूपणा द्वारा उत्कृष्ट विस्रसोपचय का स्वामित्व कहा है । यथा - सबसे उत्कृष्ट शरीर की अवगाहना में विद्यमान महामत्स्य की उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा होती है क्योंकि वहाँ पर एक बन्धन बद्ध और पिण्डीभूत छह जीव निकाय उपलब्ध होते हैं । एक बन्धन बद्ध - छह जीव निकायों के शरीर समवाय की एक बन्धन संज्ञा है। इसलिये एक बन्धन रूप से बँधे हुए और पिण्डी भूत होकर सम्बद्ध हुए जीव का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार इस तरह की उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा में उत्कृष्ट विस्रसोपचय होता है क्योंकि वहाँ के अनन्त जीवों के तीन शरीर के अनन्त परमाणु पुद्गलों के बन्धन गुण के कारण सम्बन्ध को प्राप्त हुए । *(ध. पु. 14, पृ. 461)*

251. बहुत नो कर्म परमाणु पुद्गल उपलब्ध होते हैं वह उत्कृष्ट विस्रसोपचय बादर निगोद जघन्य विस्रसोपचय से अनन्त गुणा है । बादर निगोद वर्गणा की आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुलवियों में अनन्त जीव होते हैं तथा उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा में भी अनन्त जीव होते हैं किन्तु बादर निगोद वर्गणा के जीवों से महामत्स्य के देह में स्थित जीव असंख्यातगुणे होते हुए भी विस्रसोपचय की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 462)*

252. इनकी प्ररूपणा करने पर वहाँ तीन अनुयोग द्वार होते है । जीव प्रमाणानुगम प्रदेश, प्रमाणनुगम और अल्प बहुत्व । इन विस्रसोपचय के अनन्त गुणत्व की सिद्धि के लिये यहाँ ये तीन अनुयोग द्वार कहे हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 462)*

253. जीव प्रमाणानुगम की अपेक्षा पृथ्वीकायिक जीव असंख्यात है । जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव तथा वायुकायिक जीव असंख्यात है । अर्थात् असंख्यात लोक प्रमाण है । वनस्पतिकाय जीव अनन्त है और त्रसकायिक जीव असंख्यात है (त्रस कायिक जीव जगत प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । इस प्रकार जीव प्रमाणानुगम समाप्त हुआ । *(ध. पु. 14, पृ. 463)*

254. प्रदेश प्रमाणानुगम की अपेक्षा पृथ्वीकायिक जीवों से प्रदेश असंख्यात है अर्थात् पहले कहे गये पृथ्वीकायिक जीवों को एक घन लोक से गुणित करने पर पृथ्वीकायिक जीवों के प्रदेशों का प्रमाण उत्पन्न होता है ।

शंका - जीवों के प्रमाण से ही विस्त्रसोपचयों के प्रमाण का ज्ञान हो जाने पर यहाँ पर जीवों के प्रदेशों का प्रमाण किसलिये कहा है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि एक-एक जीव प्रदेश में अनन्त औदारिक तैजस और कार्माण परमाणु हैं तथा एक-एक परमाणु पर अनन्तानन्त विस्त्रसोपचय हैं इस प्रकार इस बात का ज्ञान कराने के लिये यहाँ पर जीव के प्रदेशों के प्रमाण का कथन किया । *(ध. पु. 14, पृ. 464)*

शंका - एक-एक जीव प्रदेश पर एक परमाणु के बिना अनन्त परमाणु कैसे समाते हैं ?

समाधान - नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर कर्म परमाणुओं की अनन्ता नष्ट होकर उनके असंख्यात प्रमाण प्राप्त होने का प्रसंग आता है परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर सब सूत्रों के साथ विरोध होने का प्रसंग प्राप्त होता है । इसलिये उक्ति के बिना सूत्र के बल से ही एक-एक जीव प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणुओं के अस्तित्व का कथन करने के लिये प्रदेश प्रमाणानुगम आया है । *(ध. पु. 14, पृ. 464)*

अपकायिक जीवों के प्रदेश-अग्नि कायिक जीवों के प्रदेश-वायु कायिक जीवों के प्रदेश - प्रत्येक के असंख्यात-असंख्यात हैं । वनस्पति कायिक जीवों के प्रदेश अनन्त है तथा त्रस कायिक जीवों के प्रदेश असंख्यात हैं । इस प्रकार प्रदेश प्रमाणानुगम समाप्त हुआ *(ध. पु. 14, पृ. 464)*

255. अल्प बहुत्व दो प्रकार का है जीव अल्प बहुत्व और प्रदेश अल्प बहुत्व ।

शंका - जीव अल्प बहुत्व से प्रदेश अल्प बहुत्व का ज्ञान हो जाता है इसलिये उसका कथन नहीं करना चाहिये ?

समाधान - नहीं, क्योंकि सब जीवों के जीव प्रदेश समान ही होते हैं इस बात का ज्ञान कराने के लिये उसका कथन किया है, गुरु उपदेश से ही उसका ज्ञान हो जाता है इसलिये उसका कथन करना निरर्थक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सूत्र के बिना गुरु उपदेश की प्रवृत्ति नहीं होती । *(ध. पु. 14, पृ. 465)*

(1) जीव अल्पबहुत्व की अपेक्षा त्रसकायिक जीव सबसे स्तोक हैं क्योंकि वे जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग हैं उनसे तैजस कायिक जीव असंख्यातगुणे हैं क्योंकि ये असंख्यात लोक प्रमाण गुणकार है । उनसे पृथ्वीकायिक जीव विशेष अधिक हैं । विशेष का

प्रमाण - तैजसकायिक जीवों के असंख्यातवें भाग प्रमाण जो असंख्यात लोक हैं उतना विशेष का प्रमाण है । प्रतिभाग - असंख्याते लोक प्रतिभाग है इसी प्रकार सर्वत्र कथन करना चाहिये । उनसे अपकायिक जीवन अपकायिक जीव से वायुकायिक जीव विशेष अधिक है । इन दोनों के विशेषों का प्रमाण असंख्यात लोक है । उनसे वनस्पतिकायिक जीव अनन्तगुणे हैं । गुणकार क्या ? सब जीव राशि असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है । इस प्रकार जीव अल्प बहुत्व समाप्त हुआ । *(ध. पु. 14, पृ. 466)*

(2) प्रदेश अल्प बहुत्व की अपेक्षा त्रस कायिक जीवों के प्रदेश सबसे स्तोक हैं, यहाँ त्रस जीवों के प्रभाग को धनलोक से गुणित करने पर उनके प्रदेशों का प्रमाण होता है । उनसे अग्निकायिक जीवों के प्रदेश असंख्यातगुणे हैं । उनसे पृथ्वीकायिक जीवों के प्रदेश विशेष अधिक है, उनसे अप्कायिक जीवों के प्रदेश विशेष अधिक है उनसे वायुकायिक जीवों के प्रदेश विशेष अधिक हैं, उनसे वनस्पतिकायिक जीवों के प्रदेश अनन्तगुणे हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 466)*

विशेष - यह महामत्स्य का आहार रूप जो पुद्गल कलाप है वह प्रत्येक शरीर बादर निगोद वर्गणा और सूक्ष्म निगोद वर्गणा का समुदाय मात्र नहीं होता है किन्तु उसकी पीठ पर जाकर जमी हुई जो मिट्टी का प्रचय है वह और उसके कारण उत्पन्न हुए पत्थर, सर्वनाम के वृक्ष विशेष, अर्जुन, नीम, कदम्ब, आम, जामुन, जम्बीर, सिंह और हरिण आदि के ये सब विस्रसोपचय में अन्तर्भूत जानने चाहिये । वहाँ मिट्टी आदि की उत्पत्ति प्रसिद्ध है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शैल के पानी में गिरे हुए पत्तों का शिला से परिणमन देखा जाता है तथा शुक्ति पुट में गिरे हुए जल बिन्दुओं का मुक्ताफल रूप से परिणमन उपलब्ध होता है ।

वहाँ पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति असिद्ध है, यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि वर्षाकाल के प्रारंभ में वर्षा के जल और पृथ्वी के सम्बन्ध से मेढ़क-चूहा-मछली और कछुआ आदि की उत्पत्ति देखी जाती है ।

इनका विस्रसोपचय असिद्ध है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्मोदय के बिना उपचित हुए पुद्गलों के विस्रसोपचय होने में कोई विरोध नहीं है ।

इनका महामत्स्य होना असिद्ध है यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य के जठर में उत्पन्न हुई कृमि विशेष की भी मनुष्य संज्ञा उपलब्ध होती हैं । इन सबके ग्रहण करने से उत्कृष्ट विस्रसोपचय है यह बात सिद्ध होती है । अथवा औदायिक तैजस और कार्माण परमाणु पुद्गलों के बन्धन गुण अनन्त गुण के कारण जो एक बन्धन बद्ध विस्रसोपचय संज्ञा वाले पुद्गल है उनका सचित्त वर्गणाओं में अन्तर्भाव होता है क्योंकि उनका जीव के साथ परस्पर में अनुगतपना देखा जाता है परन्तु उन सचित्त वर्गणा संज्ञा वाले पुद्गलों के बन्धन गुण के कारण जो पुद्गल वहाँ समवेत होते हैं और जो सीसपाल के दाँतों के समान उनके योनिरूप से उत्पन्न हुए है वे जीव से अनुगत नहीं होने के कारण सचित्त वर्गणा संज्ञा को नहीं प्राप्त होते इसलिये उन्हें यहाँ विस्रसोपचय रूप से ग्रहण करना

चाहिये । निर्जीव विस्रसोपचयों का अस्तित्व असिद्ध है, यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि जीव रहित रुधिर, वसा, शुक्र, रस, कफ, पित्त, मूत्र, खरसि और मस्तक में से निकलने वाले चिकने द्रव रूप विस्रसोपचय उपलब्ध होते हैं । दाँतों की हड्डियों के समान विस्रसोपचय प्रत्यय से निर्जीव ही होते हैं यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि, अनुभाव के कारण आगम चक्षु के विषयभूत अनन्त विस्रसोपचय उपलब्ध होते हैं । महामत्स्य के देह में उत्पन्न हुए छह जीवनिकायों को विषय करने वाले ये विस्रसोपचय अनन्तगुणे होते हैं ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 467से 469)*

दो प्रकार के विस्रसोपचयों का कथन करना इसका फल है । *(ध. पु. 14, पृ. 469)*

256. प्रथम समय जो निगोद उत्पन्न होता है उसके साथ अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं, यहाँ एक समय में अनन्तानन्त साधारण जीवों को ग्रहण कर एक शरीर होता है तथा असंख्यात लोक प्रमाण शरीरों को ग्रहण कर एक निगोद होता है ।

257. सान्तर समय में उपक्रमण काल - प्रथम उपक्रमण काण्डक के काल को छोड़कर द्वितीयादि उपक्रम काण्डकों के समस्त काल कलाप को सान्तर समय में उपक्रमण काल कहते हैं ।
(ध. पु. 14, पृ. 474)

258. निरन्तर समय में उपक्रमण काल - प्रथम उपक्रमण काण्डक के काल को निरन्तर समय में उपक्रमण काल कहते हैं, क्योंकि वहाँ अन्तर का अभाव है । *(ध. पु. 14, पृ. 474)*

259. **अप्रक्रमण काल** - अन्तर को अप्रक्रमण काल कहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 479)*

260. **प्रबन्धन काल** - प्रक्रमण और अप्रक्रमण कालों का समुदाय प्रबन्धन काल है ।
(ध. पु. 14, पृ. 480)

बन्ध बन्धते हैं (एकत्व को प्राप्त होते हैं) जिसमें उसे प्रबन्धन कहते हैं । तथा प्रबन्धन रूप जो काल उसे प्रबन्धन काल कहते हैं ।

261. सब बादर निगोद जीव पर्याप्त होते हैं, क्योंकि बादर निगोद पर्याप्तकों के साथ स्कन्ध, अण्डर, आवास और पुलषियों में उत्पन्न हुए अनन्त बादर निगोद अपर्याप्त जीवों के अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर सबके मर जाने पर वहाँ केवल बादर निगोद पर्याप्तकों का ही अवस्थान देखा जाता है ।

शंका - सब पर्याप्तकों का मरण पहले ही क्यों होता है ?

समाधान - क्योंकि पर्याप्तकों की आयु से अपर्याप्तकों की आयु स्तोक उपलब्ध होती है । और अपूर्व बादर निगोदों की उत्पत्ति के कारण भूतयोग का नाश हो जाता है । परन्तु इससे पूर्व बादर निगोद व्यामिश्र होता है क्योंकि स्कन्ध, अण्डर, आवास, और पुलवियों के अनन्त बादर निगोद पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों का एक साथ अवस्थान देखा जाता है ।
(ध. पु. 14, पृ. 484)

262. परन्तु सूक्ष्म निगोद वर्गणा में नियम से मिश्र रूप है, यत: सूक्ष्म निगोद वर्गणा में पर्याप्त और अपर्याप्त जीव सर्वदा सम्भव हैं इसलिये वह नियम से पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों से मिश्र रूप होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 484)*

शंका - उसमें सर्वकाल किसलिये सम्भव है ?

समाधान - क्योंकि सूक्ष्म निगोद पर्याप्त और अपर्याप्तक जीवों की उत्पत्ति के प्रदेश और काल का कोई नियम नहीं है । इस प्रदेश में इतने ही काल तक उत्पत्ति होती है आगे उत्पत्ति नहीं होती इस प्रकार का चूंकि नियम नहीं है इसलिये वह सूक्ष्म निगोद वर्गणा सर्वदा मिश्र रूप होती है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 14, पृ. 484)*

263. **शंका - जघन्य संचय काल द्वारा संचय को प्राप्त हुए और परस्परअनुगत रूप से जघन्य काल तक अवस्थित हुए जीवों का मरण के क्रम से निर्गम होता है, उत्पत्ति के क्रम से नहीं, यह किसलिये कहते हैं ?**

समाधान - नहीं, क्योंकि यहाँ पर जघन्य उत्पत्ति काल के द्वारा संचित हुए और जघन्य प्रबन्ध काल के द्वारा बन्ध को प्राप्त हुए जीवों का ही भरण के क्रम से निर्गम होता है । इस प्रकार का नियम नहीं है, किन्तु जघन्य उत्पत्ति काल और जघन्य प्रबन्धन काल वचन देशामर्षक है इससे सब उत्पत्ति कालों में संचित हुए और सब प्रबन्धन कालों में बन्ध को प्राप्त हुए जीवों का उत्पत्ति के क्रम से निर्गम नहीं होता है, किन्तु मरण के क्रम से निर्गम होता है इस प्रकार अलग-अलग प्ररूपणा करनी चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 486)*

शंका - एक शरीर में उत्पन्न होने वाले बादर निगोद जीव क्यों अक्रम से उत्पन्न होते हैं या क्रम से ? यदि अक्रम से उत्पन्न होते हैं तो अक्रम से ही मरण होना चाहिये, क्योंकि एक के मरण होने पर दूसरों का मरण न होने पर उनके साधारण होने में विरोध आता है । और यदि क्रम से असंख्यात गुणी हीन श्रेणी रूप से उत्पन्न होते हैं तो मरण भी भव मध्य के आकार रूप से नहीं हो सकता है क्योंकि साधारणपने के विनाश का प्रसंग आता है ?

समाधान - यहाँ इस शंका का परिहार करते हैं - असंख्यात गुणी हीन श्रेणि के क्रम से भी उत्पन्न होते हैं और अक्रम से भी अनन्त जीव एक समय में उत्पन्न होते हैं और साधारणपना भी नष्ट नहीं होता क्योंकि साधारण आहार और साधारण श्वास-उच्छवास का ग्रहण यह साधारण जीवों का साधारण लक्षण कहा है । इस प्रकार गाथा द्वारा कहे गये लक्षणों के अभाव में ही साधारणपने के विनाश होता है । इसलिए एक शरीर में उत्पन्न हुए निगोदों का मरण के क्रम से निर्गम होता है इस प्रकार यह कथन भी विरोध को नहीं प्राप्त होता और एक शरीर में उत्पन्न हुए सब समान आयु वाले ही होते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है जिससे अक्रम से उनका मरण होवे इसलिये एक शरीर में स्थित हुए निगोदों का मरण यव मध्य और शमिला यव मध्य है ऐसा ग्रहण करना चाहिये । वह मरण दो प्रकार का है - यव मध्य के क्रम से और अयव मध्य के क्रम से । *(ध. पु. 14, पृ. 487)*

264. **अल्प बहुत्व** - क्षीणकषाय के प्रथम समय में मृत जीव सबसे थोड़े हैं, अप्रथम अचरम समयों में मृत जीव असंख्यात गुणे हैं, गुणकार - पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है क्योंकि क्षीण कषाय में प्रथम समय और अन्तिम समय में मरे हुए जीवों को छोड़कर वहाँ शेष समस्त मृत जीवों को ग्रहण किया है अचरम समय में मृत जीव विशेष अधिक हैं, कितने अधिक हैं ? प्रथम समय में मृत जीवों का प्रमाण जितना है उतने अधिक है । अन्तिम समय में मृत जीव असख्यात गुणे हैं, पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है अप्रथम समय में मृत जीव विशेष अधिक है, कितने अधिक है ? अप्रथम-अचरम समयों में मृत जीवों का प्रमाण जितना है उतने अधिक है । सम समयों में मृत जीव विशेष अधिक हैं । इस प्रकार अल्प बहुत्व समाप्त हुआ । *(ध. पु. 14, पृ. 491)*

265. अब क्षीण कषाय के काल में जघन्य आयु प्रमाण काल के शेष रहने पर क्षीण कषाय के शरीर में बादर निगोद जीव नहीं उत्पन्न होते हैं क्योंकि जीवनीय काल का अभाव है । इस प्रकार इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये आयुओं का अल्प बहुत्व कहते हैं *(ध. पु. 14, पृ. 491)*

266. यहाँ अल्पबहुत्व-क्षुल्लक भव ग्रहण सबसे स्तोक है । क्योंकि, एकेन्द्रिय के बन्ध को प्राप्त हुए निषेक रूप क्षुल्लक भव ग्रहण का घात करके उत्पन्न कराये गये सबसे जघन्य जीवनीय काल का यहाँ ग्रहण किया है । क्षीण कषाय के काल में इतने काल के शेष रहने पर बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव नियम से नहीं उत्पन्न होते हैं यह यहाँ पर ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 491)*

267. क्षीण कषाय के अन्तिम समय में जघन्य बादर निगोद वर्गणा होती है वहाँ निगोदों का प्रमाण आवलि के असंख्यातवें भागमात्र है । *(ध. पु. 14, पृ. 492)*

268. जघन्य सूक्ष्म निगोद वर्गणा में निगोदों का प्रमाण आवलि के असंख्यातवें भाग मात्र है । यह जघन्य सूक्ष्म निगोद वर्गणा जल में, स्थल में और आकाश में होती है इसके लिये द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का कोई नियम नहीं है । *(ध. पु. 14, पृ. 493)*

269. उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा में निगोदों का प्रमाण आवलि के असंख्यातवें भाग मात्र है । यह उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा महामत्स्य के शरीर में ही होती है अन्यत्र नहीं होती, क्योंकि अन्यत्र होती है ऐसा उपदेश नहीं पाया जाता । *(ध. पु. 14, पृ. 493)*

270. उत्कृष्ट बादर निगोद वर्गणा में निगोदों का प्रमाण जगत्श्रेणि के असंख्यातवें भाग मात्र है । मूली-थूवर और आर्द्रक आदि में अनन्त जीवों से व्याप्त असंख्यात लोक प्रमाण शरीर वाली जग श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुलवियाँ होती हैं इन्हें ग्रहण कर बादर निगोद उत्कृष्ट वर्गणा होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 494)*

271. इन्हीं सब निगोदों का मूल महास्कन्ध स्थान हैं । सब निगोदों का ऐसा कहने पर सब बादर निगोदों का ग्रहण करना चाहिये ।

शंका - सूक्ष्म निगोदों का ग्रहण क्यों नहीं किया गया ?

समाधान - नहीं, क्योंकि वे यहाँ ही उत्पन्न होते हैं अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते ऐसा कोई नियम नहीं है।

272. महास्कन्ध के स्थान ऐसा कहने पर महास्कन्ध के अवयव ऐसा ग्रहण करना चाहिये क्योंकि स्थान शब्द स्वरूप पर्यायवाची है देखा जाता है इसलिये महास्कन्ध के अवयव सब निगोदों की उत्पत्ति में मूल अर्थात् कारण है यह उक्त कथन का तात्पर्य है *(ध. पु. 14, पृ. 494)*

273. आठ पृथ्वियाँ, टङ्क, कूट, भवन, विमान, विमानेन्द्रक, विमान, प्रस्तर, नरक, नरकेन्द्रक, नरकप्रस्तर, गच्छ, गुल्म, वल्ली, लता और तृण वनस्पति आदि महास्कन्ध स्थान है ।

(1) **आठ पृथ्वियाँ** - ईषत्प्राग्भार पृथ्वी के साथ धर्मा आदि सात नरक पृथ्वियाँ मिलकर महास्कन्ध के स्थान है ।

(2) **टङ्क** - शिलामय पर्वतों में उकीरे गये वापी, कुआ, तालाब और जिनगृह आदि टंक कहलाते हैं ।

(3) **कूट** - मेरु पर्वत, कुलपर्वत, विन्ध्यपर्वत और सप्त पर्वत आदि कूट कहलाते हैं ।

(4) **भवन** - वलभि और कूट से रहित देवों और मनुष्यों के आवास भवन कहलाते हैं ।

(5) **विमान** - वलभि और कूट से युक्त प्रासाद विमान कहलाते हैं ।

(6) **इन्द्रक** - उडुआदिक विमान इन्द्रक कहलाते हैं ।

(7) **विमान प्रस्तर** - स्वर्ग लोक के श्रेणी बद्ध और प्रकीर्णक विमान विमान प्रस्तर कहलाते हैं ।

(8) **नरक** - नरक के श्रेणि बद्ध नरक कहलाते हैं ।

(9) **नरकेन्द्रक** - श्रेणी बद्धों के मध्य में जो नरकवास हैं वे नरकेन्द्रक कहलाते हैं ।

(10) **नरक प्रस्तर** - तथा वहाँ के प्रकीर्णक नरक प्रस्तर कहलाते हैं ।

विशेष - गच्छ गुल्म तृण वनस्पति लता और वल्ली का अर्थ जानकर कहना चाहिये ये महास्कन्ध के स्थान है । इस सूत्र द्वारा महास्कन्ध के इन्द्रिय ग्राह्य अवयवों का कथन किया है । परन्तु जो इन्द्रिय अग्राह्य सूक्ष्म महास्कन्ध के अवयव हैं जो कि निगोदों से समवेत हैं वे भी आगम चक्षुओं से जानने चाहिये । सचित्त वर्गणायें इस प्रकार जघन्य और इस प्रकार उत्कृष्ट होती हैं । महास्कन्ध वर्गणा में जघन्य और उत्कृष्ट भाव इस प्रकार प्रकार होते हैं इस बात का ज्ञान कराने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 496)*

274. जब मूल महास्कन्ध स्थानों का जघन्य पद होता है तब बादर त्रस पर्याप्तकों का उत्कृष्ट पद होता है जब मूल महास्कन्धों का जघन्य भाव होता है तब बादर त्रस पर्याप्तकों का उत्कृष्ट भाव होता है, क्योंकि बादर त्रस पर्याप्तकों के हाथ पैर और शरीरों के छेदन भेदन आदि व्यापार द्वारा महास्कन्ध के अवयवों का भेद प्राप्त होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 496)*

275. जब बादर त्रस पर्याप्तकों का जघन्य पद होता है तब मूल महास्कन्धों का उत्कृष्ट पद होता है क्योंकि त्रस बादर जीवों के स्तोक होने पर हाथ और पैर आदि के व्यापार द्वारा महास्कन्ध का घात नहीं होता । *(ध. पु. 14, पृ. 496)*

276. क्षुल्लक भव ग्रहण सबसे स्तोक है वह तीन प्रकार है । (1) अधस्तन त्रिभाग में सब जीवों की जघन्य अपर्याप्तक निवृत्ति होती है मध्यम त्रिभाग में नहीं होती और उपरिय त्रिभाग में यव मध्य होता है उसे शामिला यव मध्य कहा जाता है तथा उसके तीनों भेदों में आवश्यकों का कथन करने के लिये उसके तीन भेद करते हैं । सबसे जघन्य क्षुल्लक भव ग्रहण ऐसा कहने पर घात क्षुल्लक भव ग्रहण लेना चाहिये, क्योंकि अन्यत्र आयु का क्षुल्लकपना नहीं बन सकता है । अधस्तन त्रिभाग में सब जीवों के जघन्य अपर्याप्त निर्वत्ति ऐसा कहने पर जिसमें बादर निगोद अपर्याप्त जीव और सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीव आहार शरीर इन्द्रिय और श्वासोच्छवास इन चार अपर्याप्तकों को यव मध्य रूप से रचते हैं यह प्रथम त्रिभाग है । *(ध. पु. 14, पृ. 507)*

277. प्रथम त्रिभाग का संख्यातवाँ भाग भी प्रथम त्रिभाग कहलाता है । यथा ग्रामपला, वस्त्रजला इत्यदि प्रयोगों के करने पर समुदाय में प्रवृत हुए शब्दों की वृत्ति अवयवों में भी देखी जाती है मध्य के त्रिभाग में आवश्यक नहीं है । ऐसा कहने पर प्रथम त्रिभाग का संख्यात बहुभाग और पूरा द्वितीय त्रिभाग यह सब मध्य का त्रिभाग कहलाता है ।

शंका - कुछ कम दो त्रिभाग की मध्य का त्रिभाग संज्ञा कैसे हो सकती है ?
समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि तीनों खण्ड समान होते हैं ऐसी विवक्षा नहीं है । यहाँ इस प्रकार के त्रिभाग के मरणयव मध्य, आयु बन्ध यव मध्य और निवृत्ति यव मध्य ये आवश्यक नहीं है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है उपरिय त्रिभाग में आयु बन्ध यव मध्य है ऐसा कहने पर उसका आशय है कि तीसरे त्रिभाग में सूक्ष्म अपर्याप्त और बादर अपर्याप्त का आयुबन्ध होता है और वहीं यव मध्य होता है क्योंकि जीव यव मध्य के आकार से अवस्थित है । यहाँ पर यव मध्य पद से यव का मध्यम प्रदेश ऐसा नहीं ग्रहण करना चाहिये । किन्तु यव का मध्य अर्थात् भीतरी भाग ऐसा ग्रहण करना चाहिये अथवा शमिला मध्य ऐसा कहते हैं । **युग कीली का नाम शमिला है** । और दो शमिलाओं के मध्य का नाम शमिला मध्य है । उसके समान होने से उसे शमिला मध्य कहते हैं । इस प्रकार सब यव मध्य के भव मध्य और शमिला मध्य ये दो नाम है । *(ध. पु. 14, पृ. 503)*

278. यह प्ररूपणा शरीर के स्कन्ध, अण्डर, आवास और पुलवियों का आश्रय लेकर नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वहाँ कोई नियम नहीं उपलब्ध होता किन्तु जघन्य आयु का आश्रय लेकर निर्वृत्ति शमिला भव मध्यों की प्ररूपणा करनी चाहिये, परन्तु मरण यव मध्य नाना आयुओं को ही विषय करता है क्योंकि समान आयु वालों का क्रम से मरण नहीं बन सकता । उसके ऊपर आसंक्षेपाद्धा है । *(ध. पु. 14, पृ. 503)*

279. **आसंक्षेपाद्धा** - जघन्य विश्रमण काल पूर्वक जघन्य आयु बन्ध काल आसंक्षेपाद्धा कहा जाता है ।

280. वह यव मध्य के अन्तिम समय से लेकर जघन्य आयु बन्धक काल के अन्तिम समय तक होता है । यह आसंक्षेपाद्धा तृतीय त्रिभाग में ही होता है । क्योंकि अभी भी ऊपर क्षुल्लक भव ग्रहण सम्भव है । *(ध. पु. 14, पृ. 503)*

281. आसंक्षेपाद्धा के ऊपर क्षुल्लक भव ग्रहण है । आयु बन्ध के होने पर जो सबसे जघन्य विश्रमण काल है उसकी क्षुल्लक भव ग्रहण संज्ञा है वह आयु बन्ध काल के ऊपर होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 504)*

282. क्षुल्लक भव ग्रहण के ऊपर जघन्य अपर्याप्त निवृत्ति होती है । घात क्षुल्लक भव ग्रहण के ऊपर उससे संख्यात गुणा अध्वान जाकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवों के बन्ध से जो जघन्य निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण होता है उसकी जघन्य अपर्याप्त निर्वृत्ति संज्ञा है यहाँ पर भी पहले के समान दो प्रकार से व्याख्यान करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 504)*

283. जघन्य अपार्यप्त निर्वृत्ति के ऊपर उत्कृष्ट अपर्याप्त निर्वृत्ति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है । निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण के ऊपर एक समय अधिक आदि के क्रम से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण निर्वृत्ति स्थान जाकर सूक्ष्म निगोद अपार्यप्तकों की उत्कृष्ट आयु होती है वह अपर्याप्त निर्वृत्ति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है क्योंकि यहाँ पर प्रथम समय से लेकर समस्त काल का ग्रहण किया है। *(ध. पु. 14, पृ. 505)*

284. यह सब प्ररूपणा बादर निगोदों की है अब सूक्ष्म निगोदों का कथन करने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं । वही सूक्ष्म निगोद जीवों की जघन्य अपर्याप्त निर्वृत्ति है । उसी बादर निगोद निर्वृत्ति यव मध्य के भीतर बादर यव मध्य के प्रथम और अन्तिम समय को आवलि के असंख्यातवें भाग द्वारा प्राप्त न कर सूक्ष्म निगोद जीवों की जघन्य अपार्यप्त निर्वृत्ति होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 505)*

285. उपरिय उत्कृष्ट अपर्याप्त निर्वृत्ति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, वहाँ प्रथम समय से लेकर ये आवश्यक होते हैं । प्रथम समय से लेकर सूक्ष्म निगोद जीवों की उत्कृष्ट अपर्याप्त निर्वत्ति तक वहाँ ये आगे कहे जाने वाले आवश्यक होते हैं अन्यत्र नहीं होते, क्योंकि अन्यत्र उनका होना असम्भव है । ये प्रथम समय से कहने चाहिये, क्योंकि इनसे शेष आवश्यकों की सिद्धि होती है । तद्नन्तर यव मध्य के व्यतीत होने पर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तकों के आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण निर्लेपन स्थान होते हैं । उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त जाकर यव मध्य का प्रथम समय होता है ऐसा यहाँ कहना चाहिये क्योंकि प्रथम समय से लेकर ऊपर संख्यात आवलि काल तक वहाँ निर्लेपन स्थानों का अभाव है । *(ध. पु. 14, पृ. 506)*

शंका - वहाँ वे नहीं होते यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान - क्योंकि अपर्याप्त निर्वृत्ति काल जघन्य भी संख्यात आवलि प्रमाण ही है ऐसा गुरु का उपदेश है । इससे जाना जाता है कि प्रथम समय से लेकर संख्यात आवलि प्रमाण काल होने तक निर्लेपन स्थान नहीं होते ।

यव मध्य यह क्रिया विशेषण है इसलिये जिस प्रकार यव मध्य होता है, उस प्रकार जाकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवों के निर्लेपन स्थान होते हैं ऐसा कहलाना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 507)*

286. **निर्लेपन** - आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छवास अपर्याप्तियों की निर्वृत्ति को निर्लेपन कहते हैं

शंका - यदि अपर्याप्त है तो उसकी निर्वत्ति नहीं होती क्योंकि अपर्याप्ति की निर्वत्ति होने का विरोध है ।

समाधान - नहीं, क्योंकि अपर्याप्ति की भी अपर्याप्ति रूप से निष्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है ।

287. वे निर्लेपन स्थान भव मध्य को प्राप्त हुए आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 507)*

288. उत्पन्न हो के प्रथम समय में ही चार पर्याप्तियों को पूरा करता है ।*(ध. पु. 14, पृ. 509)*

289. सूक्ष्म निगोद के भव से और उसके मध्य से ऊपर भव मध्य जाकर बादर निगोद अपर्याप्त जीव के निर्लेपन स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं इस प्रकार यह विशेष सूत्र के अर्थ का परामर्श करने से जाना जाता है, अधस्तन भाग का जो आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण है3 वह इसी देशामर्षक सूत्र से जानना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 510)*

290. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवों का आयु बन्ध भव मध्य होता है ।

शंका - उसके बाद भव मध्य जाकर जाकर ऐसा न कहकर उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर ऐसा किसलिये कहा ?

समाधान - जिस प्रकार आहार आदि पर्याप्तियों का उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही प्रारम्भ होता है उस प्रकार आयुबन्ध का प्रारम्भ नहीं होता किन्तु उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अपने जघन्य जीवित रहने के दो त्रिभाग जाकर एक त्रिभाग शेष रहने पर आयुबन्ध होता है इस प्रकार का ज्ञान कराने के लिये कहा है । *(ध. पु. 14, पृ. 510)*

291. भव मध्य के स्वरूप का कथन करते हैं - यथा - तृतीय त्रिभाग के प्रथम समय में आयु का बन्ध करने वाले यद्यपि अनन्त हैं तो भी आगे के जीवों को देखते हुए थोड़े हैं दूसरे समय में आयु का बन्ध करने वाले जीव विशेष अधिक है इस प्रकार भव मध्य के प्राप्त होने तक विशेष अधिक विशेष अधिक जीव आयु का बन्ध करते हैं । उसके बाद अनन्तर उपरिय समयों में विशेष हीन-विशेष हीन जीव आयु का बन्ध करते हैं इस प्रकार यह क्रम सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तकों के आसंक्षेपाद्धा के प्रथम समय के प्राप्त होने तक चालू रहता है । *(ध. पु. 14, पृ. 511)*

292. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर निगोद अपर्याप्त जीवों का आयुबन्ध यव मध्य होता है । यहाँ पर जिस प्रकार सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवों के आयु बन्ध यव मध्य का कथन किया है उस प्रकार करना चाहिये इतनी विशेषता है कि सूक्ष्म-निगोद अपर्याप्त के यव मध्य के जघन्य स्थान से नीचे आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान सरक कर बादर निगोद

अपर्याप्तकों का प्रथम आयु बन्ध स्थान होता है तथा सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तकों के यव मध्य के अन्तिम स्थान से ऊपर आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर बादर निगोद अपर्याप्तकों के यव मध्य का अन्तिम स्थान होता है । इसी प्रकार यव मध्य देश का भी कथन करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 511)*

293. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवों का मरण यव मध्य होता है । अर्थात् उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर क्षुल्लक भव ग्रहण के अन्तिम समय तक इतना स्थान जाकर मरण यव मध्य का प्रारम्भ होता है ऐसा ग्रहण करना चाहिये । विशेष - ***देखे ध. पु. 14 पृ. 512 पर***

294. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर निगोद अपर्याप्त जीवों का मरण यव मध्य होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 512)*

295. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्तकों के आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण निर्वत्ति स्थान होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 513)*

296. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर निगोद अपर्याप्त जीवों के आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण निवृत्ति स्थान होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 514)*

297. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर सब जीवों की निवृत्ति का अन्तर होता है ।

विशेष - बादर निगोद अपर्याप्तकों की उत्कृष्ट आयु के ऊपर सब पर्याप्तकों की उत्कृष्ट आयु नहीं है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 14, पृ. 515)*

298. यदि पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक आदि की उत्कृष्ट आयु बादर निगोद अपर्याप्तकों की उत्कृष्ट आयु से अधिक होवे तो सब जीवों की निर्वृत्ति का अन्तर होता है, यह वचन निरर्थक हो जाता है । परन्तु इस प्रकार सूत्र निरर्थक नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने में विरोध आता है । इससे जाना जाता है कि सब अपर्याप्तकों की आयु समान होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 515)*

299. इतना अन्तर देकर ऊपर औदारिक शरीर का जघन्य निर्वत्ति स्थान होता है ऐसा यहाँ पर ग्रहण करना चाहिये, दीर्घ आयु वाले वादर निगोद अपर्याप्तकों में एक जीव उत्पन्न हुआ । तथा अन्य एक जीव उसी समय सबसे जघन्य आयु वाले सूक्ष्म निगोद पर्याप्तकों में उत्पन्न हुआ, पुनः यह सूक्ष्म निगोद पर्याप्त जीव जब तक शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त नहीं होता है उससे पूर्व तक ही बादर निगोद अपर्याप्त सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त है इसलिये वह मरकर भवान्तर में चला जाता है । *(ध. पु. 14, पृ. 515)*

300. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर तीन शरीरों के आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण निवृत्ति स्थान होते हैं । उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर बादर निगोद अपर्याप्तकों के उत्कृष्ट आयु प्रमाण तथा अन्य एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ऊपर जाकर औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर और आहारक शरीर के निर्वृत्ति स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही होते हैं, न वृद्धि के लिये होते हैं, न कम ही होते हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य है । *(ध. पु. 14, पृ. 516)*

301. शरीर पर्याप्ति की निवृत्ति का नाम ही शरीर निर्वृत्ति स्थान है । आहार पर्याप्ति के निवृत्ति स्थानों का शरीर पर्याप्ति में अन्तर्भाव हो जाने के कारण उनका अलग से कथन नहीं किया ।

(ध. पु. 14, पृ. 516)

302. उन तीनों शरीरों के निर्वत्ति स्थान समान नहीं होते है यही आगे कहते है । औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर और आहारक शरीर के यथा क्रम से विशेष अधिक है । यथाक्रम से निर्दिष्ट की गई परिपाटी के अनुसार विशेष अधिक हैं । यथा - एक जीव तिर्यंचों में या मनुष्यों में उत्पन्न हुआ पुनः उसी समय अन्य एक जीव देवों में या नारकीयों में उत्पन्न हुआ । पुनः उसी समय अन्य एक जीव ने आहारक शरीर के उत्पन्न करने के लिये प्रारम्भ किया । अतः ये तीनों जीव एक समय में ही आहारक शरीर वर्गणा में से प्रदेश पिण्ड को ग्रहण कर अपनी-अपनी छह पर्याप्तियों के प्रथम समय से लेकर रचना करते हैं इस प्रकार रचना करने वाले जीवों का जघन्य निर्वृत्ति काल भी होता है और उत्कृष्ट निर्वृत्ति काल भी होता है । उनमें से आहारक शरीर का जघन्य निर्वृत्ति काल स्तोक होता है । उससे वैक्रियक शरीर का जघन्य निर्वृत्ति काल विशेष अधिक होता है । उससे औदारिक शरीर का जघन्य निवृत्तिकाल विशेष अधिक होता है। इस कारण से आहारक शरीर की शरीर पर्याप्ति का जघन्य निवृत्ति स्थान पहले ही होता है पुनः इससे एक समय अधिक भी आहारक शरीर का निवृत्ति स्थान होता है । इससे दो समय अधिक भी आहारक शरीर का निर्वृत्ति स्थान होता है । इस प्रकार तीन समय अधिक आदि के क्रम से आहारक शरीर के आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण निर्वृत्ति स्थानों के उत्पन्न होने पर वहाँ वैक्रियक शरीर पर्याप्ति का सबसे जघन्य निर्वृत्ति स्थान होता है उसके आगे वैक्रियक शरीर और आहारक शरीर के निर्वृत्ति स्थान एक समय अधिक आदि के क्रम से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान तक साथ जाते हैं । उससे उपरिय समय में औदारिक शरीर पर्याप्ति का सबसे जघन्य निर्वृत्ति स्थान होता है । उससे आगे तीनों ही शरीरों के निर्वृत्ति स्थानों के एक समय अधिक आदि के क्रम से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक एक साथ जाने पर आहारक शरीर का उत्कृष्ट शरीर पर्याप्ति निर्वृत्ति स्थान क्रान्त होता है । पुनः जिस स्थान में आहारक शरीर का उत्कृष्ट निर्वृत्ति स्थान श्रान्त होता है उससे आगे एक समय अधिक आदि के क्रम से औदारिक शरीर और वैक्रियक शरीर के आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण निर्वृत्ति स्थानों केजाने पर वैक्रियक शरीर का उत्कृष्ट स्थान श्रान्त होता है पुनः जिस स्थान में वैक्रियक शरीर का उत्कृष्ट निर्वृत्ति स्थान श्रान्त होता है उससे लेकर आगे एक समय अधिक आदि के क्रम से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण निर्वृत्ति स्थान श्रान्त होता है उससे लेकर आगे एक समय अधिक आदि के क्रम से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण निर्वृत्ति स्थानों के जाने पर औदारिक शरीर का उत्कृष्ट निवृत्ति स्थान प्रत्येक आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण लेकर भी क्रम से विशेष अधिक होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 518)*

303. इस विषय में अल्प बहुत्व - औदारिक शरीर के निर्वृत्ति स्थान सबसे स्तोक है, क्योंकि वैक्रियक शरीर के निर्वृत्ति स्थान भीतर प्रविष्ट होकर औदारिक शरीर का जघन्य निर्वृत्ति स्थानों की अपेक्षा

अधस्तन वैक्रियक शरीर के निर्वृत्ति स्थान विशेष अधिक है । आहारक शरीर के निर्वृत्ति स्थान विशेष अधिक है । उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर तीन शरीरों के इन्द्रिय निर्वृत्ति स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 519)*

304. यहाँ अल्प बहुत्व - औदारिक शरीर के इन्द्रिय निर्वृत्ति स्थान सबसे थोड़े हैं । क्योंकि ऐसा होना स्वाभाविक है और स्वभाव दूसरे के प्रश्न योग्य नहीं होते, क्योंकि ऐसा होने पर अव्यवस्था की आपत्ति आती है । वैक्रियक शरीर के इन्द्रिय निर्वृत्ति स्थान विशेष अधिक है । आहारक शरीर के इन्द्रिय निर्वृत्ति स्थान विशेष अधिक है उसके बाद अन्तुहूर्त जाकर तीनों शरीरों के आनपान-भाषा और मन निर्वृत्ति स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 521)*

305. ये निर्वृत्ति स्थान औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर और आहारक शरीर के क्रम से विशेष अधिक होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 522)*

306. यहाँ अल्प बहुत्व - औदारिक शरीर के आनापान-भाषा और मनोनिर्वृत्ति स्थान सबसे स्तोक हैं - वैक्रियक शरीर के आनपान-भाषा और मनोनिर्वृत्ति स्थान विशेष अधिक है । आहारक शरीर के आनपान भाषा और मनोनिर्वृत्ति स्थान विशेष अधिक हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 525)*

307. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर तीन शरीरों के निर्लेपन स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 526)*

308. **शंका - निर्लेपन स्थान किसे कहते हैं ? जहाँ - पर छह पर्याप्तियों के लिये पुद्गलों का आना रुक जाता है उसे निर्लेपन स्थान कहते हैं इसलिये छह पर्याप्तियों के निष्पन्न होने पर पुनः जो पुद्गल पिण्ड ग्रहण किया जाता है वह शरीर का ही होता है, पर्याप्तियों का नहीं होता क्योंकि निष्पन्नों की निष्पत्ति मानने में विरोध आता है ?**

समाधान - शरीर पर्याप्ति - आये हुए पुद्गलों के अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा सात धातु रूप से परिणत होने पर शरीर पर्याप्ति कहलाती है । उस काल में शरीर निष्पत्ति नहीं होती क्योंकि उससे चर्म, रोम, नख, कलेजा और फुफ्फुस आदि की निष्पत्ति नहीं होती । इन्द्रिय पर्याप्ति - स्वच्छ पुद्गलों के मिलने पर उनके बल से बाह्य अर्थ के ग्रहण करने की शक्ति का उत्पन्न होना इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है । उस काल में बाह्य इन्द्रियों की निष्पत्ति नहीं होती क्योंकि, इन्द्रियों के अर्ध निष्पन्न होने पर ही अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा ही अक्षिपुट और चक्षु गोलक आदि की निष्पत्ति हो नहीं सकती क्योंकि मोर जो अण्डे देती है उनसे रसों में उस प्रकार की उपलब्धि नहीं होती । इसी प्रकार शेष पर्याप्तियाँ भी अपने-अपने द्रव्यों के अर्ध निष्पन्न होने पर ही निष्पन्न हो जाती है ऐसा कहना चाहिये । उन अर्ध निष्पन्न द्रव्य पर्याप्तियों की निष्पत्ति के लिये पर्याप्त जीव के भी पुद्गल पिण्ड आता है इस प्रकार पुद्गल पिण्ड के आने पर जहाँ पर पाँच पर्याप्तियों के द्रव्य उपकरणों की युगपत् निष्पत्ति होती है उसे निर्लेपन स्थान कहते हैं । यतः शरीर छह पर्याप्ति मंय है अतः निर्लेपित होने पर बाद में आने वाला पुद्गल स्कन्ध भी छह पर्याप्तियों के लिये ही आता है इसलिये वहाँ निर्लेपन

स्थानों का कहना शक्य नहीं है, क्योंकि पहले आये हुए पुद्गल स्कन्धों के समान बाद में ग्रहण किये गये पुद्गल स्कन्धों द्वारा द्रव्य पर्याप्तियों के संस्थानान्तर की या अवयवान्तर की उपलब्धि नहीं होने से उनका उनके निर्माण में व्यापार नहीं होता । इस प्रकार निर्लेपित होने पर जो पुद्गलों का ग्रहण होता है वह शरीर के लिये होता है या पूर्व पर्याप्तियों के लिये होता है ऐसा पूछने पर उसका उत्तर यह है कि परमार्थ से सब पुद्गलों का ग्रहण शरीर के लिये ही होता है क्योंकि शरीर को छोड़कर पर्याप्तियों का अभाव है । *(ध. पु. 14, पृ. 528)*

309. वे निर्लेपन स्थान औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर और आहारक शरीर के क्रम से विशेष अधिक हैं । यहाँ पर अल्प बहुत्व, औदारिक शरीर के निर्लेपन स्थान सबसे स्तोक हैं वैक्रियक शरीर के निर्लेपन स्थान विशेष अधिक है । आहारक शरीर के निर्लेपन स्थान विशेष अधिक हैं। *(ध. पु. 14, पृ. 529)*

310. **निर्वृत्ति** - चार पर्याप्तियों के निर्लेपन को निर्वृत्ति कहते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 530)*

311. उसके बाद भव मध्य जाकर बादर निगोद पर्याप्त जीवों के निर्वृत्ति स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 531)*

312. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म निगोद पर्याप्त जीवों का आयु बन्ध यव मध्य होता है उत्पन्न होने के प्रथम समय से आयु बन्ध का प्रारम्भ नहीं होता हैं निश्चय से अपनी जघन्य आयु के दो त्रिभाग जाकर ही आयु का बन्ध होता है । उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर निगोद पर्याप्त जीवों का आयु बन्ध यव मध्य होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 533)*

313. **जघन्य जीवनीय स्थान** - आसंक्षेपाद्धा से ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर निगोद पर्याप्तकों व सूक्ष्म निगोद पर्याप्तकों का घात से उत्पन्न हुआ सबसे जघन्य जीवनीय स्थान होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 533)*

314. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म निगोद पर्याप्तक जीवों का मरण यव मध्य होता है । उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर निगोद पर्याप्त जीवों का मरण यव मध्य होता है । उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म निगोद पर्याप्तकों के निर्लेपन स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर निगोद पर्याप्त जीवों के निर्लेपन स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । वहीं पर प्रत्येक शरीर पर्याप्तकों के निर्लेपन स्थान आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 533 से 536)*

315. यहाँ पर अल्प बहुत्व - सूक्ष्म निगोद पर्याप्त जीवों के निर्लेपन स्थान सबसे थोड़े हैं । बादर निगोद पर्याप्त जीवों के निर्लेपन स्थान विशेष अधिक हैं । वहीं पर प्रत्येक शरीर पर्याप्तकों के निर्लेपन स्थान विशेष अधिक हैं । वहाँ सर्वप्रथम वे आवश्यक होते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 536 से 537 तक)*

316. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर बादर निगोद पर्याप्त जीवों का शमिला यव मध्य होता है । उसके बाद अन्तर्मुहूर्त बादर निगोद पर्याप्त जीवों का शमिला यव मध्य होता है । यहाँ भव मध्य समाप्त होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 537)*

317. उसके बाद अन्तर्मुहूर्त जाकर एकेन्द्रिय की जघन्य पर्याप्त निर्वृत्ति होती है फिर अन्तर्मुहूर्त जाकर सम्मूच्छिम की जघन्य पर्याप्त निर्वृत्ति होती है । फिर अन्तर्मुहूर्त जाकर गर्भोपक्रान्त जीव की जघन्य पर्याप्त निर्वृत्ति होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 538)*

318. ग्रहण प्रायोग्य - यह एक प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा पाँच शरीरों के जो ग्रहण योग्य हैं वह ग्रहण प्रायोग्य कहलाती है । *(ध. पु. 14, पृ. 543)*

319. उक्त पुद्गल द्रव्य वर्गणा पाँच शरीरों के ग्रहण योग्य नहीं हैं वह अग्रहण प्रायोग्य कहलाती है । *(ध. पु. 14, पृ. 543)*

320. ये एक प्रदेशी सब परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणायें अग्रहण प्रायोग्य हैं । जिस प्रकार हाथी के हाथ से सरसों ग्रहण योग्य नहीं होता है उसी प्रकार ये पाँच शरीरों के ग्रहण योग्य नहीं होती हैं क्योंकि ऐसा स्वभाव है ।

321. यह द्वि प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा क्या ग्रहण प्रायोग्य होती है या क्या अग्रहण प्रायोग्य होती हैं ? अग्रहण प्रायोग्य होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 544)*

322. इस प्रकार त्रि प्रदेशी, चतु प्रदेशी, पंच प्रदेशी, षट्प्रदेशी, सप्त प्रदेशी, अष्ट प्रदेशी, नव प्रदेशी, दश प्रदेशी, संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा क्या ग्रहण प्रायोग्य होती है या क्या अग्रहण प्रायोग्य होती है ? अग्रहण प्रायोग्य होती हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 545)*

323. अनन्तानन्त प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणा क्या ग्रहण प्रायोग्य होती है या क्या अग्रहण प्रायोग्य होती है ? कोई ग्रहण प्रायोग्य होती हैं कोई अग्रहण प्रायोग्य होती है *(ध. पु. 14, पृ. 545)*

विशेष - आहार वर्गणा की जघन्य वर्गणा से लेकर महास्कन्ध द्रव्य वर्गणा तक ये सब अनन्तानन्त प्रदेशी वर्गणायें हैं उनमें से आहार वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा और कार्माण वर्गण ये ग्रहण प्रायोग्य हैं अवशेष अग्रहण प्रायोग्य हैं ऐसा ग्रहण करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 545)*

324. आहार द्रव्य वर्गणा, उन अनन्तानन्त प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्य वर्गणाओं के ऊपर जो होती है उसकी आहार द्रव्य वर्गणा संज्ञा है ।

325. आहार द्रव्य वर्गणा तीन शरीरों के ग्रहण के लिये प्रवृत्त होती है जिसके परमाणु पुद्गल स्कन्ध को ग्रहण कर तीन शरीरों का ग्रहण अर्थात् निष्पत्ति होती है वह आहार द्रव्य वर्गणा है । औदारिक शरीर वैक्रियक शरीर और आहारक शरीर के जिन द्रव्यों का ग्रहण कर औदारिक वैक्रियक और आहारक शरीर वर्गणा के भीतर कुछ वर्गणाएँ औदारिक शरीर के योग्य हैं, कुछ वर्गणाएँ वैक्रियिक शरीर के योग्य है और कुछ वर्गणाएँ आहारक शरीर के योग्य हैं इस प्रकार आहार शरीर वर्गणा तीन प्रकार की है ।

326. आहार द्रव्य वर्गणाओं के ऊपर अग्रहण द्रव्य वर्गणा हैं । अग्रहण द्रव्य वर्गणा आहार द्रव्य से प्रारम्भ होकर तैजस द्रव्य वर्गणा को नहीं प्राप्त होती है अत: इन दोनों द्रव्यों के मध्य में जो

होती है उसकी अग्रहण द्रव्य वर्गणा संज्ञा है । अग्रहण द्रव्य वर्गणा के ऊपर तैजस द्रव्य वर्गणा है । तैजस द्रव्य वर्गणा से तैजस शरीर का ग्रहण होता है ।

327. जिन द्रव्यों का ग्रहण कर तैजस शरीर रूप से परिणमा कर जीव परिणमन करते हैं उन द्रव्यों की तैजस द्रव्य वर्गणा संज्ञा है । तैजस द्रव्य वर्गणा के ऊपर अग्रहण द्रव्य वर्गणा होती है । अग्रहण द्रव्य वर्गणा तैजस द्रव्य वर्गणा से प्रारम्भ होकर भाषा वर्गणा को नहीं प्राप्त होती है अत: इन दोनों द्रव्यों के मध्य में जो होती है उसकी अग्रहण द्रव्य वर्गणा संज्ञा है । ***(ध. पु. 14, पृ. 550)***

328. अग्रहण वर्गणआओं के ऊपर जो होती है उसकी भाषा द्रव्य वर्गणा संज्ञा है । भाष द्रव्य वर्गणा - जो वर्गणा चार प्रकार की भाषा रूप से ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह भाषा द्रव्य वर्गणा है । अर्थात् चार प्रकार की भाषा के योग्य जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहण कर तालु आदि के व्यापार द्वारा सत्य भाषा, भोष भाषा, सत्यभोष भाषा और असत्य भोष भाषा रूप से परिणमा कर जीव मुख से निकलते हैं अतएव उन द्रव्यों की भाषा द्रव्य वर्गणा संज्ञा है । भाषा द्रव्य वर्गणाओं के ऊपर जो होती हैं उसकी अग्रहण द्रव्य वर्गणा संज्ञा है अग्रहण द्रव्य वर्गणा भाषा द्रव्य वर्गणा से प्रारम्भ होकर उसकी मनोद्रव्य को नहीं प्राप्त होती है अत: उन द्रव्यों के मध्य जो होती है उसकी अग्रहण द्रव्य वर्गणा संज्ञा है । अग्रहण द्रव्य वर्गणाओं के ऊपर जो होती है उसकी मनो द्रव्य वर्गणा संज्ञा है । ***(ध. पु. 14, पृ. 550 व 551)***

329. **मनोद्रव्य वर्गणा** - चार प्रकार के मन रूप से ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है । सत्य मन, मोष मन, सत्यभोष मन और असत्य भोष मन के जिन द्रव्यों को ग्रहण कर सत्य मन, मोष मन, सत्य मोष मन और असत्य मोष मन रूप से परिणमा कर जीव परिणमन करते हैं उन द्रव्यों की मनोद्रव्य वर्गणा संज्ञा है । मनोद्रव्य वर्गणाओं के ऊपर अग्रहण द्रव्य वर्गणा होती है अग्रह द्रव्य वर्गणा मनोद्रव्य वर्गणा से प्रारम्भ होकर कार्माण द्रव्य को नहीं प्राप्त होती है अत: इन दोनों द्रव्यों के मध्य में जो होती है उसकी अग्रहण द्रव्य वर्गणा संज्ञा है । अग्रहण द्रव्य वर्गणाओं के ऊपर कार्माण द्रव्य वर्गणा होती है । ***(ध. पु. 14, पृ. 551 व 552)***

330. कार्माण द्रव्य वर्गणा आठ प्रकार के कर्म का ग्रहण कर प्रवृत्त होती है । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहण कर ज्ञानावरण रूप से, दर्शनावरण रूप से, वेदनीय रूप से, मोहनीय रूप से आयु रूप से नाम रूप से, गोत्र रूप से, अन्तराय रूप से परिणमा कर जीव परिणमन करते हैं, अत: उन द्रव्यों की कार्माण द्रव्य वर्गणा संज्ञा है ।

331. ज्ञानावरणीय के योग्य जो द्रव्य है वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के कारण पाँच ज्ञानावरणीय रूप से परिणमन करते हैं अन्य रूप से वे परिणमन नहीं करते क्योंकि वे अन्य के अयोग्य होते हैं इसी प्रकार अब कर्मों के विषय में कहना चाहिये । ***(ध. पु. 14, पृ. 553)***

332. ये आठ ही वर्गणायें पृथक-पृथक नहीं रहती है किन्तु मिश्रित होकर रहती हैं । ***(ध. पु. 14, पृ. 554)***

333. **प्रदेशार्थता** - औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्तानन्त प्रदेश वाली होती है । *(ध. पु. 14, पृ. 554)*

334. वे पाँच वर्ण वाली होती हैं । औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणायें शुक्ल, लाल, कृष्ण, नील, दीत वर्ण से संयुक्त होती हैं ।

शंका - एक परमाणु में पाँच वर्ण कैसे होते हैं ?

समाधान - नहीं क्योंकि एक-एक परमाणु में एक-एक ही वर्ण पर्याय होती है । किन्तु औदारिक शरीर वर्गणा की चूंकि कुछ वर्गगायें शुक्ल वर्ण वाली होती है, कुछ लाल वर्ण वाली होती हैं, कुछ कृष्ण वर्ण वाली होती हैं, कुछ नील वर्ण वाली है, कुछ पीत वर्ण वाली होती है, और मिश्र वर्ण वाली होती है, इसलिए इनके पाँच वर्ण बन जाते हैं । *(ध. पु. 14, पृ. 555)*

शंका - यदि ऐसा है तो औदारिक शरीर वर्गणा के इकतीस वर्ण के भेद प्राप्त होते हैं ?

समाधान - नहीं, क्योंकि पांच वर्ण से संयोगी भेद सर्वथा पृथग्भूत नहीं होते ।

335. पांच रस वाली होती है, औदारिक शरीर वर्गणाओं में तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल और मधुर के भेद से पांच रस होते हैं, ये पांचों रस एक परमाणु में एक साथ नहीं होते हैं किन्तु क्रम से होते हैं । परन्तु वर्गणाओं में अक्रम से होते है और क्रम से भी होते है । क्योंकि अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदय समागम से उत्पन्न हुई वर्गणाओं में पांच वर्णों के समान पांच रसों की अक्रम से वृत्ति होने में कोई विरोध नहीं है। *(ध. पु. 14, पृ. 555)*

336. दो गन्ध वाली होती है । सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध इस प्रकार संक्षेप से गन्ध के भंग दो ही है । विशेष की अपेक्षा तो सुरभिगन्ध और दुरभि गन्ध अनेक प्रकार का होता है, क्योंकि जाति, केतकी और नेमाली आदि फूलों में अनेक प्रकार की गन्ध उपलब्ध होती हैं । इन दो प्रकार की गन्धों से औदारिक परमाणु क्रम से संयुक्त होते हैं । परन्तु वर्गणायें क्रम से और अक्रम से संयुक्त होती हैं, क्योंकि सावयव पदार्थों में ऐसा होने में कोई विरोध नहीं आता ।

(ध. पु. 14, पृ. 555 व 556)

337. आठ स्पर्श वाली होती हैं, कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु, लघु, शीत और उष्ण के भेद से मूल स्पर्श आठ होते हैं । इन आठ स्पर्शों से औदारिक शरीर वर्गणायें क्रम से और अक्रम से संयुक्त होती है

338. वैक्रियक शरीर द्रव्य वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्तानन्त प्रदेश वाली होती हैं । वे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श वाली होती हैं । जिस प्रकार औदारिक के सूत्रों का कथन किया उसी प्रकार इनका करना चाहिये । *(ध. पु. 14, पृ. 556)*

339. आहारक शरीर वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्तानन्त प्रदेश वाली होती हैं । वे पाँच वर्ण वाली होती है ।

शंका - यदि ये पाँच वर्ण वाली होती हैं तो आहार शरीर धवल ही होता है यह कैसे बन सकता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि विस्रसोपचय की धवलता को देखकर वह उपदेश दिया है । ***(ध. पु. 14, पृ. 557)***

पाँच रस वाली होती है ।

शंका - यहाँ अशुभ रस की सम्भावना होने पर आहारक शरीर मधुर होता है यह कैसे बन सकता है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि अप्रशस्त रस वाली वर्गणाओं का अव्यक्त रसहोने से वहाँ मधुर रस का उपदेश दिया गया है । ***(ध. पु. 14, पृ. 557)***

दो गंध वाली होती है । यहाँ पर भी आहारक शरीर का सुगन्धपना पहले के समान कहना चाहिये।

आठ स्पर्श वाली होती है । यहाँ पर भी आहारक शरीर का शुभ स्पर्श पहले के समान कहना चाहिये। अथवा अशुभ रस, अशुभ गंध, अशुभ स्पर्श वाली वर्गणायें आहारक शरीर रूप से परिणमन करती हुई शुभ रस, शुभ गंध और शुभ स्पर्श रूप से परिणमन करती हैं ऐसा कहना चाहिये । ***(ध. पु. 14, पृ. 558)***

340. तैजस शरीर की द्रव्य वर्गणायं प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्तानन्त प्रदेश वाली होती हैं । वे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श वाली होती हैं । यथा - स्निग्ध, स्निग्ध रुक्ष में से कोई एक, शीत उष्ण में से कोई एक, कर्कश-मृदु में से कोई एक तथा गुरु और लघु में से कोई एक स्पर्श होता है ।

341. भाषा द्रव्य वर्गणायें - मनो द्रव्य वर्गणायें और कार्माण शरीर द्रव्य वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्तानन्त प्रदेश वाली होती हैं । वे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और चार स्पर्श वाली होती है । तैजस शरीर के समान ही इनका कथन जानना चाहिये । ***(ध. पु. 14, पृ. 559)***

342. अल्प बहुत्व दो प्रकार का है - प्रदेश अल्प बहुत्व और अवगाहना अल्प बहुत्व । पहले बाह्य वर्गणा अनुयोग द्वार में पाँच शरीर रूप से परिणत हुए पुद्गलों का अल्प बहुत्व कहा है अब पाँच शरीरों की वर्गणाओं के प्रदेशों के अल्प बहुत्व का कथन करने के लिये प्रदेश अल्प बहुत्व आया है । पाँच शरीरों के योग्य वर्गणाओं का भी अल्प बहुत्व आभ्यन्तर वर्गणा अनुयोग द्वार में कहा है इसलिये यहाँ पर प्रदेश अप्ल बहुत्व से कोई प्रयोजन नहीं है ऐसा कहना योग्य नहीं हैं क्योंकि औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर और आहारक शरीर के योग्य वर्गणाओं के अल्प बहुत्व का वहाँ पर कथन नहीं किया।

343. प्रदेश अल्प बहुत्व, औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा सबसे स्तोक है । यह अल्प बहुत्व योग से आने वाले एक समय प्रबद्ध की वर्गणाओं का कहा है सब वर्गणाओं का नहीं । वर्गणाग्र और प्रदेशाग्र की अपेक्षा तैजस शरीर वर्गणा से आहार वर्गणा अनन्त गुणी होती है उससे अनन्त गुणी हीन होने में विरोध आता है इसलिये एकयोग से आने वाली औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणायें प्रदेशाग्र और वर्गणाग्र की अपेक्षा स्तोक हैं । ***(ध. पु. 14, पृ. 560)***

344. वैक्रियक शरीर द्रव्य वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा असंख्यात गुणी है । जिस योग से औदारिक शरीर के लिये आहारक वर्गणाओं में से औदारिक शरीर वर्गणायें एक समय में आगमन प्रायोग्य होती हैं, उन्हीं वर्गणाओं में से उसी समय में अन्य जीव के उसी योग से वैक्रियक शरीर के लिये आगमन योग्य वर्गणायें असंख्यात गुणी होती हैं क्योंकि ऐसा स्वभाव है । जग श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है । *(ध. पु. 14, पृ. 561)*

345. आहारक शरीर द्रव्य वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं । उसी समय में उसी योग से आहार वर्गणा से आने वाली आहारक शरीर द्रव्य वर्गणायें असंख्यात गुणी होतीहैं क्योंकि ऐसा स्वभाव है जग श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है । *(ध. पु. 14, पृ. 561)*

346. तैजस शरीर द्रव्य वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्त गुणी हैं । उसी समय में उसी योग के द्वार तैजस शरीर द्रव्य वर्गणाओं में से तैजस शरीर के लिये आने वाली वर्गणायें प्रदेशाग्र की अपेक्षा अनन्त गुणी होती है क्योंकि ऐसा स्वभाव है । अभव्यों से अनन्त गुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण गुणकार है । *(ध. पु. 14, पृ. 562)*

347. भाषा द्रव्य वर्गणायें - मनोद्रव्य वर्गणायें और कार्माण द्रव्य वर्गणायें प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्त गुणी होती है । उसी समय में उसी योग से भाषा वर्गणाओं में से भाषा रूप पर्याय से परिणमन करने वाली वर्गणायें प्रदेशाग्र की अपेक्षा अनन्त गुणी होती हैं । उसी समय में उसी योग से मनोद्रव्य वर्गणाओं में से द्रव्य मन के लिये आने वाली वर्गणाओं में से आठों कर्मों के लिये आने वाली वर्गणायें प्रदेशाग्र की अपेक्षा अनन्त गुणी होती हैं । सर्वत्र गुणकार अभव्यों से अनन्त गुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होता है । *(ध. पु. 14, पृ. 562)*

348. पांच शरीरों की अवगाहना का अल्प बहुत्व वेदना क्षेत्र विधान अनुयोग द्वार में कहा है इसलिये उसका यहाँ पर कथन नहीं करते हैं किन्तु पाँच शरीरों के योग्य वर्गणाओं की अवगाहना के अल्प बहुत्व का कथन करने के लिये अवगाहना अल्प बहुत्व यहाँ पर आया है ।

अवगाहना अल्प बहुत्व - कार्माण शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा सबसे स्तोक हैं, क्योंकि एक घनांगुल में अंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर एक कार्माण वर्गणा की अवगाहना उत्पन्न होती है ।

349. मनो द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं, अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है घनाकार रूप से स्थित लोह की गोला की अवगाहना से स्तोक प्रदेश वाले फेन पुंज की अवगाहना बहुत उपलब्ध होती है । भाषा द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी है । अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है । तैजस शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं । अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण गुणकार है आहारक शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं । वैक्रियक शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं औदारिक शरीर द्रव्य वर्गणायें अवगाहना की अपेक्षा असंख्यात गुणी हैं उपर्युक्त सभी का गुणकार अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । *(ध. पु. 14, पृ. 564)*

❖ ❖ ❖

धवल पुस्तक 15.

1. **निबन्धन** - जो द्रव्य जिसमें सम्बद्ध है उसे निबन्धन कहा जाता है । ***(ध. पु. 15, पृ. 1)***

2. **नाम निबन्धन** - जिस नाम की वाचक रूप से प्रवृत्ति में जो अर्थ आलम्बन होता है वह नाम निबन्धन है । क्योंकि उसके बिना नाम की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है । वह नाम निबन्धन अर्थ प्रत्यय और अभिधान के भेद से तीन प्रकार का है ।

3. **अर्थनाम निबन्धन** - एक व बहुत जीव तथा अजीव से उत्पन्न प्रत्येक व संयोगी भंगों को अर्थनाम निबन्धन कहते हैं वह आठ प्रकार है ।

4. **प्रत्यय निबन्धन** - इन आठ अर्थों के उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यय निबन्धन कहलाता हैं । ***(ध. पु. 15, पृ. 2)***

5. **अभिधान निबन्धन** - जो संज्ञा शब्द प्रवृत्त होकर अपने आपको जतलाता है वह अभिधान निबन्धन कहा जाता है । ***(ध. पु. 15, पृ. 2)***

6. **शंका - भव किसे कहते हैं ?**
समाधान - उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक जो विशेष अवस्था रहती है उसे भव कहते हैं ।

7. वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संघात आदि नाम प्रकृतियों का विपाक पुद्गल में निबद्ध है क्योंकि उनके उदय से वर्णादिक की उत्पत्ति देखी जाती है ।

8. तीर्थंकर आदिक कर्म जीव में निबद्ध है क्योंकि उनका विपाक जीव में ही पाया जाता है ।

9. आनुपूर्वी कर्म क्षेत्र में निबद्ध है क्योंकि उसका विपाक प्रतिनियत क्षेत्र में ही पाया जाता है । इस कारण नाम कर्म तीन प्रकार से निबद्ध है । यह सिद्ध होता है ।

10. अवधि ज्ञान द्रव्य की अपेक्षा मूर्त द्रव्यों को ही जानता है, धर्म, अधर्म, काल, आकाश और सिद्ध जीव इन अमूर्त द्रव्यों को वह नहीं जानता क्योंकि अवधि ज्ञान का निबन्ध रूपी द्रव्यों में है ऐसा सूत्र वचन है क्षेत्र की अपेक्षा वह धन लोक के भीतर स्थित द्रव्यों को ही जानता है उसके बाहर स्थित द्रव्यों को नहीं जानता, काल की अपेक्षा वह असंख्यात वर्षों के भीतर जो अतीत अन्यगत वस्तु है उसे ही जानता है उनके बाहर स्थित वस्तु को नहीं जानता । भाव की अपेक्षा अतीत अनागत एवं वर्तमान काल को विषय करने वाली असंख्यात लोक मात्र द्रव्य पर्याय को जानता है इसलिये अवधिज्ञान द्रव्यों की समस्त पर्यायों को विषय करने वाला नहीं है इसी कारण अवधि ज्ञानावरण सब द्रव्यों की समस्त पर्यायों को विषय करने वाला नहीं है इसी कारण अवधि ज्ञानावरण सब द्रव्यों के एक देश में निबद्ध है । ऐसा कहा है । ***(ध. पु. 15, पृ. 8)***

11. स्त्यानगृद्धि त्रय, निद्रा, प्रचला और अचक्षु दर्शनावरणीय आत्मा में निबद्ध है । कारण कि उक्त प्रकृतियाँ जीव के स्वसंवेदन को घातने वाली है । ***(ध. पु. 15, पृ. 9)***

12. **शंका - उनकी परस्पर में प्रत्यासक्ति कैसे हैं ?**
समाधान - विषयी से पृथग्भूत अतएव युगपत स्व और पर को प्रत्यक्ष होने वाले ऐसे चक्षु दर्शन के विषय में समान उन पाँचों दर्शनों के विषय का दूसरों के लिये ज्ञान कराने का कोई उपाय नहीं है इसकी समानता पाँचों ही दर्शनों में यही उनमें प्रत्यासत्ति है । *(ध. पु. 15, पृ. 10)*

13. मोहनीय कर्म दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार का है । उनमें दर्शन मोहनीय सब द्रव्यों में निबद्ध है सब पर्यायों में नहीं । मिथ्यात्व व सम्यक्त्व मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय सब द्रव्यों में निबद्ध है क्योंकि वे समस्त द्रव्यों सम्बन्धी श्रद्धान गुण का विघात करने वाली प्रकृतिया है सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय प्रकृति कुछ पर्यायों में निबद्ध है । क्योंकि उसके द्वारा सम्यक्त्व के एक देश का घात पाया जाता है । *(ध. पु. 15, पृ. 11)*

14. **काल प्रक्रम** - समय, आवली, क्षण, लव और मुहूर्त आदिक को काल प्रक्रम कहा जाता है। *(ध. पु. 15, पृ. 16)*

15. **आगम भाव प्रक्रम** - प्रक्रम अनुयोग द्वार का ज्ञायक उपयोग युक्त जीव आगम भाव प्रक्रम है। *(ध. पु. 15, पृ. 15)*

16. **नो आगम भाव प्रक्रम** - औदायिक आदि पाँच भावों को नो आगम भाव प्रक्रम कहा जाता है । *(ध. पु. 15, पृ. 16)*

17. कार्माण पुद्गल प्रचय को प्रक्रम कहा गया है । *(ध. पु. 15, पृ. 16)*

18. **संयोग** - पृथक प्रसिद्ध पदार्थों में मेल को संयोग कहते हैं ।

19. **समवाय** - अयुत सिद्ध पदार्थों का एक रूप से मिलने का नाम समवाय है ।

20. **नैगम नय** - जो विद्यमान है वह भेद व अभेद इन दोनों का उल्लंघन करके नहीं रहता इस कारण जो उन दोनों में से किसी एक को विषय न करके विवक्षा भेद से दोनों को ही विषय करता है वह नैगम नय कहा जाता है । *(ध. पु. 15, पृ. 24)*

21. **अनेकान्त** - जात्यन्तर भाव को अनेकान्त कहते हैं ।

22. **प्राग्भाव** - कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व में जो उसकी अविद्यमानता है उसे प्राग्भाव कहते हैं। *(ध. पु. 15, पृ. 29)*

23. **प्रध्वंसाभाव** - कार्य के विनाश का नाम प्रध्वंसा भाव है । *(ध. पु. 15, पृ. 29)*

24. **अन्योन्याभाव** - विवक्षित स्वभाव के दूसरे स्वभावों से रहने वाली भिन्नता का नाम अन्योन्याभाव है । जैसे गाय रूप स्वभाव (पर्याय) की अश्वादि स्वभावों से रहने वाली भिन्नता । *(ध. पु. 15, पृ. 30)*

25. **अन्त्यन्ताभाव** - एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य सम्बन्धी असाधारण गुणों के त्रैकालिक अभाव को अत्यन्ताभाव कहा जाता है । जैसे पुद्गल द्रव्य में चैतन्य गुण का अभाव और जीव द्रव्य में रहने वाला रूपादि गुणों का अभाव । *(ध. पु. 15, पृ. 30)*

26. अपने असाधारण स्वरूप को न छोड़कर दूसरे द्रव्यों के असाधारण स्वरूप का करते हुए, जो उन उन पर्यायों को वर्तमान में प्राप्त होता हैं, भविष्य में प्राप्त होगा व भूतकाल में प्राप्त हो चुका है, वह द्रव्य कहलाता हैं । ***(ध. पु. 15, पृ. 33)***

27. **शंका - प्रक्रम और उपक्रम में क्या भेद है ?**
समाधान - प्रक्रम अनुयोग द्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग में आने वाले प्रदेशाग्र की प्ररूपणा करता हैं, परन्तु उपक्रम अनुयोग द्वार बन्ध के द्वितीय समय से लेकर सत्व स्वरूप से स्थित कर्म पुद्गलों के व्यापार की प्ररूपणा करता है । इसलिए उन दोनों में विशेषता है । जो वह बन्धन उपक्रम है, वह चार प्रकार का है - प्रकृति बन्धन - उपक्रम, स्थिति बन्धन, उपक्रम, अनुभाग बन्धन, उपक्रम और प्रदेश बन्धन उपक्रम । दूध के साथ पानी के समान जीव प्रदेशों के साथ परस्पर में अनुगत (एक रूपता को प्राप्त) प्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा करने को प्रकृति बन्धन उपक्रम कहते है अनन्तर उन सत्व रूप प्रकृतियों के एक समय से लेकर सत्तर कोडाकोडी सागरोपम काल तक कर्म स्वरूप से रहने के काल की प्ररूपणा को स्थिति बन्धन-उपक्रम कहते है । उन्हीं सत्व प्रकृतियों के जीव के साथ एकता को प्राप्त हुए, अनुभाग सम्बन्धी स्पर्द्धक वर्ग, वर्गणा, स्थान और अविभाग प्रतिच्छेद आदि की प्ररूपणा का नाम अनुभाग बन्धन उपक्रम है । उन्हीं प्रकृतियों के क्षपित कर्मांशिक, गुणित कर्मांशिक, क्षपित घोल और गुणित घोलमान जीवों का आश्रय करके संचय को प्राप्त हुए उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेश की प्ररूपणा को प्रदेश बन्धन उपक्रम कहा जाता है ।

28. **उदारणा** - नहीं पके हुए कर्मों के पकाने का नाम उदीरणा है । आवली के वाहिर की स्थिति को लेकर आगे की स्थितियों के वन्धावली अतिक्रान्त, प्रदेशाग्र को असंख्यात लोक प्रतिभाग से अथवा पल्योपम के असंख्यातवें भाग रूप प्रति भाग से अपकर्षण करके उदयावली में देना यह उदीरणा कहलाती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 43)***

29. **भुजाकार उदीरणा** - भुजाकार के विषय में अर्थपद - इस समय जितनी प्रकृतियों की उदीरणा करता है उससे अनन्तर पिछले समय में उनसे थोड़ी प्रकृतियों की उदीरणा करता है, यह भुजाकार उदीरणा है ।

30. **अल्पतर उदीरणा** - इस समय जितनी प्रकृतियों की उदीरणा करता है । उनसे अनन्तर बीते हुए समय में बहुतर प्रकृतियों की उदोरणा करता है । यह अल्पतर उदीरणा है ।

31. **अवस्थित उदीरणा** - दोनों ही समयों में उतनी मात्र प्रकृतियों की ही उदीरणा करने वाले के अवस्थित उदीरणा होती है ।

32. **अवक्तव्य उदीरणा** - अनुदीरणा से उदीरणा करने वाले के अवक्तव्य उदीरणा होती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 50-51)***

33. **शंका - मूर्त कर्मों का अमूर्त जीव के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?**
समाधान - नहीं, क्योंकि अनादिकालीन बन्धन से बद्ध रहने के कारण जीव का संसार अवस्था में अमूर्त होना सम्भव नहीं है । ***(ध. पु. 15, पृ. 52)***

34. **शंका - अनादि बन्ध का परिज्ञान किस प्रमाण से होता है ?**
समाधान - चूंकि जीव और शरीर का वर्तमान बन्ध अनादि बन्ध के बिना बन नहीं सकता है अतएव इस अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से उसका ज्ञान हो जाता है । *(ध. पु. 15, पृ. 33)*

35. समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म का उदीरणा काल जघन्य से एक समय मात्र है क्योंकि अविवक्षित संस्थान के साथ उत्तर शरीर की विक्रिया करके विवक्षित संस्थान वाले मूल शरीर में प्रविष्ट होने के द्वितीय समय में मृत्यु को प्राप्त होकर संस्थानान्तर को प्राप्त हुए जीव के एक समय मात्र काल पाया जाता है । उसका उत्कृष्ट उदीरणा काल साधिक एक सौ तिरेसठ सागरोपम प्रमाण है । हुंडक संस्थान को छोड़कर शेष चार संस्थानों का उदीरणा काल जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पूर्व कोटि पृथक्त्व मात्र है । क्योंकि कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों को छोड़कर अन्यत्र शेष संस्थानों की सम्भावना नहीं है । हुण्डक संस्थान नाम कर्म का उदीरणा काल जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है । क्योंकि विग्रह गति के बिना परिभ्रमण करने वाले एकेन्द्रियों व विकलेन्द्रियों में अन्य संस्थान की सम्भावना नहीं है ।
(ध. पु. 15, पृ. 65)

शंका - अनन्त काल की प्ररूपणा क्यों नहीं की ?
समाधान - नहीं, क्योंकि विग्रह गति में रहने वाले जीवों के संस्थान का उदय सम्भव नहीं है।
(ध. पु. 15, पृ. 65)

शंका - विग्रह गति में संस्थान के अभाव में जीव का अभाव क्यों नहीं हो जाता ?
समाधान - नहीं, क्योंकि वहाँ आनुपूर्वी के द्वारा रचे गये संस्थान में अवस्थित जीव के अभाव का विरोध है ।

36. वज्र वृषभ नाराच शरीर संहनन नाम कर्म का उदीरणा काल जघन्य से एक समय मात्र है, क्योंकि, उत्तर शरीर से मूल शरीर को प्राप्त होकर विवक्षित संहनन से एक समय परिणत होकर द्वितीय समय में मृत्यु को प्राप्त हुए जीव के उक्त काल पाया जाता है । उसका उदीरणा काल उत्कर्ष से पूर्व कोटि पृथक्त्व से अधिक तीन पल्योपम प्रमाण है । शेष पाँचों ही संहननों का उदीरणा काल जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पूर्व कोटि पृथक्त्व प्रमाण है *(ध. पु. 15, पृ. 65)*

37. तीर्थंकर नाम कर्म का उदीरणा काल जघन्य से वर्ष पृथक्त्व और उत्कर्ष से कुछ कम पूर्व कोटि प्रमाण है । *(ध. पु. 15, पृ. 67)*

38. **जघन्य स्थिति उदीरणा** - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय की जघन्य स्थिति उदीरणा एक स्थितिमात्र है । वह किसके होती है ? जिसके अन्तिम समयवर्ती क्षीण कषाय होने में एक समय अधिक आवली मात्र शेष रही है उसके होती है ।

मोहनीय की जघन्य स्थिति उदीरणा एक स्थिति मात्र है । वह किसके होती है ? जिस जीव के अन्तिम समय समयवर्ती सूक्ष्म साम्परायिक क्षपक होने में एक समय अधिक आवली मात्र काल शेष रहा है उसके होती है ।

वेदनीय की जघन्य स्थिति उदीरणा पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग हीन सागरोपम के 3/7 भाग मात्र प्रमाण होती है । नाम और गौत्र की जघन्य स्थिति उदीरणा एक समय कम आवली से हीन अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है । अभिप्राय यह है कि वह अयोग केवली के काल और अन्तिम फालि रूप होती है ।

आयुकर्म की जघन्य स्थिति उदीरणा एक स्थिति मात्र है । वह कहाँ पर होती है ? वह मरण समय में एक समय अधिक आवली के शेष रहने पर होती है । इस प्रकार मूल प्रकृति स्थिति उदीरण समाप्त हुई । *(ध. पु. 15, पृ. 101)*

39. तिर्यग्गति नाम कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का उदीरक नियम से देवगति से लौटकर आया हुआ एकेन्द्रिय पर्याप्त अथवा देव गति व नरक गति से लौटकर आया हुआ गर्भोपक्रान्तिक तिर्यन्चयोनि वाला नपुंसक वेदी जीव होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 106)*

40. एक जीव की अपेक्षा काल - पाँच ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा कितने काल तक होती है ? वह जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त काल तक होती है इनकी अनुत्कृष्ट स्थिति उदीरणा का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्यात पुद्गल परिवर्तन स्वरूप अनन्त काल है, जैसे ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के काल का कथन किया गया वैसे ही सब ध्रुवोदयी प्रकृतियों की भी उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के काल का कथन करना चाहिये । पाँच दर्शनावरणीय की उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट स्थिति उदीरणा का काल जघन्य से 9 समय और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त है । विशेष इतना है कि इनकी उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा का काल एक आवली प्रमाण है क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के काल में निद्रा आदि पाँच दर्शनावरणीय प्रकृतियों का उदय सम्भव नहीं है । *(ध. पु. 15, पृ. 119)*

41. **शंका - तिर्यंचों में नीच गोत्र की ही उदीरणा होती है ऐसी प्ररूपणा सर्वत्र की गई है, परन्तु यहाँ उच्च गोत्र की भी उनमें प्ररूपणा की गई है, अतएव इससे पूर्वापर कथन में विरोध आता है ?**

समाधान - इसमें पूर्व पर विरोध नहीं है क्योंकि संयमासंयम को पालन करने वाले तिर्यंचों में उच्च गोत्र पाया जाता है । *(ध. पु. 15, पृ. 152)*

शंका - यदि उच्च गोत्र के कारण देश संयम और सकल संयम है तो फिर मिथ्यादृष्टियों में उसका अभाव होना चाहिये ?

समाधान - ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है क्योंकि उनमें भी उच्च गोत्र के निमित्त से उत्पन्न हुई संयम ग्रहण की योग्यता की अपेक्षा उच्च गोत्र के होने में कोई विरोध नहीं है ।

(ध. पु. 15, पृ. 152)

42. जिन कर्मों की उदीरणा में देशघातिपना और सर्वघातिपना सम्भव है । उन कर्मों की जघन्य उदीरणा नियम से देशघाति तथा अजघन्य उदीरणा देशघाती और सर्वघाती होती है । जिन कर्मों की उत्कृष्ट उदीरणा नियम से देशघाति होती है उन कर्मों की जघन्य और अजघन्य भी उदीरणा नियम से

देशघाति होती है । जिन कर्मों की उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भी उदीरणा सर्वघाती होती है उन कर्मों की जघन्य व अजघन्य भी उदीरणा सर्वघाती होती है । *(ध. पु. 15, पृ. 172)*

43. **शंका - परिणाम किसे कहते हैं ?**
समाधान - मिथ्यात्व असंयम एवं कषाय आदि को परिणाम कहा जाता है । *(ध. पु. 15, पृ. 172)*

44. वैक्रियक शरीर की उदीरणा देवों व नारकियों को भव प्रत्ययिक तथा तिर्यंच व मनुष्यों के परिणाम प्रत्यायिक होती है । आहार शरीर की उदीरणा परिणाम प्रत्ययिक होती है । तैजस व कार्माण शरीरों की उदीरणा देवों व नारकियों के भव प्रत्ययिक तथा तिर्यंचों और मनुष्यों के परिणाम प्रत्ययिक होती है । *(ध. पु. 15, पृ. 172)*

45. **शंका - गुण से क्या अभिप्राय है ?**
समाधान - गुण से अभिप्राय संयम और संयमासंयम का है । *(ध. पु. 15, पृ. 174)*

46. स्थान प्ररूपणा में अभिनिबोधिक ज्ञानावरणादि की उत्कृष्ट उदीरणा नियम से चतु:स्थानिक तथा अनुत्कृष्ट उदीरणा चतु:स्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एक स्थानिक होती है *(ध. पु. 15, पृ. 174)*

47. **शंका - सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?**
समाधान - वह अनन्तर समय में मिथ्यात्व को प्राप्त होने वाले ऐसे तत्प्रायोग्य संक्लेश को प्राप्त हुए सम्यग्दृष्टि जीव के होती है । *(ध. पु. 15, पृ. 177)*

शंका - सम्यक्त्व मिथ्यात्व की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह अनन्तर समय में मिथ्यात्व को प्राप्त होने वाले ऐसे तत्प्रायोग्य संक्लेश को प्राप्त हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के होती है ।

शंका - मिथ्यात्व व सोलह कषायों की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुए मिथ्यादृष्टि जीव के होती है ।
(ध. पु. 15, पृ. 177)

शंका - नपुंसक वेद, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह तैतीस सागरोपम प्रमाणआयु वाले नारक पर्याप्त जीव के होती है जो मध्यम परिणामों से युक्त होता हुआ तत्प्रायोग्य संक्लेश को प्राप्त है । *(ध. पु. 15, पृ. 177)*

शंका - हास्य व रति की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह तत्प्रायोग्य संक्लेश को प्राप्त हुए सहस्रार कल्प वासी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि देव के होती है । *(ध. पु. 15, पृ. 177)*

शंका - स्त्रीवेद और पुरुषवेद की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह आठ वर्ष प्रमाण आयु वाले अष्टवर्षीय सर्व संक्लिष्ट जीव के होती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 178)***

शंका - नरकायु की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुए 33 सागरोपम प्रमाण आयु वाले मिथ्यादृष्टि पर्याप्त नारकी जीव के होती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 178)***

शंका - मनुष्यायु और तिर्यंचायु की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह तीन पल्योपम प्रमाण आयु वाले पर्याप्त जीव के होती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 178)***

शंका - देवायु की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह 33 सागरोपम की आयु वाले पर्याप्त जीव के होती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 178)***

शंका - आहारक शरीर नामकर्म की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह आहारक शरीर को पूर्ण करने वाले संयत पर्याप्त के होती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 178)***

शंका - तैजस और कार्माण शरीरों की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह अन्तिम समयवर्ती संयोगी केवली के होती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 178)***

शंका - स्थावर नाम कर्म की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह जघन्य पर्याप्त निर्वृति से उत्पन्न तथा उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुए अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव के होती है ।

शंका - सूक्ष्म नामकर्म की उत्कृष्ट उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह जघन्य पर्याप्त निवृत्ति से उत्पन्न तथा उत्कृष्ट संक्लेश को प्राप्त हुए अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्याप्त सूक्ष्म जीव के होती है । ***(ध. पु. 15, पृ. 181)***

शंका - मनुष्यायु और तिर्यंच आयु की जघन्य उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह जघन्य अपर्याप्त निर्वृत्तियों में उत्पन्न और प्रथम-अप्रथम अथवा चरम अचरम समय में वर्तमान मनुष्य और तिर्यंच के होती है ।

शंका - देवायु की जघन्य उदीरणा किसके होती है ?
समाधान - वह दस हजार वर्ष की आयु स्थिति के साथ उत्पन्न हुए देव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में चरम समय में अथवा उनसे भिन्न किसी भी समय में स्थित रहने पर होती है। ***(ध. पु. 15, पृ. 185)***

48. **शंका - मिथ्यात्व की जघन्य हानि किसके होती है ?**
समाधान - जो अनन्तर काल में संयम का प्राप्त होने वाला है ऐसे अन्तिम समयवर्ती मिथयादृष्टि के मिथ्यात्व की जघन्य हानि होती है ।

शंका - उसकी जघन्य वृद्धि और अवस्थान किसके होता है ?
समाधान - तत्प्रायोग्य विशुद्ध व उदय की अपेक्षा अनन्त भाग वृद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त ऐसे अधः प्रवृत्त मिथ्यादृष्टि उसकी जघन्य वृद्धि होती है । उसी के अनन्तर काल में उसका जघन्य अवस्थान होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 245)*

49. **शंका - तीर्थंकर प्रकृति के जघन्य प्रदेश का उदीरक कौन होता है ?**
समाधान - प्रथम समयवर्ती केवली को आदि करके जब तक वह आवर्जित करण को नहीं करता है तब तक तीर्थंकर प्रकृति के जघन्य प्रदेश का उदीरक होता है *(ध. पु. 15, पृ. 259)*

50. **शंका - भुजाकार व अल्पतर उदीरकों की समानता किस कारण से कही जाती है ?**
समाधान - जितने जीव मिथ्यात्व से सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं, उतने ही जीव सम्यग्मिथ्यात्व से सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं । इस कारण भुजाकार उदीरकों से अल्पतर उदीरकों की समानता कही गई है । *(ध. पु. 15, पृ. 262)*

51. **शंका - आयु कर्मों के भुजाकार उदीरक बहुत किस कारण से हैं ?**
समाधान - जो जीव असाता रूप संक्लेश परिणाम से सहित होते हुए पर्याप्तियों से अपरिपूर्ण होते हैं उनमें अधिकतर जीव दुःखानुभव रूप असाता के उदय से संयुक्त होकर बढ़ते हैं अर्थात् आयु के भुजाकार को करते हैं तथा जो जीव साता रूप मध्यम विशुद्धि परिणामों से परिणत होते हुए अपर्याप्त होते हैं उनमें अधिकतर सुखानुभव रूप साता के उदय से संयुक्त होकर हीन होते हैं अर्थात् आयु के अल्पतर को करते हैं कुछ थोड़े से जीव संक्लेश परिणामों से परिणत होते हुए अपर्याप्त होकर बढ़ते हैं । अर्थात् भुजाकार को करते हैं इस कारण से आयु कर्मों को अल्पतर उदीरक स्तोक व भुजाकार उदीरक होते हैं । *(ध. पु. 15, पृ. 263)*

52. नो आगम भावोपशामना - जैसे कलह उपशान्त हो गया अथवा युद्ध उपशान्त हो गया । इत्यादि । *(ध. पु. 15, पृ. 275)*

53. उनमें से अप्रशस्तोपशामना में अर्थप्रद का कथन करते हैं । यथा - अप्रशस्तोपशामना के द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त होता है वह अपकर्षण के लिये भी शक्य है उत्कर्षण के लिये भी शक्य है तथा अन्य प्रकृति में संक्रमण कराने के लिये भी शक्य है । वह केवल उदयावली में प्रविष्ट कराने के लिये शक्य नहीं है । कहा भी है - जो कर्म उदय में नहीं दिया जा सकता है वह उपशान्त, जो संक्रमण व उदय दोनों में नहीं दिया जा सकता है वह निद्यता, तथा जो चारों (उदय, संक्रमण, अपकर्षण व उत्कर्षण) में नहीं दिया जा सके वह निकाचित कहा जाता है । *(ध. पु. 15, पृ. 276)*

54. विपरिणाम उपक्रम चार प्रकार का है - 1. प्रकृति विपरिणामना, 2. स्थिति विपरिणामना, 3. अनुभाग विपरिणामना और 4. प्रदेश विपरिणामना । *(ध. पु. 15, पृ. 282)*

प्रकृति विपरिणामना के दो भेद - 1. मूल प्रकृति विपरिणामना और 2. उत्तर प्रकृति विपरिणामना।

(1) मूल प्रकृति विपरिणामना के दो भेद - 1. देश विपरिणामना और 2. सर्व विपरिणामना।

देश विपरिणामना - जिन प्रकृतियों का अध: स्थिति गलन के द्वारा एक देश निर्जरा को प्राप्त होता है वद देश प्रकृति विपरिणामना कही जाती है । *(ध. पु. 15, पृ. 283)*

सर्व विपरिणामना - जो प्रकृति सर्व निर्जरा के द्वारा निर्जरा को प्राप्त होती है वह सर्व विपरिणामना कही जाती है । इस अर्थपद के अनुसार मूल प्रकृति विपरिणामना के स्वामित्व-काल-अन्तर-नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय, काल, अन्तर, संनिकर्ष और विपरिणामों के अल्प बहुत्व को भी ले जाना चाहिये ।

भुजाकार - पद निक्षेप और वृद्धि यहाँ नहीं है ।

उत्तर प्रकृति विपरिणामना के अर्थ पद - यथा - देश, निर्जरा या सर्व निर्जरा के द्वारा निर्जीण प्रकृति अथवा जो प्रकृति देश संक्रमण या सर्व संक्रमण के द्वारा अन्य प्रकृति में संक्रमण को प्राप्त करायी जाती है यह उत्तर प्रकृति विपरिणामना कहलाती है । इस अर्थपद के अनुसार स्वामित्व काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय, काल, अन्तर, संनिकर्ष और विपरिणामकों के अल्प बहुत्व को भी कहना चाहिये । भुजाकार-पद निक्षेप और वृद्धि यहाँ नहीं है तत्पश्चात् प्रकृति स्थान विपरिणामना की प्ररूपणा करनी चाहिये ।

स्थिति विपरिणामना में अर्थ पद - अपवर्तन मान, उद्वर्तमान अथवा अन्य प्रकृतियों में संक्रमण कराई जाने वाली स्थिति विपरिणामित (स्थिति विपरिणामना) कहलाती है । इस अर्थ पद के अनुसार जैसे स्थिति संक्रम किया गया है वैसे ही निर्विशेष स्वरूप से स्थिति विपरिणामना को भी करना चाहिये । *(ध. पु. 15, पृ. 283)*

अनुभाग विपरिणामना में अर्थपद, अपकर्षण प्राप्त, उत्कर्षण प्राप्त अथवा अन्य प्रकृति को प्राप्त कराया गया भी अनुभाग विपरिणामित होता है । इस अर्थ पद के अनुसार जैसे अनुभाग संक्रम किया गया है वैसे ही पूर्णतया अनुभाग विपरिणामना को कराना चाहिये *(ध.पु. 15, पृ. 284)*

प्रदेश विपरिणामना में अर्थपद -जो प्रदेशाग्र निर्जरा को प्राप्त हुआ है अथवा अन्य प्रकृति में संक्रमण को प्राप्त हुआ है वह प्रदेश विपरिणामना कही जाती है । इस अर्थपद के अनुसार जैसे प्रदेश संक्रम किया गया है वैसे ही प्रदेश विपरिणामना को करना चाहिये ।

विशेष इतना है कि जो प्रदेशाग्र उदय के द्वारा निर्जीवमाण है वह प्रदेश संक्रम से विपरिणामना में अधिक है । *(ध. पु. 15, पृ. 284)*

55. प्रथम समयवर्ती देव नियम सेसातावेदनीय हास्य और रति का वेदक होता है । तथा प्रथम समयवर्ती नारकी नियम से असातावेदनीय-अरति और शोक का वेदक होता है *(ध. पु. 15, पृ. 286)*

56. ज्ञानावरण का उत्कृष्ट स्थिति उदय एक समय कम दो आवलियों से हीन तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है । दर्शनावरण-वेदनीय और अन्तराय के स्थिति उदय का प्रमाण ज्ञानावरण के समान है । मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति उदय एक समय कम दो आवलियों से हीन सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है । आयु का उत्कृष्ट स्थिति उदय एक समय कम आवली से हीन तैतीस सागरोपम प्रमाण है । नाम व गोत्र का उत्कृष्ट स्थिति उदय एक समय दो आवलियों से हीन बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण मात्र है । *(ध. पु. 15, पृ. 290)*

57. जघन्य स्थिति उदय के स्वामित्व का कथन करते हैं ।

शंका - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरण और अन्तराय का जघन्य स्थिति उदय किसके होता है?
समाधान - वह अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ को आदि लेकर जिसके अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ होने में आवली मात्र काल तक शेष है उसके होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 290)*

शंका - मोहनीय का जघन्य स्थिति उदय किसके होती है ?
समाधान - वह अन्तिम समयवर्ती सकपाय जीव के तथा उसको आदि लेकर जिसके चरम समयवर्ती सकषाय होने में आवली मात्र काल तक शेष है उसके होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 290)*

शंका - नाम व गोत्र का जघन्य स्थिति उदय किसके होता है ?
समाधान - वह प्रथम समयवर्ती अयोगी के तथा उसको आदि करके चरम समयवर्ती भव्यसिद्धिक तक के होता है ।

शंका - आयु और वेदनीय का जघन्य स्थिति उदय किसके होता है ?
समाधान - वह प्रथम समयवर्ती अप्रमत्त के तथा उसको आदि लेकर के चरम समयवर्ती भव्य सिद्धिक तक के होता है ।

आयु का अन्य भी जघन्य स्थिति उदय उसके होता है जिसका आयुकर्म उदयावली में प्रविष्ट है ।

58. एक जीव की अपेक्षा काल की प्ररूपणा करते हैं । यथा - जैसे उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के काल की प्ररूपणा की गई है वैसे ही उत्कृष्ट स्थिति उदय के काल की भी प्ररूपणा करनी चाहिये । *(ध. पु. 15, पृ. 291)*

जघन्य स्थिति उदय की प्ररूपणा की जाती है । यथा -

नाम गोत्र और वेदनीय का जघन्य स्थिति उदय कितने काल रहताहै ? वह जघन्य व उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त रहता है । विशेष इतना है कि वेदनीय के जघन्य स्थिति उदय का काल जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से कुछ कम पूर्व कोटि मात्र है ।

आयुकर्म का जघन्य स्थिति उदय कितने काल रहता है ? वह जघन्य से एक आवली और उत्कर्ष से कुछ कम पूर्व कोटि मात्र रहता है । *(ध. पु. 15, पृ. 291)*

चारों ही घातिया कर्मों का जघन्य स्थिति उदय कितने काल रहता है ? वह जघन्य व उत्कर्ष से एक आवली मात्र रहता है । *(ध. पु. 15, पृ. 291)*

सात कर्मों के अजघन्य स्थिति उदय का काल अनादि अपर्यवसित व अनादि सपर्यवासित है । मोहनीय व वेदनीय की अपेक्षा वह सादि सपर्यवसित है । उसका जो सादि सपर्यवसित काल है उसका प्रमाण जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से उपार्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है । आयु की अजघन्य स्थिति का वेदक काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त अथवा एक समय और उत्कर्ष से आवली कम तैतीस सागरोपम मात्र है । *(ध. पु. 15, पृ. 291)*

59. एक जीव की अपेक्षा अन्तर का कथन करते हैं । यथा - जिस उत्कृष्ट स्थिति उदीरक के अन्तर की प्ररूपणा की गई है उसी प्रकार उत्कृष्ट स्थिति वेदक के अन्तर की भी प्ररूपणा करना चाहिये । आयुकर्म के जघन्य स्थिति वेदक का अन्तर जघन्य से आवली कम क्षुद्र भव ग्रहण अथवा एक समय और उत्कर्ष से आवली कम तैतीस सागरोपम मात्र होता है । पाँच कर्मों के जघन्य स्थिति वेदक का अन्तर नहीं होता मोहनीय और वेदनीय के जघन्य स्थिति वेदक का अन्तर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से उपार्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 291 व 292)*

60. नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय, काल, अन्तर और संनिकर्ष इन कथन अनुयोगद्वारों का जैसे उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा में किया गया है वैसे ही स्थिति उदय में भी करना चाहिये । इन्हीं का कथन जघन्य स्थिति उदय में किया जाता है । यथा पहले भंग विचय में अर्थपद बतलाते हैं । जो जीव जघन्य स्थिति का वेदक होता है वह अजघन्य स्थिति का नियम से अवेदक होता है, जो अजघन्य स्थिति का वेदक होता है वह जघन्य स्थिति का नियम से अवेदक होता है । जिन प्रकृतियों का वेदन करता है वे प्रकृत है, अवेदकों में व्यवहार नहीं है । इस अर्थपद के अनुसार आयु और वेदनीय की जघन्य स्थिति के वेदक नाना जीव नियम से हैं । शेष कर्मों की जघन्य स्थिति के कदाचित् सब जीव अवेदक, कदाचित बहुत अवेदक एक वेदक तथा कदाचित बहुत अवेदक बहुत वेदक इस प्रकार तीन भंग हैं । इनकी अजघन्य स्थिति के वेदकों के तीन भंग पूर्वोक्त भंगों की अपेक्षा विपरीत (कदाचित सब जीव वेदक, कदाचित बहुत वेदक व एक अवेदक तथा कदाचित बहुत वेदक और बहुत अवेदक भी) क्रम से कहने चाहिये । *(ध. पु. 15, पृ. 292)*

61. नाना जीवों की अपेक्षा काल आयु और वेदनीय की जघन्य स्थिति के वेदक कितने काल रहते हैं ? सर्वकाल रहते हैं । नाम व गोत्र कर्मों की जघन्य स्थिति के वेदक नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य व उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त काल तक रहते हैं । शेष कर्मों की जघन्य स्थिति के वेदक जघन्य से आवली मात्र अथवा उपशामक की अपेक्षा मोहनीय की उक्त स्थिति के वेदक जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त काल मात्र रहते हैं । आठों ही कर्मों सम्बन्धी अजघन्य स्थिति के वेदकों का काल नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है । *(ध. पु. 15, पृ. 292)*

62. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर-आयु और वेदनीय की जघन्य स्थिति के वेदकों का अन्तर नहीं होता । शेष कर्मों की जघन्य स्थिति के वेदकों का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से छह मास होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 293)*

63. सम्यक्त्वोत्पत्ति-श्रावक-विरत (संयम) - अनन्त कर्मांश (अनन्तानुबंधि विसंयोजक) दर्शन मोह क्षपक-कषायोपशामक-उपशान्त कषाय-क्षपक-क्षीणमोह और जिन इनके क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा होती है । किन्तु इन निर्जरा का काल संख्यात गुणित श्रेणी रूप से विपरीत है । जैसे - जिन भगवान की गुणश्रेणि निर्जरा का काल है उससे क्षीण मोह (कषाय) की गुणश्रेणि निर्जरा का काल संख्यात गुणा है । इत्यादि । *(ध. पु. 15, पृ. 296)*

64. जो गुण श्रेणियाँ अन्य भव में संक्रमण को प्राप्त होती है उनको बतलाते हैं । यथा - उपशान्त सम्यक्त्वगुण श्रेणि संयतासंयत गुण श्रेणि और अधः प्रमत्त गुणश्रेणि ये तीन गुणश्रेणियाँ अप्रशस्त मरण से भी मृत्यु को प्राप्त हुए जीव के परभव में दिखती है । शेष गुण श्रेणियों के क्षीण होने पर अप्रशस्त मरण होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 297)*

65. यथा - अभिनिबोधिक ज्ञानावरण के उत्कृष्ट प्रदेश का उदय किसके होता है ? जो गुणित कर्मांशित मनुष्य गर्भ से लेकर आठ वर्षों में संयम को प्राप्त हुआ है तथा उस अवस्था में अन्तर्मुहूर्त रहकर सर्वलघु काल में चारित्र मोहनीय के क्षपण में उद्यत हुआ है उस अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ के अभिनिबोधिक ज्ञानावरण के उत्कृष्ट प्रदेश का उदय होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 297)*

66. नरक गति नाम कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश उदय किसके होता है ? सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा गुणश्रेणि निर्जरा को करने वाला जो संयतासंयत जीव संयम को प्राप्त होकर संयम गुणश्रेणि निर्जरा को करने के लिये प्रवृत्त हुआ है, वहाँ अन्तर्मुहूर्त रहकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो नारकायु को बांधकर व सम्यक्त्व को ग्रहण कर पुनः दर्शन मोह का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त के ऊपर संयमासंयम-संयम और दर्शनमोह क्षपक गुण श्रेणियों से उदय में आने पर नारकियों में उत्पन्न हुआ है उसके नरक गति नाम कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश उदय होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 300)*

67. **उद्योत नाम कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश उदय** - जो संयत जीव उत्तर शरीर की विक्रिया करके अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त हुआ है उसके उसका उत्कृष्ट प्रदेश उदय होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 301)*

68. **आतप नाम कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश उदय** - जो गुणित कर्मांशिक मरण को प्राप्त होकर द्वीन्द्रियों में द्रीन्द्रियों के समान स्थिति सत्व को करके बादर पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न हुआ है उस प्रथम समयवर्ती पर्याप्त के उसका उत्कृष्ट प्रदेश उदय होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 301)*

69. **उच्छवास का उत्कृष्ट प्रदेश उदय** - अन्तिम समयवर्ती उच्छवास निरोधक के होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 302)*

70. **सुस्वर दुस्वर का उत्कृष्ट प्रदेश उदय** - अन्तिम समयवर्ती वचन योग निरोधक के होता है। *(ध. पु. 15, पृ. 302)*

71. **पांच अन्तराय कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेश उदय** - अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ के होता है ।

72. **तीर्थंकर नामकर्म का उत्कृष्ट प्रदेश उदय** - गुणित कर्मांशिक अन्तिम समयवर्ती भव्य सिद्धिक के होता है । *(ध. पु. 15, पृ. 304)*

73. **मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेश उदय** - उदीरणा उदय से ऊपर आंवली को प्राप्त हुए जीव के मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेश उदय होता है । ***(ध. पु. 15, पृ. 304)***

74. **भुजाकार प्रदेशोदय** - जो प्रदेशाग्र उदय को प्राप्त है उससे अनन्तर आगे के समय में बहुत प्रदेशाग्र के उदित होने पर यह भुजाकार प्रदेशोदय कहा जाता है ।

75. **अल्पतर प्रदेशोदय** - जो इस समय प्रदेशाग्र उदित है उससे अनन्तर आगे के समय में स्तोकतर प्रदेशाग्र को उदय प्राप्त होने पर यह अल्पतर प्रदेशोदय कहलाता है ***(ध. पु. 15, पृ. 325)***

76. **अवक्तव्य उदय** - अनन्तर बीते हुए समय में उदय के बिना इस समय उदय को प्राप्त होने पर यह अवक्तव्य उदय कहा जाता है । ***(ध. पु. 15, पृ. 325)***

77. **एक जीव की अपेक्षा काल की प्ररूपणा** - मतिज्ञानावरण का भुजाकार उदय - जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र रहता है । उसका अल्पतर उदय - जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र रहता है । उसका अवस्थित वेदक - जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से संख्यात समय मात्र रहता है ।

विशेष - श्रुतज्ञानावरण मन:पर्यय ज्ञानावरण अवधि ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण की प्ररूपणा मतिज्ञानावरण के समान है । ***(ध. पु. 15, पृ. 325)***

78. जो प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धी हैं उनके अवस्थित वेदक स्तोक है । अल्पतर वेदक अनन्तगुणे हैं । भुजाकार वेदक संख्यात गुणे हैं । ***(ध. पु. 15, पृ. 331)***

79. **पद निक्षेप की प्ररूपणा** - मतिज्ञानावरण की उत्कृष्ट वृद्धि - जो गुणित कर्मांशिक जीवअल्प सम्यक्त्व काल में और अल्प संयमकाल में शीघ्र ही अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ हुआ है, उस समय प्रथम समयवर्ती अवधि लब्धि युक्त अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ के मतिज्ञानावरण सम्बन्धी उत्कृष्ट प्रदेशोंदय वृद्धि होती है । इसका कारण यह है कि जो जीव अवुधि ज्ञान की वृद्धि के अभिमुख नहीं है उसके गुणश्रेणि रूप प्रदेश गुणकार की अपेक्षा तदभिमुख जीव का गुणश्रेणि रूप प्रदेश गुणकार असंख्यात गुणा है । ***(ध. पु. 15, पृ. 333)***

80. परन्तु हीयमान अवधि क्षयोपशम युक्त अवधि ज्ञानावरण और अवधि दर्शनावरण की उक्त गुणकार वृद्दि उससे असंख्यात गुणी है । इसी प्रकार (मतिज्ञानावरण के समान) श्रुत ज्ञानावरण-मन:पर्यय ज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण-चक्षुदर्शनावरण-अचक्षु दर्शनावरण और केवल दर्शनावरण की उत्कृष्ट वृद्धि के स्वामी का कथन करना चाहिये । ***(ध. पु. 15, पृ. 333)***

81. देवायु, नरकायु और तीर्थंकर प्रकृतियों को छोड़कर सभी कर्मों की जघन्य वृद्धि हानि और अवस्थान तुल्य हैं क्योंकि वे एक प्रदेश प्रमाण है । तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य हानि अध:प्रवृत्त केवली गुणश्रेणि शीर्षकों के उदय प्राप्त होने पर होती है । उसकी जघन्य वृद्धि द्वितीय समयवर्ती केवली की होती है । इस कारण उसकी हानि स्तोक है और जघन्य वृद्धि उससे असंख्यात गुणी है । उसका जघन्य व उत्कृष्ट अवस्थान नही है । तीर्थंकर प्रकृति की जघन्य हानि स्तोक है । उत्कृष्ट हानि विशेष अधिक है । जघन्य वृद्धि असंख्यात गुणी है, उत्कृष्ट वृद्धि असंख्यात गुणी है । इस प्रकार पद निक्षेप समाप्त हुआ ***(ध. पु. 15, पृ. 336)***

* * *

धवल पुस्तक 16.

1. **प्रकृति मोक्ष** - जो प्रकृति निर्जरा को प्राप्त होती है अथवा अन्य प्रकृति में सक्रान्त होती है यह प्रकृति मोक्ष कहलाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 337)*

2. **स्थिति मोक्ष** - अपकर्षण को प्राप्त हुई, उत्कर्षण को प्राप्त हुई, अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त हुई और अधः स्थिति के गलने से निर्जरा को भी प्राप्त हुई स्थिति का नाम 'स्थिति मोक्ष' है ।

3. **अनुभाग मोक्ष** - अपकर्षण को प्राप्त हुआ, उत्कर्षण को प्राप्त हुआ, अन्य प्रकृति में संक्रान्त हुआ और अधः स्थिति गलन के द्वारा निर्जरा को भी प्राप्त हुए अनुभाग को अनुभाग मोक्ष कहते हैं । *(ध. पु. 16, पृ. 338)*

4. **प्रदेश मोक्ष** - अधः स्थिति गलन के द्वारा जो प्रदेशों की निर्जरा और अन्य प्रदेशों का अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है उसे प्रदेश मोक्ष कहा जाता है । इसको भी उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य और अजघन्य के भेद से ले जाना चाहिये । *(ध. पु. 16, पृ. 338)*

5. **नो आगम द्रव्य मोक्ष** - मोक्ष कारण और मुक्त के भेद से तीन प्रकार का है ।

   (1) **मोक्ष** - जीव और कर्म का पृथक होना मोक्ष है ।

   (2) **मोक्ष कारण** - ज्ञान दर्शन और चारित्र ये मोक्ष के कारण हैं ।

   (3) **मुक्त** - समस्त कर्मों से रहित अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख और सम्यक्त्व आदिगुण गणों से परिपूर्ण निरामय निरंजन नित्य और कृत्कृत्य जीव को मुक्त कहा जाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 338)*

6. संक्रम इस अनुयोग द्वार में संक्रम का निक्षेप किया जाता है वह निम्न प्रकार है -

   (1) **नाम कर्म** - 'संक्रम' यह शब्द नाम संक्रम है ।

   (2) **स्थापना** - 'वह यह है' इस प्रकार अन्य के स्वरूप को बुद्धि में स्थापित करना, यह स्थापना संक्रम है ।

   (3) **द्रव्य संक्रम** - दो प्रकार का है - 1. आगम द्रव्य संक्रम, 2. नो आगम द्रव्य संक्रम। इसमें आगम द्रव्य संक्रम सुगम है । नो आगम द्रव्य संक्रम - ज्ञायक शरीर, भव्य और तद्व्यतिरिक्त द्रव्य संक्रम भेद से 3 प्रकार का है । इनमें ज्ञायक शरीर और भव्य द्रव्य संक्रम सुगम है । तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य संक्रम दो प्रकार का है - नो कर्म संक्रम और कर्म संक्रम । नो कर्म संक्रम - जैसे मिट्टी का घट स्वरपू से परिणमन । (कर्म संक्रम अभी स्थगित किया गया है)

   (4) **क्षेत्र संक्रम** - एक क्षेत्र के क्षेत्रतर को प्राप्त होने का नाम क्षेत्र संक्रम है । *(ध. पु. 16, पृ. 339)*

शंका - क्षेत्र तो क्रिया से रहित है फिर उसका क्षेत्रान्तर में गमन कैसे सम्भव है ?
समाधान - नहीं, क्योंकि आधेय के आधार पर उपचार करने से सक्रिय जीव और पुद्गलों की क्षेत्र संज्ञा सम्भव है और उनका संक्रम पाया ही जाता है । दूसरे क्षेत्र के संक्रम का व्यवहार अप्रसिद्ध भी नहीं है क्योंकि उर्ध्व लोक संक्रान्त हुआ ऐसा व्यवहार पाया जाता है ।
(ध. पु. 16, पृ. 339)

(5) **काल संक्रम** - अपूर्व काल के प्रादुर्भाव का नाम काल संक्रम है, यह असिद्ध भी नहीं है क्योंकि हेमन्त ऋतु संक्रान्त हुई ऐसा व्यवहार पाया जाता है *(ध. पु. 16, पृ. 340)*

शंका - उत्पन्न का नाम संक्रम कैसे हो सकता है ?
समाधान - नहीं, क्योंकि उपचार से काल संज्ञा को प्राप्त हुए पुद्गलों के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य के एकान्तत: उत्पाद का अभाव है । अथवा एक क्षेत्र में स्थित द्रव्य के क्षेत्रान्तर में गमन का क्षेत्र संक्रम, एक काल में स्थित द्रव्य के कालान्तर में गमन को काल संक्रम और क्रोधादिक एक किसी भाव में स्थित द्रव्य के भावान्तर को भाव संक्रम समझना चाहिये ।

7. उनमें यहाँ कर्म संक्रम प्रकृत है । वह चार प्रकार का है - प्रकृति संक्रम, स्थिति संक्रम, अनुभाग संक्रम और प्रदेश संक्रम । इनमें से प्रकृति संक्रम के विषय मे अर्थपद का कथन करते हैं ।

8. प्रकृति संक्रम - जो एक प्रकृति अन्य प्रकृति स्वरूपता को प्राप्त कराई जाती है वह प्रकृति संक्रम कहलाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 340)*

9. इस अर्थ पद के अनुसार संक्रम का अर्थ करने पर मूल प्रकृति संक्रम सम्भव नहीं है । क्योंकि ऐसा स्वभाव है । उत्तर प्रकृति संक्रम में स्वामित्व की प्ररूपणा की जाती है *(ध. पु. 16, पृ. 340)*

10. बन्ध के होने पर संक्रम सम्भव है । बन्ध के अभाव में वह सम्भव नही है क्योंकि ऐसा स्वभाव है । *(ध. पु. 16, पृ. 340)*

11. पाँच ज्ञानावरणीय प्रकृतियों का संक्रामक उनका संक्रामक अन्यतर सकषाय जीव होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 340)*

12. नौ दर्शनावरणी और पाँच अन्तराय के संक्रमण की प्ररूपणा ज्ञानावरण के समन है । *(ध. पु. 16, पृ. 340)*

13. **साता वेदनीय का संक्रामक** - जो असाता का बन्धक है वह साता का संक्रामक होता है ।

14. **असाता का संक्रामक** - जो सकषाय जीव साता का बन्धक होता है *(ध. पु. 16, पृ. 340)*

15. दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीय में और चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय में संक्रान्त नहीं होती क्योंकि ऐसा स्वभाव है ।

16. सम्यग्मिथ्या दृष्टि जीव दर्शन मोहनीय का असंक्रामक होता है, इसी प्रकार सासादन सम्यग्दृष्टि भी दर्शन, मोह का असंक्रामक होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 341)*

17. सम्यक्त्व प्रकृति का संक्रामक जीव नियम से मिथ्या दृष्टि जीव होता है जिससे कि उसका सकर्म आवली के बाहर होता है ।

18. मिथ्यात्व का संक्रामक सम्यग्दृष्टि होता है जिसके मिथ्यात्व का सत्कर्म आवली के बाहर होता है।

19. सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रामक सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि होता है जिसके उसका सत्कर्म आवली के बाहर होता है ।

20. बारह कषायों के संक्रमण की प्ररूपणा ज्ञानावरण के समान है ।

21. स्त्रीवेद के अनुपशान्त रहने के अन्तिम समय तक अथवा उसके अक्षीण रहने के अन्तिम समय तक जीव स्त्रीवेद का संक्रामक होता है ।

22. नपुंसक वेद का संक्रमण की प्ररूपणा स्त्रीवेद के समान है ।

23. पुरुष वेद के उपशान्त होन के प्रथम समय तक अथवा उसके अक्षीण रहने के अन्तिम समय तक जीव उसका संक्रामक होता है ।

24. तीन संज्वलनों के संक्रमण की प्ररूपणा पुरुषवेद के समान है ।

25. **संज्वलन लोभ का संक्रामक** - संज्वलन लोभ का उपशामक और क्षपक जीव अन्तर न किये जाने के अन्तिम समय तक होते हैं । अक्षपक व अनुपशामक जीव भी उसके संक्रामक होते हैं । ***(ध. पु. 16, पृ. 341)***

26. चार आयु कर्म का संक्रामक (संक्रम) नहीं होता, क्योंकि ऐसा स्वभाव है । यश कीर्ति को छोड़कर शेष सभी नाम प्रकृतियों का तब तक संक्रम होता है, जब तक कि जीव सकषाय है और जब तक उनका सत्कर्म आवली के बाहर रहता है । यश कीर्ति का संक्रामक तब तक होता है जब तक कि परभविक नाम प्रकृतियों को बांधता है जो नीच गोत्र का बन्धक होता है वह उच्च गोत्र का संक्रमक तब तक होता है जब तक उसका आवली के बाहर सत्कर्म रहता है । जो सकषाय जीव उच्च गोत्र का बन्धक होता है । वह नीच गोत्र का संक्रामक होता है ।
(ध. पु. 16, पृ. 342)

27. स्थिति संक्रम - अपकर्षण प्राप्त स्थिति को स्थिति संक्रम कहा जाता है तथा उत्कर्ष प्राप्त और अन्य प्रकृति को प्राप्त कराई गई भी स्थिति को स्थिति संक्रम कहते हैं ***(ध. पु. 16, पृ. 347)***

28. उत्कर्षण कैसे होता है ? उदयावली के भीतर की स्थिति उत्कर्षण को प्राप्त नहीं कराई जा सकती है क्योंकि ऐसा स्वभाव है एक समय अधिक उदयावली आदि रूप स्थिति का उत्कर्षण किया जा सकता है । उस उत्कर्षण को प्राप्त करायी जाने वाली स्थिति का भी निक्षेप अबध्य मान स्थितियों में नहीं किया जाता है किन्तु बध्यमान स्थितियों में जघन्य स्थिति को आदि करके आगे की सब स्थितियों में किया जाता है । यह विधान उत्कर्षण को प्राप्त करायी जाने वाली अधस्तन स्थितियों के लिये है । ***(ध. पु. 16, पृ. 348)***

29. अब उपरिय स्थितियों के उत्कर्षण विधान कहते हैं । यथा-स्थिति सत्कर्म से समयाधिक स्थिति को बाधने वाले के जो पूर्वबद्ध कर्म की चरम स्थिति है उसका उत्कर्षण नहीं किया जाता है । द्विचरम स्थिति का भी उत्कर्षण नहीं किया जाता है । इस प्रकार एक आवली और अन्य आवली के असंख्यातवें भाग नीचे आने तक ले जाना चाहिये । उसे नीचे की जो अधस्तन अनन्तर स्थिति है उसका उत्कर्षण किया जाता है । उत्कर्षण को प्राप्त करायी जाने वाली उक्त स्थिति की अति स्थापना आवली प्रमाण और निक्षेप आंवली के असंख्यातवें भाग मात्र होता है । उत्कर्षण को प्राप्त कराई जाने वाली स्थितियों का जघन्य निक्षेप स्तोक है । जघन्य अति स्थापना एक आवली मात्र होकर उससे असंख्यात गुणी है । उत्कृष्ट अति स्थापना संख्यात गुणी है । उत्कृष्ट निक्षेप असंख्यात गुणा है । क्योंकि वह उत्कृष्ट अबाधा और एक समय अधिक आवली से हीन कर्म स्थिति प्रमाण है । ***(ध. पु. 16, पृ. 349)***

30. जिसके अन्तिम समयवर्ती तद्भवस्थ होने में एक समय अधिक आवली मात्र शेष है उस जीव के आयु कर्मों का जघन्य स्थिति संक्रम होता है । ***(ध. पु. 16, पृ. 354)***

31. आहारक शरीर - आहारक शरीर आंगोपांग-आहारक शरीर बन्धन-आहारक शरीर संघात की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रामक का अन्तर काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से उपार्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है ।

32. तीर्थंकर नाम कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रामक का अंन्तर काल सम्भव नहीं है । ***(ध. पु. 16, पृ. 360)***

33. यहाँ भुजाकार संक्रम में अर्थपद को कह करके ग्रहण करना चाहिये । पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, सातावेदनीय, असातावेदनीय और मोहनीय कर्मों का भुजाकार अल्पतर और अवस्थित संक्रम होता है । अवक्तव्य संक्रम नहीं होता, विशेष इतना है कि अनन्तानुबन्धी-सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-बारह कषाय और नौ कषाय इनका अवक्त्वय संक्रम होता है । ***(ध. पु. 16, पृ. 369)***

34. **मतिज्ञानावरण का उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम** - जो उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर एक आंवली को बिता चुका है वह ऐकेन्द्रिय हो चाहे अनेकेन्द्रिय हो, बादर हो अथवा सूक्ष्म हो, पर्याप्त हो अथवा अपर्याप्त हो नियम से मिथ्यादृष्टि हो तथा असंख्यात वर्षायुष्क मनुष्यों में, तिर्यंचों में और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले देवों (आनतादिक) को छोड़कर जो अन्य हो उसके मतिज्ञानावरण का उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम होता है । इसी प्रकार शेष चार ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, असाता वेदनीय, अप्रशस्त नाम प्रकृतियों, नीच गोत्र और पाँच अन्तराय प्रकृतियों के भी उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम का कथन करना चाहिये । ***(ध. पु. 16, पृ. 378)***

35. यहाँ भुजाकार संक्रम में अर्थपद की प्ररूपणा की जाती है । यथा - अनुभाग के जो स्पर्धक इस समय संक्रमण को प्राप्त कराये जाते हैं वे यदि अनन्तर बीते हुए समय में संक्रामित अनुभाग स्पर्धकों की अपेक्षा बहुत है तो वह भुजाकार संक्रम कहलाता है ।

36. **अल्पतर संक्रम** - परन्तु यदि इस समय में संक्रमण को प्राप्त कराये जाने वाले वे ही अनुभाग स्पर्धक बीते हुए समय में संक्रामिक स्पर्धकों की अपेक्षा स्तोक है तो यह अल्पतर संक्रम कहा जाता है ।

37. **अवस्थित संक्रम** - यदि दोनों ही समयों में उतना-उतना मात्र ही अनुभाग स्पर्धकों का संक्रम होता है तो यह अवस्थित संक्रम कहलाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 398)*

38. **अवक्तव्य संक्रम** - पूर्व में असंक्रामक होकर संक्रम करना इसे अवक्तव्य संक्रम कहा जाता है ।

39. इस अर्थपद के अनुसार स्वामित्व का कथन करते हैं -

मतिज्ञानावरण का भुजाकार संक्रम - जो जीव सत्कर्म से कम अथवा उसके बराबर ही अनुभाग को बांधता हुआ स्थित है वह उससे अधिक अनुभाग को बांधकर व बन्धावली को बिताकर जब उसको संक्रान्त कर रहा हो तब उसके मतिज्ञानावरण का भुजाकार संक्रम होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 398)*

अल्पतर संक्रम अनुभाग कांडक घात के बिना नहीं होता, जो उत्कीर्ण किये जाने वाले अनुभाग काण्डक को उत्कीर्ण कर चुका है वह अनन्तर समय में उसका अल्पतर संक्रमक होता है ।

अवस्थित संक्रामक - भुजाकार अल्पतर और अवक्तव्य संक्रामक से भिन्न जीव अवस्थित संक्रामक होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 398)*

शेष चार ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, सातावेदनीय, असातावेदनीय और मिथ्यात्व की प्ररूपणा मतिज्ञानावरण के समान है । इसी प्रकार सोलह कषाय और नौ नो कषाय के सम्बन्ध में कहना चाहिये विशेष इतना है कि यहाँ अवक्तव्य भी संक्रामक होता है ।

40. सम्यक्त्व और सम्यमिथ्यात्व का अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य संक्रम होता है, उनका भुजाकार संक्रम नहीं होता । *(ध. पु. 16, पृ. 398)*

41. चार आयुकर्मों का, सादि सत्कर्मिक नाम प्रकृतियों और उच्च गोत्र की प्ररूपणा ज्ञानावरण के समान है विशेष इतना है कि इनका अवक्तव्य संक्रम भी होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 398)*

42. तीर्थंकर नाम कर्म का भुजगार, अवस्थित और अवक्तव्य संक्रम होता है किन्तु उसका अल्पतर संक्रामक नहीं होता । *(ध. पु. 16, पृ. 399)*

अनादि सकर्मिक नाम प्रकृतियों-नीच गोत्र और पांच अन्तराय की प्ररूपणा ज्ञानावरण के समान है । *(ध. पु. 16, पृ. 399)*

43. संक्रम स्थानों की प्ररूपणा सत्कर्म स्थानों के समान है । प्रदेश संक्रम में अर्थपद, जो प्रदेशाग्र अन्य प्रकृति में संक्रान्त किया जाता है इसका नाम प्रदेश संक्रम है ।*(ध. पु. 16, पृ. 408)*

44. **अधःप्रवृत्त संक्रम** - बन्ध के होने पर अधः प्रवृत्त संक्रम होता है ।

45. **विध्यात संक्रम** - अबन्ध अवस्था में अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त विध्यात संक्रम होता है ।

46. यहाँ से (अप्रमत्त गुणस्थान में) आगे के गुणस्थानों में बन्ध रहित अप्रशस्त प्रकृतियों का गुण संक्रम और सर्व संक्रम भी होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 409)*

47. **'वंधे अधापवत्तो'** का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाते हैं कि जिन प्रकृतियों का बन्ध सम्भव है वहाँ उन प्रकृतियों के बन्ध के होने पर और उसके न होने पर भी अध:प्रवृत्त संक्रम होता है । यह नियम बन्ध प्रकृतियों के लिये है । अबन्ध प्रकृतियों के लिये नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो अबन्ध प्रकृतियों में भी अध:प्रवृत्त संक्रम पाया जाता है । **'विज्झाद अबंधे'** का अर्थ करते हुए कहते हैं कि जिन प्रकृतियों का जहाँ नियम से बन्ध सम्भव नहीं हैं वहाँ उन प्रकृतियों का विध्यात संक्रम होता है । यह भी नियम मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक ही ध्रुव स्वरूप है । 'गुण संक्रमोदु एत्तो' अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में बन्ध रहित प्रकृतियों का गुण संक्रम और सर्वसंक्रम भी होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 409)*

48. प्रतिग्रह (जिनमें विवक्षित प्रकृतियाँ संक्रान्त नहीं होती हैं) प्रकृतियों का यहाँ अभाव है । *(ध. पु. 16, पृ. 411)*

49. संज्वलन लोभ का एक अध: प्रवृत संक्रम ही होता है, क्योंकि बन्ध के होने की अवस्था में ही आनुपूर्वी संक्रम (संज्वलन क्रोध का संज्वलनमान आदि में, संज्वलन मान का संज्वलन माया आदि में इत्यादि) वश उनका संक्रम नष्ट हो जाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 411)*

50. बन्ध प्रकृतियों में जो प्रदेशाग्र दिया जाता है वह स्तोक है । स्वस्थान में जो प्रदेशाग्र दिया जाता है वह असंख्यात गुणा है । जो प्रदेशाग्र स्वस्थान में दिया जाता है वह गुण श्रेणि क्रम से दिया जाता है और जो प्रदेशाग्र पर स्थान में दिया जाता है वह विशेष हानि के क्रम से दिया जाता है यह विधि प्रथम स्थिति काण्डक की है । जो विधि प्रथम स्थिति काण्डक की कही गई है वह विधि द्वितिय काण्डक से लेकर द्विचरम काण्डक तक सब काण्डकों की कहना चाहिये । अन्तिम स्थिति काण्डक काण्डक का प्रमाण पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है उसका सब प्रदेशाग्र असंख्यात गुणश्रेणि से परस्थान में ही दिया जाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 419)*

51. चारों ही आयु कर्मों का प्रदेश संक्रम नहीं होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 427)*

52. जिस गुणित कर्मांशिक जीव ने चिर संचित इन चार (आहारक) प्रकृतियों के साथ चार बार कषायों का उपशम किया है तत्पश्चात् जो क्षपण में उद्यत हुआ है उसके परभविक नामकर्मों की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाने के पश्चात् आवली मात्र काल के बीतने पर उक्त चार प्रकृतियों का (आहारक शरीर, आहारक शरीरांगोपाग, आहारक शरीर बन्धन, आहारक शरीर संघात) उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 429)*

53. अब यहाँ भुजाकार संक्रम का कथन करते हैं - भुजाकार के विषय में अर्थपद करके स्वामित्व की प्ररूपणा की जाती है । यथा - मतिज्ञानावरण का भुजाकार, अल्पतर और अवस्थित संक्रामक अन्यतर जीव होता है । अवक्तव्य संक्रमक परिपतमान अर्थात् उपशम श्रेणि से गिरने वाला अन्यतर उपशान्त कषाय होता है ।

शेष चार ज्ञानावरणी, नौदर्शनावरणी, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद और पाँच अन्तराय इनकी सम्यग्दृष्टियों एवं मिथ्यादृष्टियों में तथा ध्रुव बन्धी नाम प्रकृतियों की भी यह प्ररूपणा मतिज्ञानावरण के समान है । साता व असाता वदेनीय, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद, उच्च गोत्र, नीच गोत्र और परिवर्तमान नाम प्रकृतियों की भी प्रकृत प्ररूपणा इसी प्रकार ही है । विशेषता इतनी है कि इनका अवस्थित संक्रम नहीं होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 454)*

54. सम्यक्त्व प्रकृति की उत्कृष्ट वृद्धि स्तोक है, क्योंकि वह उद्वेलन काण्डक के अन्तिम समय में होती है । उत्कृष्ट हानि असंख्यात गुणी है क्योंकि वह द्वितीय समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के होती है । अवस्था नहीं है । *(ध. पु. 16, पृ. 478)*

55. लेश्या निक्षेप इस प्रकार है - नामलेश्या, स्थापना लेश्या, द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या इस प्रकार लेश्या चार प्रकार कही गई है । उनमें 'लेश्या' यह शब्द लेश्या है । सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना के रूप से लेश्या की जो स्थापना की जाती है वह स्थापना लेश्या है । द्रव्यलेश्या दो प्रकार की है - 1. आगम द्रव्य लेश्या और 2. नो आगम द्रव्य लेश्या । आगम लेश्या सुगम है । नो आगम द्रव्य लेश्या - ज्ञायक, भावी और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार की है।

नो आगम द्रव्य लेश्या - चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल स्कन्धों के वर्ण को तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य लेश्या कहते हैं । वह छह प्रकार की है - कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या ।

(1) **कृष्ण लेश्या** - भ्रमर, अंगार और कज्जल आदि के होती है ।

(2) **नील लेश्या** - नीम, कदली और दाव के पत्तों आदि के होती है ।

(3) **कापोत लेश्या** - छार, खर और कबूतर आदि के जानना चाहिये ।

(4) **तेज (पीत) लेश्या** - कुमकुम, जया कुसुम और कसूम कुसुम आदि की जाननी चाहिये।

(5) **पद्म लेश्या** - तडबड़ा और पद्म पुष्पादिकों के होतीहै ।

(6) **शुक्ल लेश्या** - हंस और बलाका आदि के कही गई है । *(ध. पु. 16, पृ. 484)*

भाव लेश्या - आगम और नो आगम के भेद से दो प्रकार की है । आगम भाव लेश्या सुगम है । नो आगम भाव लेश्या - कर्म पुद्गलों के ग्रहण में कारणभूत जो मिथ्यात्व-असंयम और कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति होती है उसे नो आगम भाव लेश्या कहते हैं। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व असंयम और कषाय से उत्पन्न संसार का नाम नो आगम भाव लेश्या है । *(ध. पु. 16, पृ. 485)*

यहाँ नैगमनय के कथन की अपेक्षा नो आगम द्रव्य लेश्या और भावलेश्या प्रकृत है । द्रव्य लेश्या-जीवों के द्वारा अप्रतिगृहीत पुद्गल स्कन्धों की कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल संज्ञा वाली छह लेश्यायें होती हैं । *(ध. पु. 16, पृ. 485)*

56. **शंका - अनन्त भाग वृद्धि आदि से लेकर अनन्तगुण वृद्धि पर्यन्त क्रम से असंख्यात लोक प्रमाण वर्णों के भेद से पुद्गलों के स्थित रहने पर 'छह ही लेश्यायें हैं' ऐसा नियम किसलिये किया जाता है ?**

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से लेश्यायें असंख्यात लोकमात्र हैं परन्तु द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से वे लेश्यायें छह ही होती हैं ।

57. शरीर का आश्रय करके इन छहों लेश्याओं की प्ररूपणा करते हैं -

(1) तिर्यंच योनि वाले जीवों के शरीर छहों लेश्या वाले होते हैं, कितने कृष्ण लेश्या व कितने ही नील लेश्यादि वाले होते हैं । इस प्रकार छहों लेश्या वाले जानने ।

(ध. पु. 16, पृ. 485)

(2) तिर्यंच योनि मतियों, मनुष्यों और मनुष्यनियों के भी छहों लेश्यायें होती है ।

(3) देवों के शरीर मूल निर्वतना की अपेक्षा तेज पद्म और शुक्ल इन तीन लेश्याओं से युक्त है । परन्तु उत्तर निर्वर्तना की अपेक्षा उनके शरीर छहों लेश्याओं से संयुक्त होते हैं ।

(4) देवियों के शरीर मूल निर्वर्तना की अपेक्षा तेज लेश्या से संयुक्त होते हैं किन्तु उत्तर निर्वतना की अपेक्षा वे छहों लेश्याओं में किसी भी लेश्या से संयुक्त होते हैं ।

(5) नारकियों के शरीर कृष्ण लेश्या से युक्त होते हैं ।

(6) पृथ्वीकायिकों के शरीर छहों लेश्याओं में से किसी भी लेश्या से संयुक्त होते हैं ।

(7) अप्कायिक जीवों के शरीर शुक्ल लेश्या वाले होते हैं ।

(8) अग्निकायिक जीवों के शरीर तेज लेश्याओं से युक्त होते हैं ।

(9) वायुकायिकों के शरीर कापोत लेश्या वाले होते हैं ।

(10) वनस्पति कायिकों के शरीर छहों लेश्या वाले होते हैं ।

(11) सब सूक्ष्म जीवों के शरीर कापोत लेश्या से संयुक्त होते हैं । बादर अपर्याप्तकों के शरीर बादर पर्याप्तकों के समान है । औदारिक शरीर छह लेश्या से युक्त होते हैं । वैक्रियक शरीर मूल निर्वर्तना की अपेक्षा कृष्ण, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले होते हैं । तैजस शरीर तेज लेश्या वाला व कार्माण शरीर शुक्ल लेश्या वाला होता है । *(ध. पु. 16, पृ. 486)*

58. **शंका - शरीर तो सब वर्ण वाले पुद्गलों से संयुक्त होते हैं फिर इस शरीर को यही लेश्या होती है । ऐसा नियम कैसे हो सकता है ?**

समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि उत्कृष्ट वर्ण की अपेक्षा वैसा निर्देश किया गया है। यथा जिस शरीर में श्याम वर्ण की उत्कृष्टता है वह कृष्ण लेश्या वाला, जिसमें नील वर्ण की प्रधानता है वह नील लेश्या वाला, लोहित वर्ण की प्रधानता युक्त जो शरीर वह तेजोलेश्या वाला, हरिद्रा वर्ण की उत्कर्षता युक्त शरीर पदम लेश्या वाला, तथा शुक्ल वर्ण की प्रधानता युक्त शरीर

शुक्ल लेश्या वाला कहा जाता है । इन वर्णों को छोड़कर वर्णान्तर को प्राप्त हुए शरीर को कापोत लेश्या वाला समझना चाहिये ।

अब चक्षु से ग्रहण किये जाने वाले लेश्या युक्त द्रव्य के गुणों के अल्प बहुत्व को बतलाते हैं। यथा - कृष्ण लेश्या युक्त द्रव्य के शुक्ल गुण स्तोक, हारिद्र गुण अनन्त गुणे, लोहित गुण अनन्त गुणे, नील गुण अनन्त गुणे और श्याम गुण अनन्त गुणे होते हैं । **इसी प्रकार नीलादि लेश्या के गुणों के लिये देखें - ध.पु. 16, पृ. 487.**

59. **भाव लेश्या** - मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से उत्पन्न हुए जीव के संस्कार को भावलेश्या कहते हैं । *(ध. पु. 16, पृ. 488)*

उनमें जो तीव्र संस्कार हैं उसे कापोत लेश्या, उससे जो तीव्रतर संस्कार हैं उसे नीललेश्या और जो तीव्रतम संस्कार है उसे कृष्णलेश्या कहा जाता है । जो मन्द संस्कार है वह तेज लेश्या, जो मन्दतर संस्कार है वह पद्मलेश्या और जो मन्दतम संस्कार है वह पद्मलेश्या और जो मन्दतम संस्कार है उसे शुक्ल लेश्या कहते हैं । *(ध. पु. 16, पृ. 488)*

60. लेश्यायें कृष्णादिक हैं उनका कर्म जो मारण, विदारण और चोरी आदिक क्रिया विशेष रूप है वह लेश्या कर्म कहलाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 490)*

61. **शंका - षट् स्थान पतित का क्या स्वरूप है ?**
समाधान - जिस स्थान से संक्लेश को प्राप्त हुआ है उस स्थान से अनन्त भाग अधिक, असंख्यात भाग अधिक, संख्यात भाग अधिक, संख्यात गुणी अधिक, असंख्यात गुणी अधिक और अनन्त गुणी अधिक लेश्या का होना नाम षट् स्थान पतित है । *(ध. पु. 16, पृ. 493)*

62. **एकान्त सात** - सातास्वरूप से बांधा गया जो कर्म संक्षेप व प्रतिक्षेप से रहित होकर साता स्वरूप से वेदा जाता है उसका नाम एकान्त सात है । *(ध. पु. 16, पृ. 498)*

63. **अनेकान्त सात** - एकान्त सात से विपरीत अनेकान्त सात है ।

64. **एकान्त असात** - जो कर्म असाता रूप से बांधा जाकर संक्षेप व प्रतिक्षेप से रहित होकर असाता स्वरूप से वेदा जाता है उसका नाम एकान्त असात है । *(ध. पु. 16, पृ. 498)*

65. अनेकान्त असात - एकान्त असात से विपरीत अनेकान्त असात है । *(ध. पु. 16, पृ. 498)*

66. उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट - जघन्य और अजघन्य रूप सेएकान्त सात आदि होते हैं इनके स्वामित्व विशेष के लिए देखे ध. पु. 16, पृ. 499 पर ।

67. विपच्चित में अल्प बहुत्व किस प्रकार है ? विप्पचित अल्प बहुत्व देखे । *(ध. पु. 16, पृ. 503)*

68. विपच्चित किसे कहते हैं ? नरक गति में उत्पन्न हुआ जो नरक गति में ही विपाक को प्राप्त होता है उसका नाम विपच्चित है । *(ध. पु. 16, पृ. 503)*

69. आयुकर्म के बन्ध और उदय की अपेक्षा प्रकृति दीर्घ नहीं है किन्तु सत्व की अपेक्षा है क्योंकि परभविक आयु का बन्ध होने पर दो आयु प्रकृतियों का सत्व देखा जाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 508)*

70. स्थिति दीर्घ दो प्रकार है मूल प्रकृति स्थिति दीर्घ और उत्तर प्रकृति स्थिति दीर्घ । उनमें मूल प्रकृति स्थिति दीर्घ की प्ररूपणा करते हैं ।

(1) **ज्ञानावरण** - दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति को बांधने वाले के स्थिति दीर्घ है । उससे कम स्थिति को बांधने वाले के नो स्थिति दीर्घ है ।

(2) मोहनीय की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम स्थिति बांधने वाले के स्थिति दीर्घ है और उससे कम बांधने वाले के नो स्थिति दीर्घ है ।

(3) आयु को तैतीस सागरोपम स्थिति को बांधने वाले के स्थिति दीर्घ है और उससे कम स्थिति को बांधने वाले के नो स्थिति दीर्घ है ।

(4) नाम व गोत्र की बीस कोडा कोडी सागरोपम स्थिति को बांधने वाले के स्थिति दीर्घ है उससे कम बांधने वाले के नो स्थिति दीर्घ है । *(ध. पु. 16, पृ. 508 व 509)*

71. **अनुभाग दीर्घ** - अपने-अपने अनुभाग स्थानों को बांधने वाले के अनुभाग दीर्घ है । *(ध. पु. 16, पृ. 509)*

72. **नो अनुभाग दीर्घ** - उनसे कम बांधने वाले के नो अनुभाग दीर्घ है *(ध. पु. 16, पृ. 509)*

73. **प्रदेश दीर्घ** - सब प्रकृतियों के अपने-अपने भोग्य प्रदेशों को बांधने वाले के प्रदेश दीर्घ है । *(ध. पु. 16, पृ. 509)*

74. **नो प्रदेश दीर्घ** - उससे कम बांधने वाले के नो प्रदेश दीर्घ है । *(ध. पु. 16, पृ. 509)*

75. **प्रकृति ह्रस्व** - एक-एक प्रकृति को बाँधने वाले के प्रकृति ह्रस्व है ।

76. **नो प्रकृति ह्रस्व** - उससे अधिक बांधने वाले के नो प्रकृति ह्रस्व है ।

77. सत्त्व की अपेक्षा चार कर्मों की सत्ता वाले के प्रकृति ह्रस्व है उनसे अधिक प्रकृतियों की सत्ता वाले के नो प्रकृति ह्रस्व है । एक-एक प्रकृति ह्रस्व नहीं है । *(ध. पु. 16, पृ. 509)*

78. स्थिति ह्रस्व दो प्रकार का है - 1. मूल प्रकृति स्थिति ह्रस्व, 2. उत्तर प्रकृति स्थिति ह्रस्व ।

79. मूल प्रकृति स्थिति ह्रस्व का प्रकरण है । स्थिति ह्रस्व - ज्ञानावरणी, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयु और अन्तराय की अन्तर्मुहूर्त स्थिति को बांधने वाले के स्थिति ह्रस्व है ।

80. **नो स्थिति ह्रस्व** - इससे अधिक स्थिति को बांधने वाले के नो स्थिति ह्रस्व है ।

81. वेदनीय की बारह मुहूर्त मात्र स्थिति को बांधने वाले के स्थिति ह्रस्व है । उससे अधिक स्थिति को बांधने वाले के नो स्थिति ह्रस्व है । नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त मात्र स्थिति को बांधने वाले के स्थिति ह्रस्व है । उससे अधिक स्थिति को बांधने वाले के नो स्थिति ह्रस्व है । सत्व की अपेक्षा सब प्रकृतियों के एक स्थिति सत्कर्म सहित के स्थिति ह्रस्व है । उससे अधिक सत्कर्म वाले के नो स्थिति ह्रस्व है । *(ध. पु. 16, पृ. 510)*

82. अनुभाग ह्रस्व का प्रकरण है - अनुभाग ह्रस्व, सब प्रकृतियों के अपने-अपने जघन्य अनुभाग स्थान को बांधने वाले के अनुभाग ह्रस्व है । *(ध. पु. 16, पृ. 511)*

83. नो अनुभाग ह्रस्व - उससे अधिक अनुभाग स्थान को बांधने वाले के नो अनुभाग ह्रस्व है ।

84. प्रदेश ह्रस्व अधिकार प्राप्त है । प्रदेश ह्रस्व - सब प्रकृतियों के अपने-अपने जघन्य नोप्रदेशों को बांधने वाले के प्रदेश ह्रस्व है, सत्व की अपेक्षा क्षपित कर्मांशिक स्वरूप से आकर गुणश्रेणि निर्जरा को करके जिसने प्रदेश को सबसे जघन्य कर लिया है उसके प्रदेश ह्रस्व है, उससे अधिक के नो प्रदेश ह्रस्व है । *(ध. पु. 16, पृ. 511)*

85. 'भव संधारता' इस अनुयोग द्वार में भव तीन प्रकार का है । यथा - 1. ओध भव, 2. आदेश भव और 3. भवग्रहण भव ।

86. **ओध भव** - आठ कर्मों अथवा आठ कर्म जनित जीव के परिणाम का नाम ओध भव है । *(ध. पु. 16, पृ. 512)*

87. **आदेश भव** - चार गति नाम कर्मों या उनसे उत्पन्न जीव परिणाम को आदेश भव कहते हैं।

88. **भव ग्रहण भव** - भुज्यमान आयु को निर्जीण करके जिसके अपूर्व आयुकर्म उदय को प्राप्त हुआ है उसके प्रथम समय में उत्पन्न 'व्यञ्जन' संज्ञा वाले जीव परिणाम को अथवा पूर्व शरीर के परित्यागपूर्वक उत्तर शरीर के ग्रहण करने को भव ग्रहण भव कहा जाता है । *(ध. पु. 16, पृ. 512)*

89. इस भव सम्बन्धी आयुकर्म के द्वारा भव धारण किया जाता है, परभव सम्बन्धी आयुकर्म के द्वारा धारण नहीं किया जाता । जिस प्रदेशाग्र के द्वारा भव को धारण करता है उस प्रदेशमग्न सम्बन्धी पद मीमांसा, स्वामित्व और अल्प बहुत्व की प्ररूपणा जैसे वेदना, अनुयोग द्वार में की गई है वैसे करना चाहिये । *(ध. पु. 16, पृ. 513)*

90. 'पुद्गलात्त' इस अनयोग द्वार में पुद्गल का निक्षेप किया जाता है । नैगम नय के विषय स्वरूप से सब द्रव्य पुद्गल हैं । आत्त शब्द का अर्थ ग्रहीत है ।अतएव 'आत्ता पुद्गलाः पुद्गलात्ता' इस विग्रह के अनुसार यहाँ पुद्गलात्त पद से आत्मसात किये गये पुद्गलों का ग्रहण है वे पुद्गल छह प्रकार से आत्म सात किये जाते हैं । यहाँ ग्रहण से, परिणाम से, उपभोग से, आहार से, ममत्व से और परिग्रह से ।

91. (1) जो दण्ड आदि पुद्गल हाथ अथवा पैर से ग्रहण किये गये हैं वे ग्रहण से आत्त पुद्गल कहलाते हैं ।

(2) मिथ्यात्व आदि परिणामों के द्वारा जो पुद्गल अपने किये गये हैं वे परिणाम से आत्त पुद्गल कहे जाते हैं ।

(3) जो गन्ध और ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोग स्वरूप से अपने किये गये हैं उन्हें उपभोग से आत्तपुद्गल समझना चाहिये ।

(4) भोजन पान आदि के विधान से जो पुद्गल अपने किये गये हैं उन्हें आहार से आत्त पुद्गल कहते हैं ।

(5) जो पुद्गल अनुराग से ग्रहीत होते हैं वे ममत्व से आत्त पुद्गल हैं ।

(6) जो आत्माधीन पुद्गल है उनका नाम परिग्रह से आत्तपुद्गल है । अथवा आत्त का अर्थ आत्मा अर्थात् स्वरूप है । ***(ध. पु. 16, पृ. 515)***

92. **निधत्त** - जो प्रदेशाग्र निघत्तीकृत है अर्थात् उदय में देने के लिये शक्य नहीं है, अन्य प्रकृति में संक्रान्त करने के लिये भी शक्य नहीं है किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण के लिये शक्य हैं ऐसे प्रदेशाग्र की निधत्त संज्ञा है । ***(ध. पु. 16, पृ. 516)***

93. निकाचित अनिकाचित अनुयोग द्वारा प्ररूपणा - निकाचित अनिकाचित अनुयोग द्वार में 1. प्रकृति निकाचित, 2. स्थिति निकाचित, 3. अनुभाग निकाचित, 4. प्रदेश निकाचित हैं । ***(ध. पु. 16, पृ. 517)***

94. (1) **निकाचित** - जो प्रदेशाग्र अपकर्षण करने के लिये शक्य नहीं है, उत्कर्ष के लिये शक्य नहीं है । अन्य प्रकृति में संक्रान्त करने के लिये भी शक्य नहीं है तथा उदय में देने के लिये भी शक्य नहीं हैं उस प्रदेशाग्र को निकाचित कहते हैं ।

(2) **अनिकाचित** - अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट हुए जीव के सब कर्म अनिकाचित हैं । उसके नीचे निकाचित भी है अनिकाचित भी है । ***(ध. पु. 16, पृ. 17)***

95. उपशान्त - निधत्त और निकाचित का सन्निकर्ष इस प्रकार है - अप्रशस्त उपशामना द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशम को प्राप्त है वह न निधत्त है और न वह निकाचित भी है । जो प्रदेशाग्र निधत्त है वह उपशान्त और निकाचित नहीं है । जो प्रदेशाग्र निकाचित हैं वह उपशान्त और निधत्त नहीं है । ***(ध. पु. 16, पृ. 516)***

96. ममत्व, परिभोग, परिग्रहण तथा परिणाम रूप से चार प्रकार के पुद्गल ग्रहण होते हैं तथा आहार और ग्रहण में चार प्रकार के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं । ***(ध. पु. 16, पृ. 575)***

97. शैलेश्य भाव को प्राप्त हुआ हुआ कि कर्मों से रहित होकर सिद्धि को प्राप्त होता है । ***(ध. पु. 16, पृ. 579)***

// इति शुभम् //